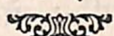
॥ श्रीः ॥

गोकुलदास संस्कृत ग्रन्थमाला

७६



श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यविरचितः

ध्वन्यालोकः

[ध्वन्यालोक तथा अभिनवगुप्तरचित 'लोचन'-दोनों के हिन्दी अनुवाद एवं 'आशुबोधिनी' नामक समीक्षात्मक विस्तृत हिन्दी व्याख्या और भूमिका सहित]

प्रथमउद्योतः

व्याख्याकार तथा भूमिका लेखक

आचार्य डॉ० सुरेन्द्रदेव स्नातक, शास्त्री

शिरोमणि, बी० ए० एम० एस०

एम० ए० [संस्कृत तथा हिन्दी], पी-एच० डी०

अवकाश प्राप्त–प्रोफेसर तथा अध्यक्ष

स्नातकोत्तर संस्कृत-विभाग

श्री मु० म० टाउन स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बलिया



चौखम्भा ओरियन्टालिया

प्राच्यविद्या तथा दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशक एवं वितरक

वाराणसी दिल्ली

प्रकाशक

चौखम्भा ओरियन्टालिया

पो० आ० चौखम्भा, पोस्ट बाक्स नं० १०३२

गोकुल भवन, के. ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लेन

मैदागिन, गोलघर

वाराणसी–२२१००१

टेलीफोन : ६३३५४ टेलीग्राम "गोकुलोत्सव"

शाखा—बंगलो रोड, ९ यू० बी० जवाहर नगर

(करोड़ीमल कालेज के पास)

दिल्ली–११०००७ फोन : २९११६१७

प्रथम संस्करण १९८६

मूल्य रु० २५–००

मुद्रक—श्रीगोकुल मुद्रणालय, गोपाल मन्दिर लेन, वाराणसी

GOKULDAS SANSKRIT SERIES
NO. 76

DHVANYĀLOKA

OF

ĀNANDAVARDHANĀCĀRYA

With

The 'Locana' Sanskrit Commentary

OF

ŚRĪ ABHINAVAGUPTA

and

The 'Āśubodhinī' Hindi Translation and Explanation of Both the Texts

By

Acharya Dr. SURENDRA DEO SNATAK
Śāstrī, Śiromaṇi, B. A. M. S.
M. A. [Hindi and Sanskrit], Ph. D.
Retd. Professor and Head of the Deptt. of Sanskrit,
S. M. M. Town P. G. College, BALLIA

CHAUKHAMBHA ORIENTALIA
A House of Oriental and Antiquarian Books
VARANASI DELHI

Publishers

CHAUKHAMBHA ORIENTALIA

Post Box No. 1032

VARANASI–221001 (India)

Telephone : 63354 **Telegram : Gokulotsav**

Branch—Bungalow Road, 9 U. B. Jawahar Nagar

(Near Kirorimal College)

DELHI–110007 Phone : 2911617

Printers—Srigokul Mudranalaya, Gopal Mandir Lane, Varanasi

प्राक्कथन

अपने स्नातकोत्तर महाविद्यालय से अवकाश ग्रहण करने से पूर्व तक एम० ए० [अन्तिमवर्ष] की कक्षाओं को मैं अन्य पाठ्य विषयों के साथ ही साथ 'ध्वन्यालोक' का भी अध्यापन निरन्तर करता रहा। यह बात प्रकाशक महोदय को भलीभाँति विदित थी। वे स्वयं ध्वन्यालोक का प्रकाशन करने में दत्तचित्त थे। अतएव उन्होंने मुझसे अनुरोध किया कि 'आपको आचार्य अभिनवगुप्तलिखित लोचनटीकायुक्त ध्वन्यालोक के अध्यापन का अनेकवर्षों का अनुभव है, एतद्विषयक परीक्षा सम्बन्धी अनुभव भी आपको है ही, छात्रों की कठिनाइयों से भी आप भलीभाँति परिचित हैं, अतएव आपसदृश कोई अन्य व्यक्ति सलोचन ध्वन्यालोक की हिन्दी व्याख्या लिखने हेतु बड़ी कठिनता से ही उपलब्ध हो सकेगा। आप यदि लोचन-टीका सहित सम्पूर्ण ध्वन्यालोक का हिन्दी अनुवाद तथा उस पर एक समीक्षात्मक हिन्दी व्याख्या न कर सकें तो कम से कम उसका प्रथम उद्योत तो लिख देने का कष्ट अवश्य करें। बाद में आप लोचन टीका को ग्रन्थ में न देकर उसमें वर्णित विषय से युक्त सम्पूर्ण ध्वन्यालोक का समीक्षात्मक हिन्दी व्याख्या लिख देने का कष्ट अवश्य कर दें। आपके इस कार्य के लिए मैं अत्यन्त आभारी होऊँगा।"

प्रकाशक महोदय के उक्त अनुरोध को आग्रहवश मैंने स्वीकार कर लिया और तदनुसार पहले मैंने केवल प्रथम उद्योत पर ही कार्य किया। ध्वन्यालोक तथा लोचन दोनों का हिन्दी अनुवाद तथा साथ ही साथ दोनों की आलोचनात्मक विस्तृत व्याख्या सरल एवं सुबोध भाषा में लिखना प्रारम्भ किया। इस कार्य में समय तो अवश्य लगा किन्तु भगवान् की असीम अनुकम्पा के परिणामस्वरूप प्रथम उद्योत का कार्य निर्विघ्न समाप्त हो गया।

इससे सम्बन्धित संक्षिप्त भूमिका भी लिख दी गई।

अब उक्त पुस्तक पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। मुझे अपने विद्वद्बन्धुओं पर पूर्ण विश्वास है कि वे पुस्तक की 'आशुबोधिनी' व्याख्या में विद्यमान न्यूनताओं से

Publishers

CHAUKHAMBHA ORIENTALIA

Post Box No. 1032

VARANASI-221001 (India)

Telephone : 63354 Telegram : Gokulotsav

Branch—Bungalow Road, 9 U. B. Jawahar Nagar

(Near Kirorimal College)

DELHI-110007 Phone : 2911617

Printers—**Srigokul Mudranalaya, Gopal Mandir Lane, Varanasi**

प्राक्कथन

अपने स्नातकोत्तर महाविद्यालय से अवकाश ग्रहण करने से पूर्व तक एम० ए० [अन्तिमवर्ष] की कक्षाओं को मैं अन्य पाठ्य विषयों के साथ ही साथ 'ध्वन्यालोक' का भी अध्यापन निरन्तर करता रहा। यह बात प्रकाशक महोदय को भलीभाँति विदित थी। वे स्वयं ध्वन्यालोक का प्रकाशन करने में दत्तचित्त थे। अतएव उन्होंने मुझसे अनुरोध किया कि 'आपको आचार्य अभिनवगुप्तलिखित लोचनटीकायुक्त ध्वन्यालोक के अध्यापन का अनेकवर्षों का अनुभव है, एतद्विषयक परीक्षा सम्बन्धी अनुभव भी आपको है ही, छात्रों की कठिनाइयों से भी आप भलोभाँति परिचित हैं, अतएव आपसदृश कोई अन्य व्यक्ति सलोचन ध्वन्यालोक की हिन्दी व्याख्या लिखने हेतु बड़ी कठिनता से ही उपलब्ध हो सकेगा। आप यदि लोचन-टीका सहित सम्पूर्ण ध्वन्यालोक का हिन्दी अनुवाद तथा उस पर एक समीक्षात्मक हिन्दी व्याख्या न कर सकें तो कम से कम उसका प्रथम उद्योत तो लिख देने का कष्ट अवश्य करें। बाद में आप लोचन टीका को ग्रन्थ में न देकर उसमें वर्णित विषय से युक्त सम्पूर्ण ध्वन्यालोक का समीक्षात्मक हिन्दी व्याख्या लिख देने का कष्ट अवश्य कर दें। आपके इस कार्य के लिए मैं अत्यन्त आभारी होऊँगा।"

प्रकाशक महोदय के उक्त अनुरोध को आग्रहवश मैंने स्वीकार कर लिया और तदनुसार पहले मैंने केवल प्रथम उद्योत पर ही कार्य किया। ध्वन्यालोक तथा लोचन दोनों का हिन्दी अनुवाद तथा साथ ही साथ दोनों की आलोचनात्मक विस्तृत व्याख्या सरल एवं सुबोध भाषा में लिखना प्रारम्भ किया। इस कार्य में समय तो अवश्य लगा किन्तु भगवान् की असीम अनुकम्पा के परिणामस्वरूप प्रथम उद्योत का कार्य निर्विघ्न समाप्त हो गया।

इससे सम्बन्धित संक्षिप्त भूमिका भी लिख दी गई।

अब उक्त पुस्तक पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। मुझे अपने विद्वद्बन्धुओं पर पूर्ण विश्वास है कि वे पुस्तक की 'आशुबोधिनी' व्याख्या में विद्यमान न्यूनताओं से

मुझे अवगत कराने का कष्ट अवश्य करेंगे ताकि उन न्यूनताओं का परिष्कार आगामी संस्करण में किया जा सके। साथ ही मेरी उनसे यह भी प्रार्थना है कि वे इस पुस्तक से सम्बन्धित अपने अमूल्य सुझावों आदि से भी हमें सूचित करने का कष्ट करें। उनके द्वारा उपलब्ध प्रेरणाओं तथा सुझावों आदि के लिए मैं उनका चिर ऋणी रहूँगा।

मुझे आशा है कि प्रस्तुत पुस्तक एम० ए० के छात्रों के लिए पूर्णतया उपयोगी तथा लाभप्रद सिद्ध होगी तथा वे इसका अध्ययन कर अपने लक्ष्य की सिद्धि कर सकेंगे, ऐसा मुझे विश्वास है।

इस पुस्तक के लेखनकार्य में मुझे अपनी अद्वितीय प्रतिभासम्पन्न आयुष्मती आत्मजा प्रतिभा एम० ए० [संस्कृत] से बहुत-कुछ सहयोग प्राप्त हुआ है। उसकी कुशाग्रबुद्धि ही मेरा सम्बल बनी रही। मुझे आशा है कि भविष्य में भी उसका अमूल्य सहयोग मुझे इसी प्रकार उपलब्ध होता रहेगा।

विनीत—

सुरेन्द्रदेव शास्त्री

गंगा दशहरा
२९।५।८५

भूमिका

ध्वन्यालोक ग्रन्थकार

'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ की रचना के बारे में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। प्रस्तुत ग्रन्थ के तीन भाग होना संभव है–(१) कारिका, (२) वृत्ति तथा (३) उदाहरण। इन तीनों में से वृत्ति की रचना उदाहरणों के संग्रह को तो निस्सन्देह रूप से आचार्य आनन्दवर्धन को ही रचना माना जाता है। हाँ, कारिकाओं की रचना के सम्बन्ध में कुछ विवाद अवश्य उठ खड़ा हुआ है। कुछ विद्वान यह स्वीकार करते हैं कि कारिकायें आनन्दवर्धनाचार्य की ही रचनाएँ हैं और कारिकाकार तथा वृत्तिकार एक ही हैं। कुछ विद्वानों का यह कहना हैं कि कारिकाओं का रचयिता आनन्दवर्धनाचार्य से पूर्व कोई हुआ होगा। बाद में आनन्दवर्धन वे उन्हीं कारिकाओं पर वृत्ति भाग की सोदाहरण रचना की होगी।

संस्कृत की चली आती हुई परिपाटी के अनुसार कारिका तथा वृत्ति दोनों की रचना आनन्दवर्धन द्वारा ही की गई है। इसी के आधार पर यह भी कहा जा सकता है 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ एक ही है, ध्वनि तथा आलोक पृथक्-पृथक् नहीं उन दोनों का रचनाकार भी एक ही है। 'ध्वनि' काल के अनन्तर हुए प्रायः सभी आचार्यों ने आनन्दवर्धन को ही ध्वनिकार तथा वृत्तिकार दोनों ही रूपों में स्वीकार किया है। इन आचार्यों में प्रमुख हैं प्रतिहारेन्दुराज, कुन्तक, महिमभट्ट, क्षेमेन्द्र, मम्मट, राजशेखर आदि। इन सभी के वाक्य ध्वनिकार तथा वृत्तिकार दोनों का एक ही मानते हैं। और वे हैं 'आचार्य आनन्दवर्धन'।

पृथकता-विषयक शंका का आधार आचार्य अभिनवगुप्त कृत 'ध्वन्यालोक' की लोचन नामक टीका ही है। उन्होने अपनी इस टीका के अनेक स्थलों पर कारिकाकार और वृत्तिकार का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है। इसी दृष्टि से उन्होंने कारिकाकार के लिए मूलग्रन्थकृत' तथा वृत्तिकार के लिए 'ग्रन्थकृत' शब्दों का प्रयोग किया है। इन्हीं को आधार मानकर डा० बूह्लर और उनके अनन्तर प्रो० जैकोबी, प्रो० कीथ, डा० एस० के० डे० तथा डा० पी० वी० काणे आदि विद्वान

ने कारिकाकार तथा वृत्तिकार को पृथक्-पृथक् रूप में स्वीकार किया है। इन सभी का अनुमान है कि कारिकाकार का नाम 'सहृदय' था। इसी बात को ध्यान में रखते हुए लोचनकार ने 'ध्वन्यालोक' को कई स्थानों पर 'सहृदयालोक' भी लिखा है। डा० काणे ने भी प्रथम कारिका में आये हुए 'सहृदयमनःप्रीतये' इस अंश की वृत्ति में 'सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठाम्' आदि शब्दों के आधार पर उपर्युक्त मत को ही पुष्ट किया है।

इस मत में विश्वास रखनेवाले विद्वानों का यह भी कहना है कि कारिकाकार ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण नहीं किया। वृत्तिकार ने 'स्वेच्छा केसरिणः' इत्यादि श्लोक द्वारा मङ्गलाचरण किया है। यदि ये दोनों पृथक्-पृथक् न होते तो कारिकाकार की प्रथम कारिका से पूर्व मङ्गलाचरण होना चाहिए था।

परन्तु उनका यह कथन भी नितान्त अनुचित है, क्योंकि कारिका भाग और वृत्तिभाग—दोनों के ही प्रारम्भ में 'स्वेच्छाकेसरिणः' यह एक ही मंगलाचरण उपलब्ध होता है। यदि दोनों व्यक्ति पृथक्-पृथक् होते तो दो मंगलाचरण होते। अतएव मंगलाचरण का एक होना भी इसी बात का द्योतक है कि कारिकाकार तथा वृत्तिकार दोनों एकही थे।

'सहृदय' पद के आधार पर जो लोग इन दोनों को पृथक्-पृथक् स्वीकार करते हैं उनका भी कथन पूर्णतया अनुचित ही है। क्योंकि प्रथम कारिका में आये हुए 'सहृदयमनःप्रीतये' तथा वृत्तिभाग के अन्तिम श्लोक में आये हुए 'सहृदयोदयलाभहेतोः' में सहृदय पद किसी व्यक्तिविशेष का वाचक न होकर 'काव्यतत्वज्ञों' का ही बोधक है। प्रारम्भ तथा उपसंहार का यह सामञ्जस्य कारिकाकार तथा वृत्तिकार दोनों के एक ही होने का सूचक है। अतएव जो आलोचक 'सहृदय' को कारिकाकार मानते हैं वे न्याय के मार्ग पर नहीं चल रहे हैं। क्योंकि यदि 'सहृदय' स्वयं ही कारिकाकार रहे होते तो वे स्वयं अपने लिए ही 'सहृदयमनः-प्रीतये' किस भाँति लिख सकते थे।

मंगलाचरण के बारे में साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों में भी भिन्न-भिन्न परम्पराओं का दर्शन उपलब्ध होता है। आचार्य वामन ने सूत्रों के आरम्भ में मंगलाचरण नहीं किया, इसके विपरीत वृत्ति के आरम्भ में किया है। आचार्य मम्मट ने कारिकाओं के आरम्भ में मङ्गलाचरण सम्बन्धी कारिका लिखी है किन्तु वृत्ति के

प्रारम्भ में नहीं लिखो है। 'अलङ्कारसर्वस्व' के सूत्रों के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण नहीं है, वृत्ति के प्रारम्भ में हैं। उद्भट ने अपने अलङ्कारसम्बन्धी ग्रन्थ 'काव्यालंकार' में मङ्गल किया ही नहीं। इस विवरण से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में ग्रन्थ के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण अवश्य किया जाय ऐसा कोई अनिवार्य नियम नहीं था। अतएव यदि आचार्य आनन्दवर्धन ने भी कारिकाओं के प्रारम्भ में इसी अननिवार्यता के कारण मङ्गलाचरण न किया हो, यह भी संभव हो सकता है। अथवा जिस भाँति पाणिनि ने अपने प्रथम सूत्र में 'वृद्धिः' पद का प्रयोग कर मङ्गलाचरण कर लिया था उसी भाँति कारिकाकार द्वारा प्रथम कारिका के प्रारम्भ में लिखा गया 'काव्यस्यात्मा' यह पद भी मङ्गलवाचक हो गया।

संस्कृत के अनेक साहित्यशास्त्रीय आचार्यों ने कारिका तथा वृत्ति की शैली को अपनाया है। उन्होंने पहले सूत्ररूप में सिद्धान्तसम्बन्धी कारिका को लिखा है और तत्पश्चात् उसपर वृत्ति लिखकर उसकी व्याख्या की है। इसी परिपाटी को आचार्य आनन्दवर्धन ने भी अपनाया होगा। अतएव इस दृष्टि से भी दोनों का अभेद ही सिद्ध होता है।

इसके अतिरिक्त आचार्य अभिनवगुप्त ने स्वयं ही 'अभिनवभारती' में अनेक स्थलों पर दोनों के अभेद को स्वीकार किया है। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सम औसपेक्ट्स ऑफ लिटरैरी क्रिटिसिज्म इन संस्कृत' में डा० संकरन् ने लोचनकार की 'लोचन' नामक टीका से ही कुछ उद्धरणों को उद्धृत कर उपर्युक्त भेद के सिद्धान्त का खण्डन किया है तथा संस्कृत की चली आती हुई प्राचीन परम्परा को ही मान्यता प्रदान की है।

अतएव निष्कर्षरूप में यह कहा जाना सर्वथा उचित ही होगा कि आचार्य आनन्दवर्धन ही कारिकाकार हैं और वृत्तिकार भी। तथा 'ध्वन्यालोक' एक ही ग्रन्थ है।

आचार्य आनन्दवर्धन का काल

'राजतरङ्गिणी' में लिखा है कि वे अवन्तिवर्मा नामक कश्मीर नरेश के राज्य के सुप्रसिद्ध कवियों में से एक थेः—

'मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः ।
प्रथां रत्नाकरश्चागात्साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः ।।

बुह्लर तथा जैकोबी के अनुसार महाराज अवन्तिवर्मा का राज्यकाल ईसा सन् ८५५ से ८८३ ई० तक था। कुछ अन्य सूत्रों द्वारा इस कथन की पुष्टि भी हो जाती है। एक स्थान पर आनन्दवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक के आचार्य उद्भट के मत का उल्लेख किया है जिसका समय ८०० ई० के लगभग का है। एक अन्य स्थल पर राजशेखर द्वारा आचार्य आनन्दवर्धन की प्रशंसा की गई है:—

ध्वनिनाऽतिगंभीरेण काव्यतत्वनिवेशिना ।
आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः ।।

[जल्हण की 'सूक्तिमुक्तावली'–राजशेखर के नाम से उद्धृत]

राजशेखर का समय ९०० ई० के लगभग माना गया है। अतएव आनन्दवर्धन का समय ईसा की नवम शताब्दी का मध्यभाग अर्थात् ९५० ई० के आसपास का माना जा सकता है।

जीवन वृत्तान्त

आनन्दवर्धन के जीवन के सम्बन्ध में कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है। 'देवीशतक' के १०१वें श्लोक से केवल इतना ही ज्ञात होता है कि इनके पिता का नाम 'नोण' अथवा 'नोणोपाध्याय था। ध्वन्यालोक की एक पाण्डुलिपि में तृतीय उद्योत के अन्त में आनन्दवर्धन ने अपने को नोणसुत कहा है।

आनन्दवर्धन बहुमुखी प्रतिभा के धनी

आचार्य आनन्दवर्धन की प्रतिभा बहुमुखी थी। वे काव्यशास्त्र के महान् ज्ञाता तथा आचार्य थे। इसके अतिरिक्त वे एक सुयोग्य कवि तथा दार्शनिक भी थे।

उनकी रचनायें

उनके द्वारा तीन काव्य लिखे गये थे–(१) 'अर्जुनचरित', (२) 'विषय-बाणलीला, (३) देवीशतक। इनके प्रथम दो काव्यों का उल्लेख इन्होंने स्वयं ही ध्वन्यालोक में किया है। 'अर्जुनचरित' का उल्लेख तृतीय उद्योत[1] में तथा

---

१. एतच्च मदीयेऽर्जुनचरितेऽर्जुनस्य पातालावतरणप्रसङ्गे वैशद्येन प्रदर्शितम् ।
[ध्वन्या० ३।२५ की वृत्ति में]

'विषमबाणलीला' का द्वितीय उद्योत[1] में । देवीशतक' वह काव्य है जिसे भगवती दुर्गा की आराधना में लिखा गया है । 'तत्वालोक' नामक दर्शन ग्रन्थ भी इन्हीं की कृति है । 'ध्वन्यालोक' उनकी श्रेष्ठतम रचना है ।

ध्वन्यालोक

भारतीय साहित्यशास्त्र का व्यवस्थित रूप आचार्य 'भरत' के नाट्यशास्त्र से प्रारम्भ होता है । आचार्य भरत से लेकर आनन्दवर्धन के समय तक अनेक आचार्य हुए जिनमें भामह, दण्डी, उद्भट, वामन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं । जिनके द्वारा साहित्यिक आलोचना से सम्बन्धित सिद्धान्तों का सृजन किया गया । आनन्दवर्धन द्वारा इस सम्बन्ध में एक नवीन दिशा को जन्म दिया गया । भामह आदि आचार्यों ने काव्य के शरीर को शब्द-अर्थ के रूप में प्रतिपादित कर इनको अलंकृत करने वाले अलंकारों, गुणों, वृत्तियों तथा रीति को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया । यह काव्य का स्थल-शरीर ही था तथा उसी को अलंकृत करने का प्रयास किया गया । दूसरे शब्दों में इसे कलापक्ष की संज्ञा भी दी जा सकती है । काव्य के आन्तरिक पक्ष अथवा आत्मभूत तत्त्व की ओर विशेषरूप से किसी आचार्य का ध्यान नहीं गया । दूसरे शब्दों में, इसे 'भावपक्ष' की संज्ञा दी जा सकती है ।

आचार्य आनन्दवर्धन ने इस अभाव की पूर्ति की । इन्होंने बतलाया कि काव्य में दो प्रकार के अर्थ हुआ करते हैं—(१) वाच्य-अर्थ और (२) प्रतीयमान अर्थ । वाच्य-अर्थ तो अलंकार आदि के द्वारा प्रसिद्धि को प्राप्त हो चुका है । प्रतीयमान अर्थ महाकवियों की वाणी में एक अपूर्व सौन्दर्य का आधान करता हुआ उसी भाँति रहा करता है कि जिस भाँति स्त्रियों में लावण्य रहा करता है । यह प्रतीयमान अर्थ ही वस्तुतः काव्य की आत्मा है । जिस काव्य में यह प्रतीयमान

---

१. यथा च ममैव विषमबाणलीलायाम्—

'ताला जाअन्ति गुणा जाला दे सहिअएहिं घेप्पन्ति ।
रइकिरणानुग्गहिआइं होन्ति कमलाइं कमलाइं ।।

[ध्वन्या० २–१ की वृत्ति में], इसी प्रकार २।२७ की वृत्ति में ।

Publishers

CHAUKHAMBHA ORIENTALIA

Post Box No. 1032

VARANASI-221001 (India)

Telephone : 63354 **Telegram : Gokulotsav**

Branch—Bungalow Road, 9 U. B. Jawahar Nagar

(Near Kirorimal College)

DELHI-110007 Phone : 2911617

अनुवाद चन्द्रिका

डॉ० यदुनन्दन मिश्र

१९८५

मूल्य रु० ३५-००

परिभाषेन्दुशेखर

नागेशभट्ट विरचितः

व्या०—श्रीनारायण मिश्र

१९८१

मूल्य रु० ३५-००

Printers—Srigokul Mudranalaya, Gopal Mandir Lane, Varanasi

प्राक्कथन

अपने स्नातकोत्तर महाविद्यालय से अवकाश ग्रहण करने से पूर्व तक एम० ए० [अन्तिमवर्ष] की कक्षाओं को मैं अन्य पाठ्य विषयों के साथ ही साथ 'ध्वन्यालोक' का भी अध्यापन निरन्तर करता रहा। यह बात प्रकाशक महोदय को भलीभाँति विदित थी। वे स्वयं ध्वन्यालोक का प्रकाशन करने में दत्तचित्त थे। अतएव उन्होंने मुझसे अनुरोध दिया कि 'आपको आचार्य अभिनवगुप्तलिखित लोचनटीकायुक्त ध्वन्यालोक के अध्यापन का अनेकवर्षों का अनुभव है, एतद्विषयक परीक्षा सम्बन्धी अनुभव भी आपको है ही, छात्रों की कठिनाइयों से भी आप भलीभाँति परिचित हैं, अतएव आपसदृश कोई अन्य व्यक्ति सलोचन ध्वन्यालोक की हिन्दी व्याख्या लिखने हेतु बड़ी कठिनता से ही उपलब्ध हो सकेगा। आप यदि लोचन-टीका सहित सम्पूर्ण ध्वन्यालोक का हिन्दी अनुवाद तथा उस पर एक समीक्षात्मक हिन्दी व्याख्या न कर सकें तो कम से कम उसका प्रथम उद्योत तो लिख देने का कष्ट अवश्य करें। बाद में आप लोचन टीका को ग्रन्थ में न देकर उसमें वर्णित विषय से युक्त सम्पूर्ण ध्वन्यालोक का समीक्षात्मक हिन्दी व्याख्या लिख देने का कष्ट अवश्य कर दें। आपके इस कार्य के लिए मैं अत्यन्त आभारी होऊँगा।"

प्रकाशक महोदय के उक्त अनुरोध को आग्रहवश मैंने स्वीकार कर लिया और तदनुसार पहले मैंने केवल प्रथम उद्योत पर ही कार्य किया। ध्वन्यालोक तथा लोचन दोनों का हिन्दी अनुवाद तथा साथ ही साथ दोनों की आलोचनात्मक विस्तृत व्याख्या सरल एवं सुबोध भाषा में लिखना प्रारम्भ किया। इस कार्य में समय तो अवश्य लगा किन्तु भगवान् की असीम अनुकम्पा के परिणामस्वरूप प्रथम उद्योत का कार्य निर्विघ्न समाप्त हो गया।

इससे सम्बन्धित संक्षिप्त भूमिका भी लिख दी गई।

अब उक्त पुस्तक पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। मुझे अपने विद्वद्बन्धुओं पर पूर्ण विश्वास है कि वे पुस्तक की 'आशुबोधिनी' व्याख्या में विद्यमान न्यूनताओं से

मुझे अवगत कराने का कष्ट अवश्य करेंगे ताकि उन न्यूनताओं का परिष्कार आगामी संस्करण में किया जा सके। साथ ही मेरी उनसे यह भी प्रार्थना है कि वे इस पुस्तक से सम्बन्धित अपने अमूल्य सुझावों आदि से भी हमें सूचित करने का कष्ट करें। उनके द्वारा उपलब्ध प्रेरणाओं तथा सुझावों आदि के लिए मैं उनका चिर ऋणी रहूँगा।

मुझे आशा है कि प्रस्तुत पुस्तक एम० ए० के छात्रों के लिए पूर्णतया उपयोगी तथा लाभप्रद सिद्ध होगी तथा वे इसका अध्ययन कर अपने लक्ष्य की सिद्धि कर सकेंगे, ऐसा मुझे विश्वास है।

इस पुस्तक के लेखनकार्य में मुझे अपनी अद्वितीय प्रतिभासम्पन्न आयुष्मती आत्मजा प्रतिभा एम० ए० [संस्कृत] से बहुत-कुछ सहयोग प्राप्त हुआ है। उसकी कुशाग्रबुद्धि ही मेरा सम्बल बनी रही। मुझे आशा है कि भविष्य में भी उसका अमूल्य सहयोग मुझे इसी प्रकार उपलब्ध होता रहेगा।

विनीत—

सुरेन्द्रदेव शास्त्री

गंगा दशहरा
२९।५।८५

●

भूमिका

ध्वन्यालोक ग्रन्थकार

'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ की रचना के बारे में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। प्रस्तुत ग्रन्थ के तीन भाग होना संभव है–(१) कारिका, (२) वृत्ति तथा (३) उदाहरण। इन तीनों में से वृत्ति की रचना उदाहरणों के संग्रह को तो निस्सन्देह रूप से आचार्य आनन्दवर्धन को ही रचना माना जाता है। हाँ, कारिकाओं की रचना के सम्बन्ध में कुछ विवाद अवश्य उठ खड़ा हुआ है। कुछ विद्वान यह स्वीकार करते हैं कि कारिकायें आनन्दवर्धनाचार्य को ही रचनाएँ हैं और कारिकाकार तथा वृत्तिकार एक ही हैं। कुछ विद्वानों का यह कहना हैं कि कारिकाओं का रचयिता आनन्दवर्धनाचार्य से पूर्व कोई हुआ होगा। बाद में आनन्दवर्धन वे उन्ही कारिकाओं पर वृत्ति भाग की सोदाहरण रचना की होगी।

संस्कृत की चली आती हुई परिपाटी के अनुसार कारिका तथा वृत्ति दोनों की रचना आनन्दवर्धन द्वारा ही की गई है। इसी के आधार पर यह भी कहा जा सकता है 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ एक ही है, ध्वनि तथा आलोक पृथक्-पृथक् नहीं उन दोनों का रचनाकार भी एक ही है। 'ध्वनि' काल के अनन्तर हुए प्रायः सभी आचार्यों ने आनन्दवर्धन को ही ध्वनिकार तथा वृत्तिकार दोनों ही रूपों में स्वीकार किया है। इन आचार्यों में प्रमुख है प्रतिहारेन्दुराज, कुन्तक, महिमभट्ट, क्षेमेन्द्र, मम्मट, राजशेखर आदि। इन सभी के वाक्य ध्वनिकार तथा वृत्तिकार दोनों का एक ही मानते हैं। और वे हैं 'आचार्य आनन्दवर्धन'।

पृथकता-विषयक शंका का आधार आचार्य अभिनवगुप्त कृत 'ध्वन्यालोक' की लोचन नामक टीका ही है। उन्होने अपनी इस टीका के अनेक स्थलों पर कारिकाकार और वृत्तिकार का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है। इसी दृष्टि से उन्होंने कारिकाकार के लिए मूलग्रन्थकृत' तथा वृत्तिकार के लिए 'ग्रन्थकृत' शब्दों का प्रयोग किया है। इन्ही को आधार मानकर डा० बुह्लर और उनके अनन्तर प्रो० जैकोबी, प्रो० कीथ, डा० एस० के० डे० तथा डा० पी० बी० काणे आदि विद्वानों

ने कारिकाकार तथा वृत्तिकार को पृथक्-पृथक् रूप में स्वीकार किया है। इन सभी का अनुमान है कि कारिकाकार का नाम 'सहृदय' था। इसी बात को ध्यान में रखते हुए लोचनकार ने 'ध्वन्यालोक' को कई स्थानों पर 'सहृदयालोक' भी लिखा है। डा० काणे ने भी प्रथम कारिका में आये हुए 'सहृदयमनःप्रीतये' इस अंश की वृत्ति में 'सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठाम्' आदि शब्दों के आधार पर उपर्युक्त मत को ही पुष्ट किया है।

इस मत में विश्वास रखनेवाले विद्वानों का यह भी कहना है कि कारिकाकार ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण नहीं किया। वृत्तिकार ने 'स्वेच्छा केसरिणः' इत्यादि श्लोक द्वारा मङ्गलाचरण किया है। यदि ये दोनों पृथक्-पृथक् न होते तो कारिकाकार की प्रथम कारिका से पूर्व मङ्गलाचरण होना चाहिए था।

परन्तु उनका यह कथन भी नितान्त अनुचित है, क्योंकि कारिका भाग और वृत्तिभाग—दोनों के ही प्रारम्भ में 'स्वेच्छाकेसरिणः' यह एक ही मंगलाचरण उपलब्ध होता है। यदि दोनों व्यक्ति पृथक्-पृथक् होते तो दो मंगलाचरण होते। अतएव मंगलाचरण का एक होना भी इसी बात का द्योतक है कि कारिकाकार तथा वृत्तिकार दोनों एकही थे।

'सहृदय' पद के आधार पर जो लोग इन दोनों को पृथक्-पृथक् स्वीकार करते हैं उनका भी कथन पूर्णतया अनुचित ही है। क्योंकि प्रथम कारिका में आये हुए 'सहृदयमनःप्रीतये' तथा वृत्तिभाग के अन्तिम श्लोक में आये हुए 'सहृदयोदयलाभहेतोः' में सहृदय पद किसी व्यक्तिविशेष का वाचक न होकर 'काव्यतत्वज्ञों' का ही बोधक है। प्रारम्भ तथा उपसंहार का यह सामञ्जस्य कारिकाकार तथा वृत्तिकार दोनों के एक ही होने का सूचक है। अतएव जो आलोचक 'सहृदय' को कारिकाकार मानते हैं वे न्याय के मार्ग पर नहीं चल रहे हैं। क्योंकि यदि 'सहृदय' स्वयं ही कारिकाकार रहे होते तो वे स्वयं अपने लिए ही 'सहृदयमनः-प्रीतये' किस भाँति लिख सकते थे।

मंगलाचरण के बारे में साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों में भी भिन्न-भिन्न परम्पराओं का दर्शन उपलब्ध होता है। आचार्य वामन ने सूत्रों के आरम्भ में मंगलाचरण नहीं किया, इसके विपरीत वृत्ति के आरम्भ में किया है। आचार्य मम्मट ने कारिकाओं के आरम्भ में मङ्गलाचरण सम्बन्धी कारिका लिखी है किन्तु वृत्ति के

प्रारम्भ में नहीं लिखी है। 'अलङ्कारसर्वस्व' के सूत्रों के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण नहीं है, वृत्ति के प्रारम्भ में हैं। उद्भट ने अपने अलङ्कारसम्बन्धी ग्रन्थ 'काव्यालंकार' में मङ्गल किया ही नहीं। इस विवरण से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में ग्रन्थ के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण अवश्य किया जाय ऐसा कोई अनिवार्य नियम नहीं था। अतएव यदि आचार्य आनन्दवर्धन ने भी कारिकाओं के प्रारम्भ में इसी अननिवार्यता के कारण मङ्गलाचरण न किया हो, यह भी संभव हो सकता है। अथवा जिस भाँति पाणिनि ने अपने प्रथम सूत्र में 'वृद्धिः' पद का प्रयोग कर मङ्गलाचरण कर लिया था उसी भाँति कारिकाकार द्वारा प्रथम कारिका के प्रारम्भ में लिखा गया 'काव्यस्यात्मा' यह पद भी मङ्गलवाचक हो गया।

संस्कृत के अनेक साहित्यशास्त्रीय आचार्यों ने कारिका तथा वृत्ति की शैली को अपनाया है। उन्होंने पहले सूत्ररूप में सिद्धान्तसम्बन्धी कारिका को लिखा है और तत्पश्चात् उसपर वृति लिखकर उसकी व्याख्या की है। इसी परिपाटी को आचार्य आनन्दवर्धन ने भी अपनाया होगा। अतएव इस दृष्टि से भी दोनों का अभेद ही सिद्ध होता है।

इसके अतिरिक्त आचार्य अभिनवगुप्त ने स्वयं ही 'अभिनवभारती' में अनेक स्थलों पर दोनों के अभेद को स्वीकार किया है। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सम औसपेक्ट्स ऑफ लिटरैरी क्रिटिसिज्म इन संस्कृत' में डा० संकरन् ने लोचनकार की 'लोचन' नामक टीका से ही कुछ उद्धरणों को उद्धृत कर उपर्युक्त भेद के सिद्धान्त का खण्डन किया है तथा संस्कृत की चली आती हुई प्राचीन परम्परा को ही मान्यता प्रदान की है।

अतएव निष्कर्षरूप में यह कहा जाना सर्वथा उचित ही होगा कि आचार्य आनन्दवर्धन ही कारिकाकार हैं और वृतिकार भी। तथा 'ध्वन्यालोक' एक ही ग्रन्थ है।

आचार्य आनन्दवर्धन का काल

'राजतरङ्गिणी' में लिखा है कि वे अवन्तिवर्मा नामक कश्मीर नरेश के राज्य के सुप्रसिद्ध कवियों में से एक थेः—

'मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात्साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः ॥

बुह्लर तथा जैकोबी के अनुसार महाराज अवन्तिवर्मा का राज्यकाल ईसा सन् ८५५ से ८८३ ई० तक था। कुछ अन्य सूत्रों द्वारा इस कथन की पुष्टि भी हो जाती है। एक स्थान पर आनन्दवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक के आचार्य उद्भट के मत का उल्लेख किया है जिसका समय ८०० ई० के लगभग का है। एक अन्य स्थल पर राजशेखर द्वारा आचार्य आनन्दवर्धन की प्रशंसा की गई है:—

ध्वनिनाऽतिगंभीरेण काव्यतत्वनिवेशिना।
आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः ॥

[जल्हण की 'सूक्तिमुक्तावली'–राजशेखर के नाम से उद्धृत]

राजशेखर का समय ९०० ई० के लगभग माना गया है। अतएव आनन्दवर्धन का समय ईसा की नवम शताब्दी का मध्यभाग अर्थात् ९५० ई० के आसपास का माना जा सकता है।

जीवन वृत्तान्त

आनन्दवर्धन के जीवन के सम्बन्ध में कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है। 'देवीशतक' के १०१वें श्लोक से केवल इतना ही ज्ञात होता है कि इनके पिता का नाम 'नोण' अथवा 'नोणोपाध्याय था। ध्वन्यालोक की एक पाण्डुलिपि में तृतीय उद्योत के अन्त में आनन्दवर्धन ने अपने को नोणसुत कहा है।

आनन्दवर्धन बहुमुखी प्रतिभा के धनी

आचार्य आनन्दवर्धन की प्रतिभा बहुमुखी थी। वे काव्यशास्त्र के महान् ज्ञाता तथा आचार्य थे। इसके अतिरिक्त वे एक सुयोग्य कवि तथा दार्शनिक भी थे।

उनकी रचनायें

उनके द्वारा तीन काव्य लिखे गये थे–(१) 'अर्जुनचरित', (२) 'विषयबाणलीला, (३) देवीशतक। इनके प्रथम दो काव्यों का उल्लेख इन्होंने स्वयं ही ध्वन्यालोक में किया है। 'अर्जुनचरित' का उल्लेख तृतीय उद्योत[1] में तथा

---

१. एतच्च मदीयेऽर्जुनचरितेऽर्जुनस्य पातालावतरणप्रसङ्गे वैशद्येन प्रदर्शितम्।
[ध्वन्या० ३।२५ की वृत्ति में]

'विषमबाणलीला' का द्वितीय उद्योत' में । देवीशतक' वह काव्य है जिसे भगवती दुर्गा की आराधना में लिखा गया है । 'तत्वालोक' नामक दर्शन ग्रन्थ भी इन्हीं की कृति है । 'ध्वन्यालोक' उनकी श्रेष्ठतम रचना है ।

ध्वन्यालोक

भारतीय साहित्यशास्त्र का व्यवस्थित रूप आचार्य 'भरत' के नाट्यशास्त्र से प्रारम्भ होता है । आचार्य भरत से लेकर आनन्दवर्धन के समय तक अनेक आचार्य हुए जिनमें भामह, दण्डी, उद्भट, वामन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं । जिनके द्वारा साहित्यिक आलोचना से सम्बन्धित सिद्धान्तों का सृजन किया गया । आनन्दवर्धन द्वारा इस सम्बन्ध में एक नवीन दिशा को जन्म दिया गया । भामह आदि आचार्यों ने काव्य के शरीर को शब्द-अर्थ के रूप में प्रतिपादित कर इनको अलंकृत करने वाले अलंकारों, गुणों, वृत्तियों तथा रीति को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया । यह काव्य का स्थल-शरीर ही था तथा उसी को अलंकृत करने का प्रयास किया गया । दूसरे शब्दों में इसे कलापक्ष की संज्ञा भी दी जा सकती है । काव्य के आन्तरिक पक्ष अथवा आत्मभूत तत्त्व की ओर विशेषरूप से किसी आचार्य का ध्यान नहीं गया । दूसरे शब्दों में, इसे 'भावपक्ष' की संज्ञा दी जा सकती है ।

आचार्य आनन्दवर्धन ने इस अभाव की पूर्ति की । इन्होंने बतलाया कि काव्य में दो प्रकार के अर्थ हुआ करते हैं—(१) वाच्य-अर्थ और (२) प्रतीयमान अर्थ । वाच्य-अर्थ तो अलंकार आदि के द्वारा प्रसिद्धि को प्राप्त हो चुका है । प्रतीयमान अर्थ महाकवियों की वाणी में एक अपूर्व सौन्दर्य का आधान करता हुआ उसी भाँति रहा करता है कि जिस भाँति स्त्रियों में लावण्य रहा करता है । यह प्रतीयमान अर्थ ही वस्तुतः काव्य की आत्मा है । जिस काव्य में यह प्रतीयमान

---

१. यथा च ममैव विषमबाणलीलायाम्—

'ताला जाअन्ति गुणा जाला दे सहिअएहिं घेप्पन्ति ।
रइकिरणानुग्गहिआइं होन्ति कमलाइं कमलाइं ॥

[ध्वन्या० २-१ की वृत्ति में], इसी प्रकार २।२७ की वृत्ति में ।

अर्थ प्रमुखरूप से विद्यमान रहा करता है उसी को ध्वनिकाव्य नाम से व्यवहृत किया जाया करता है।

आनन्दवर्धन द्वारा ध्वनिसम्प्रदाय की स्थापना का किया जाना एक महनीय कार्य था। इनसे पूर्व भी आलंकारिकों द्वारा वाच्य-अर्थ से पृथक् प्रतीयमान अर्थ की सत्ता को तो स्वीकार किया जा चुका था किन्तु वे उस प्रतीयमान अर्थ को सम्यक् रीत्या व्याख्या प्रस्तुत न कर सके थे। यह कार्य आनन्दवर्धन द्वारा संपन्न किया गया।

ध्वनि का प्रेरणास्रोत—स्फोटसिद्धान्त

ध्वनिकार को ध्वनिसम्बन्धी सिद्धान्त की प्रेरणा वैयाकरणों के स्फोटसिद्धान्त से उपलब्ध हुई है। उन्होंने स्वयं ही प्रथम कारिका में इसका स्पष्ट संकेत किया है—'सूरिभिः कथितः'। सूरिभिः अर्थात् विद्वानों के द्वारा। यहाँ सूरिभिः से अभिप्राय वैयाकरणों से है क्योंकि सर्वप्रथम विद्वान् वैयाकरण ही हैं। सब विद्याओं का मूलाधार भी व्याकरण ही है। ये विद्वान् श्रूयमाण [श्रवण किये जाते हुए] वर्णों में ध्वनि का व्यवहार करते हैं।

मनुष्य के द्वारा जब किसी शब्द का उच्चारण किया जाया करता है तो श्रोता उसी उच्चरित शब्द का श्रवण नहीं किया करता है। वह शब्द दूसरे शब्द को, पुनः वह तीसरे शब्द को—इस भाँति क्रम चलता रहा करता है जब तक कि श्रोता के कान के समीप तक वह शब्द पहुँच न जाय। इस भाँति सन्तान के रूप में आये हुए शब्दज शब्द को ही श्रोता श्रवण किया करता है। यह शब्दज शब्द ही 'ध्वनि' कहा जाता है। इसी बात को वैयाकरण भर्तृहरि ने भी कहा है—

'यः संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजन्यते।
स स्फोटः शब्दजः शब्दो ध्वनिरित्युच्यते बुधैः॥'

इसी भाँति आलङ्कारिकों के अनुसार भी शब्द से उत्पन्न व्यङ्ग्य-अर्थ 'ध्वनि' है।

कोई भी श्रोता एक साथ ही शब्द को सुन लिया करता है। प्रत्येक शब्द पहले प्रथम वर्ण उच्चरित होता है, तत्पश्चात् द्वितीय और तदनन्तर तृतीय-वर्ण आदि। प्रथम वर्ण के उच्चारण के पश्चात् जब तक द्वितीय, तृतीय आदि वर्णों का

उच्चारण किया जाता है तब तक प्रथम द्वितीय आदि वर्ण नष्ट हो जाया करते हैं क्योंकि कोई भी वर्ण दो क्षण से अधिक ठहर नहीं सकता है। अतएव वक्ता द्वारा प्रयुक्त शब्द में जितने भी वर्ण हैं उन सबका एकसाथ श्रवण किया जा सकना सम्भव ही नहीं है। इस प्रकार अति सूक्ष्म विवेचन के पश्चात् वैयाकरणों ने यह निश्चित किया कि अर्थ का बोध शब्द के स्फोट द्वारा ही हुआ करता है। कहने का अभिप्राय यह है कि पूर्व-पूर्व के वर्णों के संस्कार अन्तिम-अन्तिम वर्ण के उच्चारण के साथ संयुक्त होकर शब्द के अर्थ का ज्ञान कराया करते हैं। इस भाँति अन्त्यबुद्धि से ग्रहण किये जाने योग्य स्फोट-व्यञ्जक वर्ण 'ध्वनि' कहलाते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि 'स्फोट' का ही दूसरा नाम ध्वनि है। इस भाँति शब्द एवं व्यापार के साम्य के आधार पर व्याकरण के ध्वनिसिद्धान्त से प्रेरणा प्राप्त कर ध्वनिकार ने 'ध्वनि' की स्थापना की।

ध्वनि के प्रकार

आलङ्कारिकों के मतानुसार भी प्रसिद्ध शब्द-व्यापारों से भिन्न व्यञ्जकत्व नामक शब्दव्यवहार ध्वनि है। अतएव व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जक अर्थ तथा व्यञ्जकत्व व्यापार—इन चार प्रकारों की ध्वनि हुई। इन चारों के एकत्र रहने पर समुदायरूप काव्य भी 'ध्वनि' कहलाता है। व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थों के द्वारा भी ध्वनि के निम्नलिखित पाँच भेद सिद्ध हो जाते हैं—

१. 'ध्वनति ध्वनयति वा यः स व्यञ्जकः शब्दः ध्वनिः' अर्थात् जो ध्वनित करे अथवा कराये वह 'व्यञ्जक-शब्द' 'ध्वनि' कहलाता है।

२. 'ध्वनति ध्वनयति वा यः स व्यञ्जकोऽर्थः ध्वनिः' अर्थात् जो ध्वनित करे अथवा कराये वह व्यञ्जक-अर्थ 'ध्वनि' कहलाता है।

३. 'ध्वन्यते इति ध्वनिः' अर्थात् जो ध्वनित किया जाय वह 'ध्वनि' है।

४. 'ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः' जिसके माध्यम से ध्वनित किया जाय वह भी 'ध्वनि' है। इसके द्वारा शब्द, अर्थ के व्यञ्जना आदि व्यापारों [वृत्तियों] का बोध होता है।

५. 'ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः' अर्थात् जिसमें वस्तु, अलङ्कार, रस आदि ध्वनित हों उस काव्य को भी 'ध्वनि' कहा जाता है।

ध्वनि-सिद्धान्त

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनिसम्बन्धी सिद्धान्त की स्थापना की किन्तु आनन्दवर्धन द्वारा की गई ध्वनिसिद्धान्त से पूर्व तथा पश्चात् भी ध्वनिविरोधियों द्वारा इस सिद्धान्त का विरोध बराबर चलता रहा। अपने से पूर्व के ध्वनि विरोधियों की युक्तियों का समाधान तो आचार्य ने स्वयं ही कर दिया था किन्तु उनके पश्चात् के ध्वनिविरोधियों की युक्तियों का उत्तर आचार्य अभिनवगुप्त तथा सम्मट द्वारा दिया गया। अतएव ध्वनिविरोधियों के मतों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता हैं–(१) आनन्दवर्धन के पूर्व के ध्वनिविरोधी पक्ष तथा (२) आनन्दवर्धन के पश्चात् के ध्वनिविरोधी पक्ष।

१–आनन्दवर्धन से पूर्व के ध्वनिविरोधी पक्ष—

आचार्य आनन्दवर्धन के पूर्व के ध्वनिविरोधी मतों का उल्लेख आचार्य द्वारा ध्वन्यालोक की प्रथमकारिका में ही प्रस्तुत किया गया है—

'तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयम्॥'

आनन्दवर्धन से पूर्व ध्वनि के विरोध में जो युक्तियाँ दी जाया करती थीं, उनको उन्होंने तीन पक्षों में विभक्त किया है—१–अभाववादी-पक्ष, २–भाक्तवादी पक्ष और ३–अलक्षणीयतावादी पक्ष।

प्रथम अभाववादी पक्ष में तीन विकल्प बनते हैं—(१) प्रथम अभाववादी विकल्प के अनुसार काव्य के शरीर की रचना शब्द और अर्थ के द्वारा हुआ करती है। अतएव इनके चारुत्व के आधार ही काव्य की आत्मा कहे जा सकते हैं। शब्द के चारुत्व को प्रकट करने वाले 'अनुप्रास' आदि अलंकार हैं तथा अर्थ के चारुत्व को प्रकट करने वाले उपमा आदि अर्थालङ्कार हैं। इन अलङ्कारों की प्रसिद्धि प्राचीन साहित्यशास्त्रियों द्वारा की जा चुकी है। वर्णों तथा संघटना के चारुत्व के प्रतिपादक 'माधुर्य' आदि गुणों का भी वर्णन किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त उपनागरिका आदि वृत्तियों का तथा वैदर्भी आदि रीतियों का भी कथन किया जा चुका है। काव्य के चारुत्व के उत्कर्ष को बढ़ाने वाले ये ही प्रसिद्ध तत्व हैं। अतः इनसे भिन्न ध्वनि नामक अन्य कोई तत्व काव्य के चारुत्व का हेतु नहीं हो सकता है।

(२) द्वितीय अभाववादी पक्ष के लोगों का कहना है कि सहृदयों के हृदयों को आह्लादित करने वाले शब्द और अर्थ ही काव्य की रचना करते हैं। अतएव इनके चारुत्व को बढ़ाने वाले अलंकार आदि पहले से ही प्रसिद्धि को प्राप्त कर चुके हैं। यदि इनसे व्यतिरिक्त ध्वनि नामक किसी अप्रसिद्ध वस्तु को काव्य की आत्मा कहा जायगा तो ध्वनि की चर्चा से पूर्व भी तो काव्य का आस्वादन किया जाता रहा है। आप अब 'काव्य को आत्मा' ध्वनि की चर्चा कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में अब से पूर्व लिखे गये सभी काव्य आत्मा से हीन होंगे तथा उनमें काव्यत्व की हानि होगी।

(३) तृतीय अभाववादियों का कथन है कि ध्वनि नाम का कोई नया पदार्थ नहीं है। यदि ध्वनि नाम का कोई पदार्थ चारुत्व का हेतु है तो उसका अन्तर्भाव वर्णित चारुत्व हेतुओं में से किसी के अन्तर्गत हो जायगा। यह सम्भव है कि वाणी के भेद-प्रभेदों की अनन्तता के कारण लक्षणकारों द्वारा किसी प्रभेदविशेष की समाख्या न की जा सकी हो तथा उसी का अन्वेषण कर आप 'ध्वनि' नाम दे रहे हों यह कोई बहुत महत्व की बात नहीं है। इतनी-सी छोटी बात को लेकर ध्वनि-ध्वनि का कोलाहल मचाना नितान्त अनुचित है।

उपर्युक्त रूप में ध्वनि का निषेध करनेवालों की युक्तियों का सारांश यही है कि ये लोग एक प्रकार से अभिधा अथवा वाच्यार्थ में ही व्यञ्जना अथवा ध्वनि का अन्तर्भाव स्वीकार करते हैं।

२-भाक्तवादी पक्ष —

ध्वनि के विरोधियों का दूसरा पक्ष ध्वनि को लक्षणा के अन्तर्गत स्वीकार करता है। ये लोग भक्ति [लक्षणा] वादी अथवा भाक्तवादी कहलाते हैं। इन्होंने लक्षणा के व्यवहार का प्रदर्शन कर व्यञ्जनावादियों के प्रतीयमान-अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा प्रतिपादित की है।

३-अलक्षणीयतावादी पक्ष—

ध्वनिविरोधी तृतीय पक्ष का कथन है कि 'ध्वनितत्व की वाणी द्वारा व्याख्या किया जाना सम्भव नहीं है। वह सहृदयों द्वारा संवेद्य है। अतएव उसकी परिभाषा अथवा लक्षण का किया जाना असंभव है।

आनन्दवर्धन के परवर्ती ध्वनिविरोधी मत

परवर्ती विरोधियों में प्रमुख थे— भट्टनायक, महिमभट्ट, कुन्तक और क्षेमेन्द्र। भट्टनायक ने रसास्वादन के कारणरूप शब्द की दो नवीन शक्तियों की उद्भावना की—[१] भावकत्व और [२] भोजकत्व तथा इन्हीं के आधार पर व्यञ्जना का निषेध किया।

व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट ने ध्वनि को अनुमिति मात्र माना। उन्होंने व्यञ्जनावृत्ति की आवश्यकता को मानने का खण्डन किया, ध्वनिवादियों के प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति को अनुमान द्वारा प्रतिपादित किया तथा व्यञ्जना का निषेध कर अभिधा को ही पर्याप्त माना। उन्होंने अपने ग्रन्थ व्यक्तिविवेक में इसी विषय को प्रधानता भी दी।

कुन्तक ने 'वक्रोक्तिजीवित' नामक ग्रन्थ की रचना की तथा ध्वनि को वक्रोक्ति के अन्तर्गत स्वीकार किया।

क्षेमेन्द्र ने औचित्य को ही काव्य का प्राण स्वीकार किया। ये प्रसिद्ध आलोचक अभिनवगुप्त के ही शिष्य थे।

इनमें से भट्टनायक का उत्तर आचार्य अभिनवगुप्त ने तथा अन्य सभी का उत्तर आचार्य मम्मट द्वारा दिया गया।

अभाववादियों के विरोध का मण्डन

वस्तुतः ध्वनि व्यञ्जना पर भी आधारित है। अतएव यह कहना असंगत न होगा कि ध्वनि की स्थापना का अर्थ व्यञ्जना की ही स्थापना है।

अभाववादियों का प्रमुख तर्क यह है कि ध्वनि की स्थापना से पूर्व भी तो काव्य में काव्यत्व था और सहृदय जन उसका आस्वादन भी किया करते थे। यदि ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा जा रहा है तो पूर्ववर्ती सभी काव्यों में काव्यत्व की हानि हो जायगी। ध्वनिकार द्वारा इसका उत्तर यह दिया गया है कि उस समय ध्वनि का नामकरण नहीं हो सका था किन्तु उसकी स्थिति तो उस समय भी विद्यमान थी। जैसे—'पर्यायोक्त' आदि अलङ्कारों में व्यङ्ग्यार्थ स्पष्ट रूप में वर्तमान रहा करता है, यद्यपि उसका महत्व गौण है किन्तु उसकी सत्ता के होने में किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं है। इस व्यङ्ग्यार्थ के लिए मात्र व्यञ्जना

ही मूल आधार है । इसके अलावा रस आदि में भी व्यञ्जना का ही प्राधान्य है; क्योंकि रस इत्यादि अभिधेय नहीं हुआ करते हैं ।

अभाववादियों की सर्वतोप्रमुख युक्ति यह है कि व्यञ्जनाव्यापार का अलग से अस्तित्व मानने की कोई आवश्यकता नहीं है । उसका कार्य तो अभिधा अथवा लक्षणा द्वारा सम्पन्न कर लिया जायगा ।

इसका सीधा उत्तर यह है कि ध्वनि के जो दो प्रमुख भेद (अविवक्षितवाच्य-ध्वनि तथा विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि) किये गये हैं उन दोनों का अन्तर्भाव अभिधा अथवा लक्षणा में हो जाएगा । किन्तु ऐसा किया जा सकना संभव नहीं है क्योंकि 'अविवक्षितवाच्यध्वनि' अभिधा के आश्रित नहीं है । अतएव अभिधा के निष्फल हो जाने के अनन्तर लक्षणा की सामर्थ्य पर ही उसकी सत्ता आश्रित है । विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि में लक्षणा का कोई कार्य है ही नहीं । इससे यह सिद्ध होता है कि ध्वनि का एक प्रमुख भेद और उसके उपभेद अभिधा के अन्तर्गत नहीं आ सकते हैं तथा द्वितीय भेद और उसके प्रभेद लक्षणा की सामर्थ्य से बाहर हैं । तात्पर्य यह है कि ध्वनि अभिधा और लक्षणा की सामर्थ्य से पृथक् अस्तित्व रखनेवाली है । कहने का अभिप्राय यह है कि अभिधेयार्थ और लक्ष्यार्थ की ध्वन्यर्थ से पृथकता प्रकट करने वाले अनेक प्रमाण स्वयंसिद्ध हैं ।

अभिधेयार्थ अथवा वाच्यार्थ और ध्वन्यर्थ अथवा व्यङ्ग्यार्थ की पृथकता को प्रकट करने वाले बोद्धा आदि की भिन्नता ही है :—

"बोद्धृस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम् ।
आश्रयविषयादीनां भेदाद्भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्यः ॥"

[साहित्यदर्पण]

(१) **बोद्धा के आधार पर भिन्नता**—कोश, व्याकरण आदि के प्रत्येक ज्ञाता को वाच्यार्थ की प्रतीति हो सकती है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ अथवा प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति मात्र सहृदय व्यक्ति को ही हो सकती है ।

(२) **स्वरूप**—यदि कहीं वाच्यार्थ विधिरूप है तो व्यङ्ग्यार्थ निषेधरूप । कहीं वाच्यार्थ निषेधरूप है तो व्यङ्ग्यार्थ विधिरूप । कहीं वाच्यार्थ विधिरूप है अथवा निषेधरूप है तो व्यङ्ग्यार्थ अनुभयरूप है । कहीं वाच्यार्थ संदिग्ध हो सकता है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ निश्चयात्मक ही होगा ।

(३) **संख्या**—इसके अन्तर्गत प्रकरण, वक्ता तथा श्रोता का भेद भी आ जाता है। जैसे—'सूर्यास्त हो गया' इस वाच्य का वाच्यार्थ तो एक ही होगा किन्तु वक्ता, श्रोता तथा प्रकरण के भेद से व्यङ्ग्यार्थ अनेक होंगे।

(४) **निमित्त**—वाच्यार्थ का ज्ञान शब्दज्ञान के द्वारा तथा प्रकरण आदि की सहायता से हो जाया करता है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति विशिष्ट प्रकार की प्रतिभा के बल पर ही हुआ करती है।

(५) **कार्य**—वाच्यार्थ द्वारा वस्तु का ज्ञानमात्र हुआ करता है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ के द्वारा आनन्दरूप चमत्कार का आस्वादन हुआ करता है।

(६) **प्रतीति**—वाच्यार्थ की प्रतीति केवल शब्दबोध मात्र है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति शब्दमय होने के साथ ही साथ चमत्कारमय भी हुआ करती है।

(७) **काल**—वाच्यार्थ की प्रतीति पहले और व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति उसके पश्चात् ही हुआ करती है। इस प्रकार का काल-भेद अवश्य विद्यमान रहा करता है, चाहे वह संलक्ष्य हो अथवा असंलक्ष्य।

(८) **आश्रय**—वाच्यार्थ मात्र शब्द अथवा पद के आश्रित रहा करता है। किन्तु व्यङ्ग्यार्थ शब्द में, शब्द के अर्थ में, शब्द के अंश में, वर्ण अथवा वर्णसंरचना आदि में रहा करता है।

(९) **विषय**—वाच्यार्थ का विषय नियत होता है। वह संबोध्य व्यक्ति के लिए ही हुआ करता है। किन्तु व्यङ्ग्यार्थ का विषय नियत भी हो सकता है और अनियत भी तथा सम्बद्ध भी हो सकता है।

(१०) **पर्याय**—पर्यायवाची शब्दों के व्यङ्ग्यार्थ में अन्तर हुआ करता है। सभी पर्यायों का वाच्यार्थ एक-सा हुआ करता है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ भिन्न हो सकता है।

इस भाँति उपर्युक्त हेतुओं के कारण वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ एक नहीं हो सकते हैं। वे पृथक्-पृथक् ही हुआ करते हैं। ऐसी स्थिति में ध्वनि का समावेश अभिधा के अन्तर्गत होना संभव नहीं है।

रस इत्यादि अभिधा के आश्रित ध्वनि के भेदों के अन्तर्गत आते हैं। ये विवक्षितान्यपरवाच्य के असंलक्ष्यक्रम भेद के अन्तर्गत हैं। ये रस इत्यादि व्यञ्जना की सत्ता के प्रबल प्रमाण हैं क्योंकि ये कभी भी वाच्य नहीं हुआ करते हैं। वे तो

सदैव वाच्य द्वारा आक्षिप्त व्यङ्ग्य ही हुआ करते हैं। इससे यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि रसादि की प्रतीति अभिधा की सामर्थ्य से बाहर है। इस विषय को लेकर संस्कृत के आचार्यों में बहुत वादविवाद हुआ है। सर्वप्रथम भट्टनायक ने व्यञ्जना का निषेध किया और शब्द की भावकत्व तथा भोजकत्व नामक दो शक्तियाँ स्वीकार कीं। उन्होंने कमनीय अर्थ का भावन तथा रस का आस्वादन उन्हीं के द्वारा माना किन्तु आचार्य अभिनवगुप्त ने इन दोनों नवीन शक्तियों की कल्पना को निराधार तथा अनावश्यक माना तथा व्याकरण आदि के आधार पर व्यञ्जना की ही स्थापना की।

बाद में महिमभट्ट द्वारा व्यञ्जना का निषेध किया गया। उन्होंने अभिधा को ही शब्द की एक मात्र शक्ति माना। उन्होंने बतलाया कि व्यङ्ग्य तो मात्र अनुमान का विषय है। वे वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में व्यङ्ग्यव्यञ्जकसम्बन्ध को स्वीकार नहीं करते थे। इसके स्थान पर वे लिङ्गलिङ्गीसम्बन्ध को मानते थे। उनका कहना था कि जहाँ लिङ्ग [साधन अथवा हेतु] निश्चितरूप से विद्यमान होगा वहाँ लिङ्गी [अनुमेय वस्तु] का अनुमान स्वयं ही हो जायगा।

उनके इस सिद्धान्त का आचार्य मम्मट द्वारा युक्तिपूर्वक खण्डन किया गया है। उनका कहना है कि लिङ्गलिङ्गीसम्बन्ध निश्चयात्मक है। वाच्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ में सर्वत्र लिङ्गलिङ्गीसम्बन्ध हो ऐसा आवश्यक नहीं है। ध्वनिप्रसङ्ग में वाच्यार्थ का सदैव निश्चयात्मक हेतु होना भी संभव नहीं है। वह तो प्रायः अनैकान्तिक हुआ करता है। ऐसी दशा में व्यङ्ग्यार्थरूप चमत्कार के अनुमान का कारण किस भाँति स्वीकार किया जा सकता है? मनोविज्ञान की दृष्टि से भी महिमभट्ट का उपर्युक्त विवेचन युक्तिसङ्गत प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि अनुमान में साधन के द्वारा साध्य की सिद्धि तर्क अथवा बुद्धि पर आधारित हुआ करती है। किन्तु ध्वनि में वाच्यार्थ के द्वारा व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति तर्क पर आधारित न होकर सहृदयता, कल्पनाओं आदि पर आधारित हुआ करती है।

(२) अब भाक्त [लक्षणा] वाद के सम्बन्ध में विचार किया जाता है। भाक्तवादी कहते हैं कि वाच्यार्थ के अतिरिक्त जो भी कोई अन्य अर्थ होता है तो वह लक्ष्यार्थ के अन्तर्गत आ जायगा। व्यङ्ग्यार्थ तो वस्तुतः लक्ष्यार्थ का ही एक रूप है। ऐसी स्थिति में लक्षणा से भिन्न व्यञ्जना नाम की कोई शक्ति है ही नहीं। इसके उत्तर में ध्वनिकार द्वारा एक प्रबल युक्ति कह दी गई है कि :—

वाच्यार्थ के सदृश लक्ष्यार्थ भी नियत ही हुआ करता है तथा लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ से सदैव सम्बन्धित ही होगा। जैसे 'गङ्गायां घोषः' अर्थात् गंगा [के प्रवाह में] आभीरों की बस्ती। उपर्युक्त वाक्य में गंगा का जो प्रवाहरूप अर्थ है वह तट को ही लक्षित कर सकता है। सड़क आदि को नहीं क्योंकि प्रवाह का तट के साथ सम्बन्ध नियत है। किन्तु व्यङ्ग्यार्थ का वाच्यार्थ के साथ सम्बन्ध नियत होना आवश्यक नहीं है। इन दोनों का सम्बन्ध नियत भी हो सकता है, अनियत भी और सम्बद्धसम्बन्ध भी। कहने का अभिप्राय यह है कि लक्ष्यार्थ एक ही हो सकता है साथ ही वह सर्वथा सम्बद्ध ही होगा, किन्तु व्यङ्ग्यार्थ अनेक हो सकते हैं तथा उनका सम्बन्ध अनियत भी हो सकता है।

लक्षणावृत्ति में प्रयोजन की प्रतीति के लिए व्यञ्जना का आश्रय लेना पड़ा करता है। इस भाँति प्रयोजन सदैव व्यङ्ग्य ही रहा करता है किन्तु व्यञ्जना से व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति के लिये किसी अन्य वृत्ति का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं हुआ करती है।

रस इत्यादि सीधे वाच्यार्थ से ही व्यङ्ग्य हुआ करते हैं। लक्ष्यार्थ के माध्यम से उनकी प्रतीति नहीं हुआ करती है। अतएव उनका लक्ष्यार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं।

अतएव लक्षणा में व्यञ्जना का अन्तर्भाव संभव नहीं है।

ध्वनि का अर्थ और स्वरूप

'ध्वनि' शब्द की व्युत्पत्ति निम्नलिखित रूपों में की जा सकती है :—

(१) 'ध्वनति इति ध्वनिः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'प्रतीयमान अर्थ' को अभिव्यक्त करने वाले वाचक शब्द तथा वाच्य अर्थ ध्वनि नाम से अभिहित होते हैं।

(२) 'ध्वन्यते इति ध्वनिः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार व्यङ्ग्य अर्थ ध्वनि है।

(३) 'ध्वननं ध्वनिः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार व्यञ्जना व्यापार 'ध्वनि' है।

उपर्युक्त चारो प्रकार से गणित ध्वनियाँ काव्य में रहा करती हैं अतएव

काव्य को भी 'ध्वनि' कहा जाया करता है। आचार्य आनन्दवर्धन ने इन पांचों को 'ध्वनि' नाम से अभिहित किया है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने उपर्युक्त पांचों प्रकार की ध्वनियों का विश्लेषण निम्नलिखित रूप में किया है :—

'वाच्य-अर्थ और वाचक शब्द—' इन दोनों का व्यञ्जकत्व ध्वननव्यापार द्वारा किये जाने से वाच्य-अर्थ भी ध्वनि है और वाचक शब्द भी ध्वनि है। विभाव, अनुभाव आदि के संवलन से जो सम्मिश्रित हुआ करता है वह व्यङ्ग्यार्थ भी 'ध्वनि' ही है क्योंकि वह भी ध्वनित किया जाया करता है। 'शब्दनं शब्दः शब्दव्यापारः' अर्थात् शब्द का व्यापार भी 'ध्वनि' है किन्तु वह अभिधा आदि वृत्तियों के स्वरूपवाला नहीं है अपितु वह तो आत्मभूत है। 'काव्य' नाम वाला पदार्थ भी ध्वनि है। क्योंकि उसमें ध्वनि के पूर्वोक्त चारों प्रकार स्थित रहा करते हैं।

इस भांति शब्द, अर्थ, व्यङ्ग्य-अर्थ, व्यञ्जनाव्यापार तथा काव्य इन पांचों को ध्वनि का नाम दिया गया है।

ध्वनि की परिभाषा

शब्द, अर्थ, व्यङ्ग्य-अर्थ, व्यञ्जनाव्यापार तथा काव्य इन पांचों को ध्वनि नाम से कहते हुए भी ध्वनिकार द्वारा ध्वनि की परिभाषा में काव्य को प्रमुखता प्रदान की गयी है :—

"यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः" ॥

[ध्वन्या० १३]

अर्थात् जहाँ अर्थ [स्व] अपने को अथवा शब्द अपने [अभिधेय] अर्थ को गुणीभूत [गौण] करके उस [प्रतीयमान] अर्थ को अभिव्यक्त किया करते हैं उस काव्यविशेष को विद्वानों द्वारा ध्वनि [काव्य] नाम से कहा गया है:—

'तमर्थम्' उस अर्थ को सहृदयों द्वारा दो प्रकार का बतलाया गया है :—

"योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥

[ध्वन्या० २]

अर्थात् जो अर्थ काव्य के आत्मा रूप में स्थित है, सहृदयों द्वारा प्रशंसित उस अर्थ के वाच्य और प्रतीयमान दो भेद कहे गये हैं।

जिस भाँति किसी भवन का निर्माण उसकी आधारभूमि [नींव] का निर्माण हो जाने के पश्चात् ही हुआ करता है उसी भाँति वाच्यार्थ 'ध्वनि' की आधारभूमि है। उसी के आधार पर प्रतीयमान अर्थ की अभिव्यक्ति हुआ करती है।

"तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः।
बहुधा व्याकृतः सोन्यैः.............. ॥"

उन दोनों प्रकार के अर्थों में जो वाच्य-अर्थ है वह उपमा आदि [गुण-अलङ्कार आदि] प्रकारों द्वारा प्रसिद्ध है तथा अन्यों [पूर्व काव्यलक्षणकारों] द्वारा उनका अनेक प्रकार से प्रदर्शन किया जा चुका है।

अतएव यहाँ प्रतीयमान अर्थ का विवेचन करते हैं :—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव
वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं
विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥ [ध्वन्या० ४]

महाकवियों की वाणियों में वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीयमान कुछ और ही वस्तु है। प्रसिद्ध अलङ्कारों अथवा प्रतीत होने वाले अवयवों से भिन्न [जो रमणियों के प्रसिद्ध मुख, नेत्र, नासिका, श्रोत्र आदि शारीरिक अङ्गों से भिन्न] लावण्य के सदृश पृथक् ही प्रकाशित हुआ करता है। जिस भाँति सुन्दरियों का सौन्दर्य [लावण्य] सम्पूर्ण शारीरिक अंगों से पृथक् दृष्टिगोचर होने वाला, सहृदयजनों के नेत्रों के लिए अमृत सदृश कुछ और ही वस्तु हुआ करती है, उसी भाँति यह प्रतीयमान अर्थ भी है।

यह प्रतीयमान अर्थ ही 'ध्वनि' नाम से कथित होता है।

ध्वनि अथवा प्रतीयमान अर्थ के प्रकार

काव्य में दो प्रकार के अर्थ हुआ करते हैं—(१) वाच्य, (२) प्रतीयमान। वाच्य अर्थ का ज्ञान शब्दशास्त्र के ज्ञान के आधार पर हुआ करता है। किन्तु प्रतीयमान अर्थ सहृदयहृदयसंवेद्य ही हुआ करता है। जिस काव्य में प्रतीयमान अर्थ वाच्य-अर्थ की अपेक्षा प्रधान तथा चारुत्व की अधिकता से युक्त

हुआ करता है उस काव्य को 'ध्वनि काव्य' के नाम से व्यवहृत किया जाया करता है। प्रतीयमान अर्थ के तीन प्रकार हुआ करते हैं-(१) वस्तु, (२) अलङ्कार और (३) रस। इसी आधार पर तीन प्रकार की ध्वनि भी कही गई है— (१) वस्तुध्वनि, (२) अलङ्कारध्वनि और (३) रसध्वनि।

काव्य के तीन प्रकार

ये तीन प्रकार हैं :—(१) ध्वनिकाव्य, (२) गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य तथा (३) चित्रकाव्य। वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ अथवा व्यङ्ग्यार्थ का अतिशय होने पर 'ध्वनिकाव्य' हुआ करता है। किन्तु जहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ गौण होकर वाच्यार्थ के अतिशय को प्रकट किया करता है वहाँ पर गुणीभूत-व्यङ्ग्यकाव्य हुआ करता है। जहाँ पर व्यङ्ग्य अर्थ की विवक्षा नहीं हुआ करती है, मात्र शब्दालङ्कारों अथवा अलङ्कारों का ही वैचित्र्य वर्णित हो, वहाँ चित्रकाव्य हुआ करता है। आचार्य के मतानुसार काव्य वस्तुतः दो ही प्रकार के हुआ करते हैं—(१) ध्वनि काव्य, (२) गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य। चित्रकाव्य तो काव्य की अनुकृतिमात्र ही हुआ करते हैं।

ध्वन्यालोक और उसका विषय

साहित्यशास्त्र के इतिहास में ध्वन्यालोक का अपना एक विशिष्ट स्थान है। आचार्य वर्धन ने अपने से पूर्व तक की चली आती हुई परम्पराओं को भलीभाँति समझा और उन्होंने विचार किया कि काव्य के दो पक्ष हुआ करते है :— (१) कलापक्ष और (२) हृदयपक्ष अथवा भावपक्ष। आचार्य आनन्दवर्धन से पूर्व कलापक्ष सम्बन्धी साहित्यशास्त्रों का विस्तृत विवेचन किया जा चुका था। हृदयपक्ष यद्यपि अछूता न था किन्तु फिर भी उसकी ओर कोई विशिष्ट ध्यान न दिया जा सका था। इस कमी को आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनिसिद्धान्त का शास्त्रीय विवेचन कर पूरा किया।

उन्होंने ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकार किया। उन्होंने प्रतीयमान अर्थ को तीन प्रकार का माना जिसके आधार पर वस्तुध्वनि, अलङ्कारध्वनि तथा रसध्वनि का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया। उन तीनों प्रतीयमान अर्थों में तृतीय प्रतीयमान अर्थ को सर्वश्रेष्ठता प्रदान की गई और उसी को प्रमुखरूप से 'ध्वनि' की संज्ञा प्रदान की गई। इसी को 'रसध्वनि' भी कहा गया।

ध्वनि तथा अन्य प्रस्थान

ध्वनि का सर्वश्रेष्ठ प्रकार रसध्वनि ही है। अतएव 'रस' एक प्रकार से ध्वनि ही है। ध्वनिकार द्वारा जिस ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया गया है वह प्रमुख रूप से 'रस' ही है। इस भाँति आचार्य आनन्दवर्धन ने अपने ध्वनि-सिद्धान्त द्वारा रसतत्व को सर्वोच्च स्थान पर स्थापित किया है। इसका प्रमुख कारण यह था कि 'रस' केवल व्यङ्ग्य ही हुआ करता है, वाच्य के साथ उसका संस्पर्श बन सकना संभव ही नहीं है। इसी कारण इसे 'अलौकिक' भी कहा गया है। काव्य से सम्बन्धित अन्य सभी तत्व रस की अभिव्यक्ति में साधन के रूप में विद्यमान रहा करते हैं। रस-सम्प्रदाय में भी रस को वह प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं हो सकी थी कि जो ध्वनिसम्प्रदाय में उसे प्राप्त हुई। अलङ्कार-शास्त्रियों ने तो रस को एक प्रकार के अलङ्कार के रूप में स्वीकार कर रखा था।

ध्वनि और अलङ्कार—ध्वनिसम्प्रदाय का प्रमुख आधार प्रतीयमान अर्थ ही था। अलङ्कार-सम्प्रदाय के आचार्य भामह, उद्भट आदि उस प्रतीयमान अर्थ से अपरिचित रहे हों, ऐसी बात न थी। काव्य के प्राणभूत 'रस' के सम्बन्ध वे न जानते हों, ऐसा भी नहीं है। हाँ, ऐसा अवश्य है कि उन्होंने रस को उचित स्थान न देकर उसे अलङ्कार में ही अन्तर्भुक्त कर रखा था। जब ध्वनिकार ने रस को काव्य की आत्मा के रूप में स्थापित किया तब अलङ्कारों की स्थिति वास्तविक रूप में सामने आ सकी। आनन्दवर्धन के अनुसार अलङ्कारों की सार्थकता अलङ्कार्य की शोभा बढ़ाने में ही है। जब उनका प्रयोग काव्य में रसादि के अभिप्राय से किया जायगा, तभी वे 'अलङ्कार' कहे जा सकेंगे।

ध्वनि और रीति—ध्वनि की स्थापना से पूर्व आचार्य वामन द्वारा काव्य की आत्मा के रूप में 'रीति' की स्थापना की जा चुकी थी। उनके अनुसार एक विशिष्ट प्रकार की पदरचना का ही नाम 'रीति' है। पदरचना में विशिष्ट प्रकार का संपादन गुणों के द्वारा ही हुआ करता है। आनन्दवर्धन ने पदरचना रूप 'रीति' को 'संघटना' के नाम से कहा। पदसंघटना सम्बन्धी औचित्य से रस के उन्मीलन में सहायता प्राप्त हुआ करती है। अतएव आनन्दवर्धन ने रीति को रस के उपकारक के रूप में स्वीकार किया।

ध्वनि और औचित्य—औचित्य सम्प्रदाय का प्रारम्भ क्षेमेन्द्र द्वारा किय

गया था। रस के विकास में आचार्य आनन्दवर्धन का विशेष योगदान रहा। उन्होंने काव्य के आत्मभूत रसध्वनि को औचित्य के साथ सम्बद्ध किया। उन्होंने दोनों के रहस्य को समझा तथा औचित्य को रस का एक आवश्यक अङ्ग बतलाया।

ध्वनि और वक्रोक्ति—आनन्दवर्धन के पश्चात् आचार्य कुन्तक द्वारा वक्रोक्ति-सम्प्रदाय की स्थापना की गई। ध्वनिसिद्धान्त के विरोध में ऐसा किया गया था किन्तु ध्वनिसिद्धान्त पर इसका कुछ भी प्रभाव न हो सका। वह ज्यों का त्यों ही बना रहा।

'रस' को तो आनन्दवर्धन ने 'रसध्वनि' के रूप में स्वीकार किया ही है। अतएव ध्वनिसिद्धान्त का रससिद्धान्त के साथ प्रगाढ़ सम्बन्ध है।

ध्वनि के भेद

मुख्यरूप से ध्वनि के दो भेद होते हैं–(१) लक्षणामूलाध्वनि, (२) अभिधा-मूलाध्वनि। इनमें से प्रथम लक्षणामूलाध्वनि स्पष्ट रूप से लक्षणा के आश्रित रहा करती है। इसी को 'अविवक्षितवाच्यध्वनि' नाम से भी कहा जाता है। इसका अर्थ ही है कि जिस ध्वनि में वाच्यार्थ की विवक्षा न हो। अर्थात् इस ध्वनि में वाच्यार्थ बाधित रहा करता है। इन ध्वनि के भी दो भेद हुआ करते हैं—(१) अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य तथा (२) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य में वाच्यार्थ किसी अन्य अर्थ में सङ्क्रमित हो जाया करता है। अर्थात् इसमें वाच्यार्थ बाधित होकर किसी अन्य अर्थ में परिणत हो जाया करता है। अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य में वाच्यार्थ अत्यन्त तिरस्कृत हो जाया करता है। तात्पर्य यह है उसका त्याग ही कर दिया जाया करता है।

अभिधामूलाध्वनि—यह ध्वनि अभिधा पर आश्रित रहा करती है। इसका दूसरा नाम है 'विवक्षितान्यपरवाच्य'। इसमें वाच्यार्थ विवक्षित होने पर भी अन्यपरक अर्थात् व्यङ्ग्य-निष्ठ रहा करता है। इसमें वाच्यार्थ की अपनी सत्ता तो रहा करती है किन्तु वह अन्ततोगत्वा व्यङ्ग्यार्थ का माध्यम ही हुआ करता है। इसके भी दो भेद हैं--(१) असंलक्ष्यक्रम और (२) संलक्ष्यक्रम। वस्तुध्वनि तथा अलङ्कारध्वनि संलक्ष्यक्रम के अन्तर्गत आते हैं। सम्पूर्ण रसप्रपञ्च असंलक्ष्य-क्रम के अन्तर्गत आता है।

ध्वन्यालोक की टीकायें

ध्वन्यालोक नामक ग्रन्थ की रचना हो जाने के पश्चात् विद्वानों द्वारा इसके गाम्भीर्य का विवेचन किया जाना परमावश्यक था। अतएव इस ग्रन्थ की अनेक टीकायें और व्याख्यायें लिखी जाती रहीं। इन टीकाओं में सर्वाधिक प्रसिद्ध और प्रामाणिक टीका आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा की गई। उन्होंने अपनी इस टीका का नाम 'लोचन' रखा।

आचार्य अभिनवगुप्त की लोचन टीका

इस टीका के हस्तलिखित प्रतियों में अनेक नाम उपलब्ध होते हैं—(१) सहृदयालोकलोचन (२) ध्वान्यालोकलोचन (३) काव्यालोकलोचन। वैसे अभिनवगुप्त के पश्चात् होनेवाले आचार्यों अथवा आलोचकों ने उनकी टीका को 'लोचन' नाम से ही अभिहित किया है। साहित्यशास्त्र मे ध्वन्यालोक की लोचनटीका का सर्वाधिक महत्व है क्योंकि आजतक जितनी भी टीकायें इस ग्रन्थ की लिखी जा चुकी हैं उनमें सर्वाधिक प्रामाणिकता इसी टीका की है। स्वयं आचार्य अभिनवगुप्त ने इस टीका का 'लोचन' नाम ही दिया है तथा इस टीका को ध्वन्यालोक [आलोक] के रहस्य का उन्मीलन करने वाला भी बतलाया है—

"किं लोचनं विना लोको भाति चन्द्रिकयापि हि।
तेनाऽभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात्॥"

अभिनवगुप्त से पहले 'ध्वन्यालोक' पर चन्द्रिका नाम की व्याख्या लिखी जा चुकी थी। आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी लोचन टीका में कई स्थलों पर इसका उल्लेख किया है। उन्होंने प्रथम तथा तृतीय उद्योत के अन्त में जो श्लोक लिखा है उससे भी यह विदित होता है कि उन्होंने लोचन टीका के लिखने में चन्द्रिका' नाम की टीका से सहायता ली है। ऊपर उद्धृत श्लोक इसी से सम्बन्धित है। उनका कहना है कि जिस भाँति चन्द्र चन्द्रिका के होते हुए होने पर भी चन्द्रमा विना लोचन [नेत्रों] के प्रकाशित नहीं हुआ करता है उसी भाँति 'चन्द्रिका' नामक व्याख्या से सुशोभित होते हुए होने पर भी यह 'ध्वन्यालोक' लोचन टीका के विना सुशोभित नहीं हुआ करता है।

चन्द्रिका नाम की टीका के बारे में यह भी विदित होता है कि उक्त टीका आचार्य अभिनवगुप्त के किसी पूर्वज के द्वारा की गई थी। यद्यपि उन्होने चन्द्रिका

नामक टीका से सहायता ली है किन्तु फिर भी उन्होंने अनेक स्थलों पर उससे अपने मतभेद को भी प्रकट किया है।

यद्यपि आचार्य अभिनवगुप्त कश्मीर के थे किंतु इनके पूर्वजों का मूल निवासस्थान कश्मीर नहीं था। राजतरङ्गिणी के अनुसार अष्टम शताब्दी में कन्नौज के राजा यशोवर्मा का राज्य ७३० ई० से ७४० ई० तक रहा था। तथा उसी समय कश्मीर में मुक्तापीड अथवा ललितादित्य ७२५ ई० से ७६१ तक राज्य कर रहे थे। इन दोनों राजाओं में परस्पर युद्ध हुआ। कन्नौज के राजा यशोवर्मा की पराजय हुई। उस समय अन्तर्वेदी [गङ्गा तथा यमुना के मध्य का देश] में अत्रि गुप्त नाम के विद्वान् निवास करते थे। इनकी विद्वत्ता से कश्मीराधिपति ललितादित्य अत्यधिक प्रसन्न हो गये और उन्हें कश्मीर ले गये तथा वहीं उनको बसा दिया।

इसी वंश में अभिनवगुप्त उत्पन्न हुए। इनके पिता का नाम नृसिंहगुप्त था और माता का नाम विमला अथवा विमलाकला था।

आचार्य अभिनवगुप्त अपनी ईश्वरप्रदत्त प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने अनेक प्रकार की रचनाओं का सृजन किया। उनकी कुछ रचनाओं को तान्त्रिकों की श्रेणी में, कुछ को स्तोत्रों की श्रेणी में, कुछ को काव्यशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र की श्रेणियों में रखा जा सकता है। ये शैवमतावलम्बी थे। अतः इन्होंने शैवमत से सम्बन्धित भी कुछ रचनाएँ लिखी थीं।

अपने विभिन्नविषयक ग्रन्थों में इन्होंने अपने गुरुओं का भी उल्लेख किया है। इस भाँति इन्होंने अपने विभिन्न प्रकार के गुरुओं से विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन किया था। साहित्यशास्त्र से सम्बन्धित इनके गुरु भट्टेन्दुराज थे। इन्होंने ही संभवतः 'ध्वन्यालोक' से सम्बन्धित शिक्षा उन्हें प्रदान की होगी।

इनके एक गुरु थे भट्टतौत। इन्हीं के द्वारा अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र की शिक्षा प्राप्त की थी। नाट्शास्त्र की 'अभिनवभारती' नामक टीका के अन्त में इन्होंने अपने गुरु का स्मरण किया है। इनके गुरु भट्टतौत के द्वारा 'काव्यकौतुक' नामक ग्रन्थ की रचना की गई थी। अभिनवगुप्त ने इस ग्रन्थ पर 'विवरण' नामक टीका लिखी थी। अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक की लोचन टीका में 'शान्त-रस' के नियोजन की उपयोगिता का उल्लेख करते हुए इसका संकेत किया है।

इन्होंने अपने परिवार का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। इससे प्रतीत होता है कि ये संभवतः आजीवन ब्रह्मचारी ही रहे होंगे।

काशी में प्रचलित प्राचीन परम्परा के आधार पर अभिनवगुप्त अपने १२०० शिष्यों के साथ भैरवी स्तोत्र का पाठ करते हुए एक गुफा में प्रविष्ट हो गये थे तथा वहीं से कहीं अन्तर्धान हो गये। डॉ ग्रियर्सन के अनुसार यह गुफा वीरू नामक स्थान में स्थित है। इसका प्राचीन नाम था—'बहुरूपा'। यह स्थान श्रीनगर से १३ मील दक्षिण पश्चिम की ओर है।

लोचन टीका ध्वन्यालोक के रहस्य को भलीभाँति उद्घाटित करने तथा उसके मन्तव्यों का विस्तृत विवेचन करने में पूर्णतया सक्षम है।

ध्वन्यालोक की अन्य टीकायें—अन्य प्राचीन टीकाओं में 'चन्द्रिका' तथा 'कौमुदी' नामक टीकायें प्रसिद्ध हैं। इनमें से 'चन्द्रिका' नामक टीका आचार्य अभिनवगुप्त से पहले की है तथा 'कौमुदी' नामक टीका उनके बाद की है। इस टीका को केरलनिवासी विद्वान् 'उदयोत्तुङ्ग' ने लिखा था। यह टीका मात्र प्रथम उद्योत पर ही उपलब्ध है।

ध्वन्यालोक की कुछ आधुनिक टीकाओं में निम्नलिखित टीकायें उपलब्ध होती हैं—

१. डॉ० जैकोबी द्वारा तृतीय उद्योत तक आंग्लभाषा में लिखित टीका उपलब्ध होती है। यह जर्मन भाषा में है।

२. चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस द्वारा मुद्रित ध्वन्यालोक [सम्पूर्ण] की लोचन टीका– आधुनिक बालप्रिया एवं दिव्यञ्जना नामक टीका सहित। इसका संपादन डॉ० पट्टाभिराम शास्त्री द्वारा किया गया था।

३. बाद में श्री बदरीनाथ झा कृत 'दीधिति' नामक टीका ध्वन्यालोक [मूल] पर लिखी गई थी। प्रकाशक–पूर्ववत्।

४. पुनः इसी प्रकाशन द्वारा श्री जगन्नाथ पाठक द्वारा लिखी टीका मुद्रित हुई।

५. डॉ० कृष्णमूर्ति द्वारा भूमिका सहित ध्वन्यालोक की अंग्रेजी व्याख्या पूना से १९५५ में प्रकाशित हुई।

६. डॉ० विष्णुपद भट्टाचार्य ने ध्वन्यालोक की विस्तृत अंग्रेजी व्याख्या लोचन तथा कौमुदी व्याख्या सहित लिखी। इसमें विस्तृत भूमिका भी है। इसका प्रकाशन १९५६ में हुआ। प्रथम संस्करण प्रथम उद्योत तक ही है।

७. आचार्य विश्वेश्वर द्वारा ध्वन्यालोक की विस्तृत व्याख्या लिखी गई। इसमें विशेषरूप से लोचन टीका का तथा सामान्यरूप से अन्य टीकाओं का भी आश्रय प्राप्त किया गया है। इसका प्रथम संस्करण संवत् २०१९ में ज्ञानमण्डल, वाराणसी द्वारा प्रकाशित हुआ।

उपसंहार

साहित्यशास्त्रीय सरणि में 'ध्वन्यालोक' आचार्य आनन्दवर्धन की श्रेष्ठतम रचना है। उन्होंने ध्वनि की स्थापना कर अपने से पूर्व के सभी आलोचकों तथा आचार्यों की सभी प्रकार की मान्यताओं तथा सिद्धान्तों का अन्तर्भाव 'ध्वनि' में ही कर लिया था। यद्यपि वे आचार्य भरत के प्रबल समर्थक थे फिर भी उन्होंने तृतीय प्रतीयमान अर्थ का प्रतिपादन कर 'रस' का अन्तर्भाव भी 'रसध्वनि' के अन्तर्गत ही किया था। उन्होंने ध्वनि के तीन रूपों [वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि तथा रसध्वनि] का प्रतिपादन अवश्य किया था किन्तु फिर भी उन्होंने रसध्वनि को ही प्रमुखरूप से काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया था।

सुरेन्द्रदेव शास्त्री

विषय-सूची

प्रथम उद्योत

●

॥ श्रीः ॥

श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यप्रणीतो

ध्वन्यालोकः

[लोचन-आशुबोधिनी-सहितः]



प्रथम उद्योतः

स्वेच्छाकेसरिणः स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दवः ।
त्रायन्तां वो मधुरिपोः प्रपन्नार्तिच्छिदो नखाः ॥१॥

ग्रन्थ-लेखन के प्रारम्भिक-काल से ही भारत में यह परिपाटी चलती चली आ रही है कि 'ग्रन्थ-लेखन में किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित न हो तथा ग्रन्थ की समाप्ति निर्विघ्न रूप में हो जाय' इस उद्देश्य से ग्रंथ के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण रूप में ईश्वर का स्मरण करना उचित है। इस परिपाटी के अनुसार प्रायः सभी लेखकों ने ग्रंथ के प्रारम्भ में अपने-अपने इष्टदेव का स्मरण किया है। प्रत्येक लेखक अथवा रचनाकार ग्रन्थ के आरम्भ में स्वयं भगवान् का आशीर्वाद प्राप्त किया करता है। साथ ही अपने पाठकों आदि के लिये मङ्गल-कामना किया करता है।

यह मङ्गलकामना तीन प्रकार से की जा सकती है—(१) आशीर्वाद रूप में, (२) नमस्कारात्मक रूप में और (३) वस्तुनिर्देश रूप में। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्य ने आशीर्वादात्मक मङ्गलाचरण किया है—'नखाः वः त्रायन्ताम्' अर्थात् 'नख आपकी रक्षा करें'। उन्होंने नृसिंहावतारी भगवान् विष्णु का स्मरण करते हुए उपर्युक्त मङ्गलकामना की है—

अन्वयः—स्वेच्छाकेसरिणः मधुरिपोः स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दवः प्रपन्नार्तिच्छिदः नखाः वः त्रायन्ताम्।

हिन्दी अर्थ—(स्वेच्छाकेसरिण:) स्वकीय अभिलाषा से ही सिंह [नरसिंह] के स्वरूप को धारण करनेवाले, (मधुरिपो:) मधु नामक राक्षस के शत्रु विष्णु के, (स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दव:) निर्मल अपनी कान्ति से चन्द्रमा को खिन्न अथवा लज्जित करने वाले (प्रपन्नार्तिच्छिद:) शरणागतों के कष्टों अथवा दुःखों को काट देने वाले (नखा:) नाखून (व:) तुम सब [अर्थात् व्याख्याताओं, पाठकों तथा श्रोताओं] की (त्रायन्ताम्] रक्षा करें।

[लोचनम्]

अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकलां
जगद्ग्रावप्रख्यं निजरसभरात्सारयति च ।
क्रमात्प्रख्योपाख्याप्रसरसुभगं भासयति तत्
सरस्वत्यास्तत्वं कविसहृदयाख्यं विजयते ॥

अर्थात् जो 'सरस्वती का तत्व' कारणसामग्री के अंश के विना ही अपूर्व अथवा नवीन वस्तु की रचना तथा विस्तार किया करता है और पाषाण सदृश नीरस संसार को अपने रस के आधिक्य से सार [अर्थात् तत्व] मय बना दिया करता है तथा जो क्रमशः प्रख्या [कवि की प्रतिभा] और उपाख्या [वचन अथवा अभिव्यक्ति] के प्रसार से सुभग अर्थात् हृद्य होता हुआ वस्तुजात को भासित किया करता अर्थात् रमणीय बना दिया करता है वह कवियों और सहृदयों द्वारा पूर्णरूपेण उद्भासित होने वाला सरस्वती का तत्व [अर्थात् काव्य] विजय को प्राप्त हुआ करता है अर्थात् सर्वोत्कृष्ट है।

इस उपर्युक्त पद्य द्वारा लोचनकार अभिनवगुप्त ने काव्यालोक [ध्वन्यालोक] ग्रन्थ की 'लोचन' नामक व्याख्या करने के उद्देश्य से अपने अभीष्ट देव को प्रणाम किया है। तदनन्तर वे अपना परिचय निम्नलिखित श्लोकों द्वारा दे रहे हैं—

भट्टेन्दुराजचरणाब्जकृताधिवास-
हृद्यश्रुतोऽभिनवगुप्तपदाभिधोऽहम् ।
यत्किंचिदप्यनुरणन्स्फुटयामि काव्या-
लोकं स्वलोचननियोजनया जनस्य ॥

भट्ट इन्दुराज के चरणकमलों में स्थित रहकर शास्त्रों का भलीभाँति अध्ययन कर मैं 'अभिनवगुप्तपाद' अपनी लोचन नामक व्याख्या के नियोजन द्वारा अति

स्वल्प रूप में प्रतिध्वनित करते हुए लोगों के समक्ष 'काव्यालोक' [ध्वन्यालोक] नामक ग्रन्थ को स्पष्ट करने जा रहा हूँ।

तात्पर्य यह है कि 'लोचन' नामक 'ध्वन्यालोक' के टीकाकार अभिनवगुप्त अपना परिचय देते हुए यह कह रहे हैं कि मैंने 'भट्ट इन्दुराज' नामक गुरु के चरण-कमलों में निवास करते हुए अर्थात् उनके चरणकमलों में बैठकर सम्पूर्ण शास्त्रों का भली-भाँति अध्ययन किया है। अतएव सभी शास्त्रों का तत्त्व अथवा सार मेरे हृदय में विद्यमान है। मेरा नाम 'अभिनवगुप्तपाद' है। मैं अपनी लोचन नामक व्याख्या की नियोजना के द्वारा ध्वन्यालोक जैसे गूढ़ ग्रंथ को अनुरणित करते हुए लोगों के समक्ष स्पष्ट कर रहा हूँ। 'अनुरणित' का अर्थ यह है कि जिस भाँति घण्टा बजने के बाद उससे एक प्रकार की प्रतिध्वनि निकला करती है तथा वह पूर्णतया घण्टानाद के समान ही हुआ करती है, वैसे ही मैं जो कुछ भी कहूँगा वह 'ध्वन्यालोक' की प्रतिध्वनि मात्र होगी। मैं अपनी ओर से कुछ भी नहीं कहूँगा अथवा लिखूँगा।

"आशुबोधिनी" हिन्दीव्याख्याकार आचार्य डॉ० सुरेन्द्रदेवशास्त्रीकृत
मङ्गलकामना

वेदानुमोदितं वन्द्यं रसरूपं प्रजापतिम्।
विश्वरूपं परब्रह्म परमेशमुपास्महे ॥ १ ॥
ध्वन्यालोकस्य ग्रंथस्य व्याख्येयमाशुबोधिनी।
श्रुत्वा ध्यात्वा च मत्वा च साम्प्रतं क्रियते मया ॥ २ ॥
सा चाऽऽशुबोधिनी व्याख्या चन्द्रिकाह्लाददायिनी।
सहृदयान् रसज्ञांश्च रञ्जयेत् काव्यगोचरान् ॥ ३ ॥

मैं वेदों तथा समस्त शास्त्रों द्वारा अनुमोदित, वन्दनीय, रसरूप, प्रजापालक, विश्वरूप, परब्रह्म परमात्मा की उपासना करता हूँ। ध्वन्यालोक ग्रंथ की यह 'आशुबोधिनी' व्याख्या जो कि मेरे द्वारा गुरु-मुख से श्रवण करने के अनन्तर भली-भाँति चिन्तन एवं मनन कर लिखी अथवा की जा रही है, वह 'आशुबोधिनी' व्याख्या चन्द्र-चन्द्रिका के समान आह्लादक है। यह [व्याख्या] सभी सहृदयों, रसज्ञों तथा काव्यानुशीलनकर्ताओं को प्रसन्नता प्रदान करे।

[लोचनम्]

स्वयमव्युच्छिन्नपरमेश्वरनमस्कारसम्पत्तिचरितार्थोऽपि व्याख्यातृश्रोतृणाम-

विघ्नेनाभीष्टव्याख्याश्रवणलक्षणसम्पत्तये समुचिताशीः प्रकटनद्वारेण परमेश्वर-सांमुख्यं करोति वृत्तिकारः—स्वच्छेति।

अर्थात् वृत्तिकार [आनन्दवर्धन] स्वयं विच्छेदरहित अर्थात् निरन्तर परमात्मा के नमस्कार रूप सम्पत्ति [परम्परा, आधिक्य] से कृतार्थ होने पर भी व्याख्याताओं तथा श्रोताओं की बिना किसी प्रकार के विघ्न के अभीष्ट व्याख्या के श्रवणरूप फल को सुनने की पूर्ति के निमित्त समुचित आशीर्वाद के प्रकटन द्वारा परमात्मा के साम्मुख्य का सम्पादन करते हैं:—'स्वेच्छा' इत्यादि श्लोक के द्वारा।

मधुरिपोर्नखाः वो युष्मान् व्याख्यातृश्रोतृंस्त्रायन्ताम्। तेषामेव सम्बोधन-योग्यत्वात्। सम्बोधनसारो हि युष्मदर्थः त्राणं चाभीष्टलाभं प्रतिसहायका-चरणम्। तच्च तत्प्रतिद्वन्द्विविघ्नापसरणादिना भवतीति इयदत्र त्राणं विवक्षितम्, नित्योद्योगिनश्च भगवतोऽसम्मोहाध्यवसाययोगित्वेनोत्साहप्रतीते-र्वीररसो ध्वन्यते।

'स्वेच्छा केसरि०' इत्यादि मंगलाचरण सम्बन्धी श्लोक की व्याख्या करते हुए लोचनकार आचार्य अभिनवगुप्त ने यह स्पष्ट किया है कि आचार्य आनन्द-वर्धन ने उक्त मंगलाचरण में तीनों ही प्रकार की ध्वनियों से सम्बन्धित तीनों प्रकार के प्रतीयमान-अर्थों की उद्भावना भी की है। इस भाँति इसमें रस, वस्तु तथा अलङ्कार तीनों ध्वनियों की अभिव्यंजना हुई है। इन्हीं को स्पष्ट करते हुए लोचनकार कहते हैं:—'मधुरिपोः नखाः'—इत्यादि—

अर्थात् 'मधु' नामक राक्षस के विनाशक भगवान् विष्णु के नाखून तुम सभी लोगों की—व्याख्याताओं और श्रोताओं की रक्षा करें क्योंकि वे [व्याख्याता और श्रोता] ही सम्बोधन किये जाने के योग्य हैं। वस्तुतः 'युष्मत्' [वः] के अर्थ का सार [प्राण] ही है सम्बोधन [सम्बोधन किये जाने योग्य पदार्थ की उपस्थिति में ही 'युष्मद्' अथवा तुम या आप का प्रयोग हुआ करता है।]। अभीष्ट के लाभ के प्रति 'त्राण' अर्थात् रक्षा करना—सहायता प्रदान करता है और वह [सहायता प्रदान करना] उस [अभीष्ट लाभ] के प्रतिद्वन्द्वी विघ्नों को दूर कर देने आदि के द्वारा होता है। इस रूप में यहाँ 'त्राण' [रक्षा करना] विवक्षित है। नित्य उद्योग करने वाले भगवान् विष्णु के सम्मोहरहित

तथा अध्यवसाय से युक्त होने के कारण 'उत्साह' [नामक स्थायीभाव] की प्रतीति होती है। अतएव इससे वीररस ध्वनित होता है।

(आशुबोधिनी)

उद्दिष्ट व्याख्याश्रवण ही प्रस्तुत प्रयास का फल है और यह तभी सम्भव है जब कि व्याख्याता और श्रोतासमुदाय, दोनों ही त्राण अर्थात् रक्षा प्राप्त करें। रक्षा करने का अभिप्राय यह है कि उद्देश्य की सिद्धि के लिए सहायता की जाय। अभीष्ट-लाभ के विरोधी विघ्नों के दूर करने इत्यादि के द्वारा ही सहायता प्राप्त की जा सकती है। यह तभी सम्भव है जब कि आवश्यक साधन प्रदान कर दिये जायँ।

भगवान् विष्णु जिस भाँति सदैव नृसिंह स्वरूप से, मधु इत्यादि असुरों का विनाशकर समस्त विश्व के त्राण में संलग्न रहा करते हैं उसी भाँति भक्तों के मार्ग में आनेवाले विघ्नों का विनाश भी सदैव किया करते हैं। अपनी इस क्रिया में वे कभी न तो सम्मोहन में ही पड़ा करते हैं और न उसके इस अध्यवसाय में किसी प्रकार की कमी ही आया करती है। इस भाँति यहाँ 'भगवान्' के 'उत्साह' भाव की प्रतीति होती है। शास्त्रीय नियम के अनुसार विभाव इत्यादि रस सम्बन्धी चारों अङ्गों में से यदि एक की भी प्रतीति हो जाय तो अवशिष्ट अङ्गों का भी आक्षेप उसी के आधार पर कर लिया जाया करता है।

'सद्भावश्च विभावादेर्द्वयोरेकस्य वा भवेत्।
झटित्यन्यसमाक्षेपे तदा दोषो न विद्यते॥'

उपर्युक्त विवरण में 'उत्साह' भाव अभिव्यञ्जित हुआ है। अतएव उसी के आधार पर उसके आलम्बन 'मधु' इत्यादि असुर, उसके साहस, शौर्य आदि उद्दीपन विभावों, उनकी अवहेलना आदि अनुभावों तथा अभिमान आदि संचारी-भावों का आक्षेप स्वतः ही हो जाता है। इन विभाव, अनुभाव एवं संचारीभावों से पुष्टि को प्राप्त होकर 'उत्साह' भाव ही वीररस का रूप धारण कर लेता है। इस भाँति उपर्युक्त मंगलाचरण में रसध्वनि नामक प्रथम ध्वनि निसृत होती है।

[लोचनम्]

नखानां प्रहरणत्वेन प्रहरणेन च रक्षणे कर्तव्ये नखानामव्यतिरिक्तत्वेन कारणत्वात् सातिशयशक्तिता कर्तृत्वेन सूचिता, ध्वनितश्च परमेश्वरस्य व्यतिरिक्त-

करणापेक्षाविरहः, मधुरिपोरित्यनेन तस्य सदैव जगत्त्रासापसारणोद्यम उक्तः। कीदृशस्य मधुरिपोः ? स्वच्छया केसरिणः। स्वेच्छया मधुरिपोः न तु कर्मपारतन्त्र्येण, नाप्यन्यदीयेच्छया, अपि तु विशिष्टदानवहननोचिततथाविधेच्छापरिग्रहौचित्यादेव स्वीकृतनृसिंहरूपस्येत्यर्थः। कीदृशाः नखाः ? प्रपन्नानामार्तिं ये छिन्दन्ति, नखानां हि छेदकरत्वमुचितम्, आर्तेः पुनश्छेद्यत्वम्, नखान् प्रत्यसम्भावनीयमपि तदीयानां नखानां स्वेच्छानिर्माणौचित्यात् सम्भाव्यत एवेति भावः।

अथवा त्रिजगत्कण्टको हिरण्यकशिपुविश्वस्योत्क्लेशकर इति स एव वस्तुतः प्रपन्नानां भगवदेकशरणानां जनानामार्तिकारित्वान्मूर्तैवार्तिस्तं विनाशयद्भिरार्तिरेवोच्छिन्ना भवतीति परमेश्वरस्य तस्यामप्यवस्थायां परमकारुणिकत्वमुक्तम्। किञ्च ते नखाः स्वच्छेन स्वच्छतागुणेन नैर्मल्येन। स्वच्छमृदुप्रभृतयो हि मुख्यतया भाववृत्तय एव, स्वच्छायया च वक्रहृद्यरूपयाऽऽकृत्याऽऽयासितः खेदित इन्दुर्यैः, अत्रार्थशक्तिमूलेन ध्वनिना बालचंद्रत्वं ध्वन्यते। आयासनेन तत्सन्निधौ चन्द्रस्य विच्छायत्वप्रतीतिरहृद्यत्वप्रतीतिश्च ध्वन्यते, आयासकारित्वं च नखानां सुप्रसिद्धम्। नरहरिनखानां तच्च लोकोत्तरेण रूपेण प्रतिपादितम्।

अर्थात् नाखूनों के प्रहरण अर्थात् प्रहार के साधन होने से और प्रहार रूप साधन द्वारा रक्षा किये जाने में नखों के भिन्न न होने से करण [शरीरान्तर्वर्ती करण-साधन] होने के कारण कर्तृत्व के द्वारा [अभिप्राय यह है कि प्रहार करने में नख करण (साधन) होते हैं फिर भी कर्त्ता में प्रयोग किये जाने के कारण] सातिशय शक्तिमत्व को सूचित किया है। साथ ही परमेश्वर को व्यतिरिक्त [अपने शरीर से पृथक्] करण [साधन] की अपेक्षा नहीं हुआ करती है, यह ध्वनित होता है। 'मधुरिपु' इस शब्द के द्वारा उस ईश्वर का सदैव विश्व के त्रासापसारणरूप उद्यम चलता रहा करता है, यह कहा गया है। किस प्रकार के 'मधुरिपु' का ? जो अपनी इच्छा से ही सिंह [नृसिंह] बने, न कि पूर्वकर्म की परतन्त्रता के कारण और किसी अन्य की इच्छा से भी नहीं, अपि तु विशिष्ट दानव [हिरण्यकशिपु] के हनन के लिये उचित, उस भाँति की अभिलाषा के परिग्रह के औचित्य से जिन्होंने स्वयं ही सिंहरूप स्वीकार किया।

किस भाँति के नाखून ? जो कि शरणागतों के कष्टों को काट डालने [अर्थात्

निवारण करने में समर्थ हैं। निस्सन्देह नखों का [अन्य वस्तुओं को]काट डालना उचित ही है। फिर नखों के प्रति दीनता का छेद्यत्व [अर्थात् नाखूनों द्वारा दीनता का काटा जा सकना] असम्भव है। तथापि भगवान् के नखों के अपनी इच्छा से निर्माण के औचित्य के कारण सम्भावना की ही जा सकती हैं, यह भाव है।

अथवा तीनों लोकों के लिए कंटकस्वरूप हिरण्यकशिपु संसार का उत्पीडन करनेवाला है। अतः वही वस्तुतः शरणागतों अर्थात् एकमात्र भगवान् की शरण में आये हुओं के अभ्यन्तर आर्ति [दुःख] उत्पन्न करने के कारण आर्ति [दुःखों अथवा कष्टों] का साक्षात् मुर्तरूप ही है, उसको नष्ट करने वाले नखों से आर्ति ही नष्ट हो गई। इस भाँति उस दशा में भी ईश्वर की अत्यधिक कारुणिकता कही गई है। और भी—वे नाखून स्वच्छ अर्थात् स्वच्छता गुणरूप निर्मलता के द्वारा, क्योंकि स्वच्छ, मृदु, इत्यादि शब्द प्रमुखरूप से भाववृत्ति [स्वच्छता आदि धर्म के वाचक] ही हैं, तथा अपनी छाया से अर्थात् वक्र तथा हृद्यरूप आकृति के द्वारा आयासित अर्थात् खेद में डाल दिया है चंद्र को जिन्होंने। यहाँ अर्थशक्ति मूलक ध्वनि से चन्द्र का बालत्व ध्वनित होता है। [यही वस्तुध्वनि है] 'आयासित होने अथवा आयास पहुँचाने' के द्वारा नखों के समीप चन्द्रमा के विच्छायत्व [कान्तिरहित होना] तथा अहृद्यत्व की प्रतीति होती है। नखों का तो आयासकारी होना प्रसिद्ध ही है। और फिर नृसिंहरूपधारी विष्णु के नखों का वह [आयासकारी होना] लोकोत्तर रूप में प्रतिपादित है।

(आशुबोधिनी)

नाखूनों के द्वारा प्रहार किया जाता है, प्रहार के द्वारा रक्षा की जाती है। अतएव 'रक्षा करने' सम्बन्धी क्रिया के शरीर के अभ्यन्तर विद्यमान नख ही करण [साधन] हैं। मङ्गलाचरण में इन [नखों] का प्रयोग कर्ता के रूप में किया गया है। इस भाँति यहाँ नाखूनों की शक्ति की अतिशयिता ध्वनित होती है। कहने का अभिप्राय यह है कि विष्णु नखों के द्वारा अपने शरणागतों के कष्टों का निवारण नहीं करते हैं वरन् नख स्वयं ही उनके कष्टों का निवारण करते हैं। इससे नखों की सातिशय-शक्ति ही ध्वनित होती है। यही 'वस्तुध्वनि' है।

करण [साधन] दो प्रकार के हुआ करते हैं—(१) आन्तरिक, (२) बाह्य।

यथा—प्रहार करने सम्बन्धी क्रिया के बाह्य साधन हैं 'तलवार' आदि और आन्तरिक साधन हैं 'हाथ' इत्यादि। इस दृष्टि से यहाँ यह भी ध्वनि निःसृत होती है कि विष्णु को बाह्य साधनों की आवश्यकता नहीं है। शरणागतों की रक्षा करने में उनके नाखून ही पर्याप्त हैं। 'मधुरिपु' शब्द से भी यह ध्वनित होता है कि विष्णु संसार के भय को दूर करने में निरन्तर प्रयत्नशील रहा करते हैं।

विष्णु द्वारा जो नृसिंहरूप धारण किया गया वह कर्म की परतन्त्रता से धारण नहीं किया और न किसी अन्य की अभिलाषा से ही, किन्तु देवता लोग भी जिन महान् असुरों का विनाश करने में असफल रहे ऐसे असुरों का नाश करने हेतु उन्होंने अपनी इच्छा [स्वेच्छा] से ही नृसिंहरूप धारण किया। 'इच्छा' शब्द द्वारा विष्णु के कर्मपारतन्त्र्य का न होना ध्वनित होता है तथा 'स्व' शब्द द्वारा किसी अन्य की इच्छा का न होना ध्वनित होता है। ये सभी ध्वनियाँ वस्तुध्वनि के अन्तर्गत आती हैं।

यद्यपि नाखूनों का कार्य 'काटना' है किन्तु फिर भी उनके द्वारा कष्टों का काटा जाना संभव नहीं है। विष्णु ने अपनी स्वकीय इच्छा से ही नृसिंहरूप धारण किया है। अतः विष्णु के सर्वशक्तिमान् होने के कारण उनके नाखूनों का आर्तिछेदक होना संभव हो जाता है। अथवा नखों द्वारा आर्तिछेदन संभव न होने के कारण अभिधाशक्ति द्वारा निसृत अर्थ का बाध कर 'आर्ति' शब्द का लक्षणा-शक्ति द्वारा 'हिरण्यकशिपु'—यह लक्ष्यार्थ लेकर नखों का आर्तिछेदक होना स्पष्ट हो जाता है। इस भाँति यह व्यङ्ग्यार्थ भी निकल आता है कि 'हिरण्यकशिपु' ही विश्व के सभी व्यक्तियों को सर्वाधिक क्लेशदायक है। अतएव वही दुःखों अथवा कष्टों का साक्षात् मूर्त्तरूप ही है। लक्षणा का प्रयोजन भी यही है। उसके मारे जाने से शरणागतों के कष्ट स्वयं दूर हो जाते हैं। अतएव यह है—'अर्थान्तर-सङ्क्रमित वाच्य ध्वनि'। 'हिरण्यकशिपु' के विनाश से सभी शरणागतों के कष्ट दूर हो जाते हैं। अतएव यह कहना ठीक ही है कि विष्णु के द्वारा सभी के कष्ट नष्ट कर दिये गये हैं। इस दृष्टि से विष्णु का परमकारुणिक होना भी अभिव्यक्त हो जाता है।

'आयासितेन्दवः' में चन्द्रमा का आयासित होना संभव नहीं है, क्योंकि आयासित होना चेतन का धर्म है। 'चन्द्रमा' अचेतन है। अतएव यहाँ अभिधेय

अथ का बाध होकर लक्षणा द्वारा 'असौन्दर्य' अर्थ निकलता है। विष्णु के नख इतने निर्मल तथा सुन्दर हैं कि उनके समक्ष चन्द्रमा की शोभा स्वतः ही फीकी पड़ जाती है, यही लक्ष्यार्थ है। इसका प्रयोजन है–'असौन्दर्य का आधिक्य' जो व्यञ्जना शक्ति द्वारा निसृत होता है। इस स्थिति में 'आयास' के अर्थ का पूर्णरूपेण त्याग हो जाता है —इस भाँति यहाँ अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यध्वनि है।

और भी—वे नख स्वच्छता नामक गुण से युक्त हैं। मुख्य रूप से स्वच्छ, मृदु आदि शब्द धर्मवाचक ही हुआ करते हैं। नाखून स्वच्छता नामक गुणसे युक्त हैं, साथ ही उनकी छाया [आकृति] वक्र तथा हृद्य होने के कारण चन्द्रमा में आयास की उत्पत्ति करती है। नाखूनों की कान्ति से चन्द्रमा के आयासित होने से अर्थशक्तिमूलध्वनिव्यापार द्वारा नखों का बालचन्द्रत्व [द्वितीया का चन्द्रमा होना] ध्वनित होता है। 'आयासित होने' के द्वारा बालचन्द्र की मलिनता तथा अहृद्यता भी ध्वनित होती है। नाखूनों का आयासकारी होना तो सर्वविदित ही है। नृसिंहरूप विष्णु के नाखूनों में उसका प्रतिपादन लोकोत्तर रूप में किया गया है।

[लोचनम्]

किं च तदीयां स्वच्छतां कुटिलमानं चावलोक्य बालचन्द्रः स्वात्मनि खेदमनुभवति, तुल्येऽपि स्वच्छकुटिलाकारयोगेऽमी प्रपन्नार्तिनिवारणकुशलाः न त्वहमिति व्यतिरेकालङ्कारोऽपि ध्वनितः। किञ्चाहं पूर्वमेक एवासाधारणवैशद्यहृद्याकारयोगात्समस्तजनाभिलषणीयताभाजनमभवम्, अद्य पुनरेवंविधा नखाः, दशबालचन्द्राकाराः सन्तापार्तिच्छेदकुशलाश्चेति तानेव लोको बालेन्दुबहुमानेन पश्यति, न तु मामित्याकलयन्बालेन्दुरविरतमायासमनुभवतीवेत्युत्प्रेक्षापह्नुतिध्वनिरपि।

एवं वस्त्वलङ्काररसभेदेन त्रिधा ध्वनिरत्र श्लोकेऽस्मद्गुरुभिर्व्याख्यातः।

अर्थात्—और भी—उन नाखूनों की निर्मलता तथा उनके टेढ़ेपन को देख कर बालचन्द्र अपने अन्दर खेद का अनुभव करता है। 'स्वच्छता एवं कुटिलता सम्बन्धी आकृति के समान होने पर भी [अर्थात् जिस प्रकार की स्वच्छता तथा कुटिलता नाखूनों में है उसी प्रकार की स्वच्छता तथा कुटिलता मुझ बालचन्द्र में भी है।] ये नाखून शरणागतों के दुःखों का निवारण करने में कुशल हैं, मैं

तो नहीं हूँ'—यह व्यतिरेक अलङ्कार भी ध्वनित होता है। और भी—पहले मैं एकाकी ही असाधारण निर्मलता तथा हृदय को प्रिय लगने वाली आकृति के योग से सभी लोगों की चाह का पात्र था, आज फिर ये बालचन्द्राकार दस नाखून विद्यमान हैं कि जो विश्व के सन्ताप को नष्ट करने में कुशल हैं [मैं तो विरही एवं विरहिणियों को सन्ताप देने वाला हूँ।]। संसार उनका ही बालेन्दु के रूप में महान् आदर करता है, मेरा नहीं। इस भाँति बालचन्द्र निरन्तर खेद का अनुभव करता है। अतएव यह 'उत्प्रेक्षा' अलङ्कार हो गया। ये नख नहीं हैं, अपितु दस बाल चन्द्रमा ही हैं—इस रूप में यहाँ 'अपह्नुति' नामक अलङ्कार की व्यञ्जना भी हो जाती है।

इस प्रकार हमारे गुरु [भट्ट इन्दुराज] ने वस्तु, अलङ्कार और रस तीनों प्रकार की 'ध्वनि' का उक्त [मङ्गलाचरण सम्बन्धी] श्लोक में व्याख्यान किया है।

[लोचनम्]

अथ प्राधान्येनाभिधेयस्वरूपमभिदधदप्रधानतया प्रयोजनप्रयोजनं तत्सम्बद्धं प्रयोजनं च सामर्थ्यात्प्रकटयन्नादिवाक्यमाह—काव्यस्यात्मेति।

अब प्रधान रूप से इस ग्रंथ के अभिधेय सम्बन्धी स्वरूप की चर्चा करते हुए अप्रधान रूप से प्रयोजन के प्रयोजन को और उससे सम्बद्ध प्रयोजन को सामर्थ्य द्वारा प्रकट करते हुए प्रथम [आदि] वाक्य का कथन करते हैं—'काव्यस्यात्मा' इत्यादि··· से।

(आशुबोधिनी)

प्रस्तुत ग्रंथ का नाम है—'ध्वन्यालोक'। प्रधानरूप से इसका अभिधेय अथवा प्रतिपाद्य 'विषय' है:—'ध्वनि' तत्व। ध्वनि के स्वरूप का ज्ञान कराना ही इसका 'प्रयोजन' है। इस प्रयोजन का प्रयोजन है 'सहृदयमनःप्रीति' अर्थात् सहृदयजनों के मन की प्रसन्नता। इस भाँति प्रयोजन के प्रयोजन 'प्रीति' से सम्बद्ध प्रयोजन 'ध्वनि' के स्वरूप का ज्ञान। इसीका कथन ग्रंथकार द्वारा निम्नलिखित रूप में किया जा रहा है—

यहाँ विचारणीय बात यही है कि ग्रन्थ का आरम्भ करते हुए प्राचीन ग्रंथकार यह स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते थे कि प्रस्तुत ग्रंथ का 'विषय' क्या है?

उसका 'अधिकारी' कौन है? 'सम्बन्ध' क्या है? तथा 'प्रयोजन' क्या है? इन्हीं विषय-अधिकारी-सम्बन्ध-प्रयोजन को शास्त्रीय भाषा में 'अनुबन्धचतुष्टय' नाम से कहा गया है। इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए लोचनकार ने उपर्युक्त अवतरणिका दी है।

यहाँ (१) विषय है—'ध्वनि का स्वरूप'। (२) अधिकारी हैं-'सहृदय लोग'। (३) विषय के साथ 'सम्बन्ध' है—प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव' तथा सहृदय के साथ सम्बन्ध है 'उपकार्योपकारक भाव'। (४) प्रयोजन है—'मनःप्रीति' [मन की प्रसन्नता]।

ग्रन्थारम्भप्रयोजनम्

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम् ॥ १ ॥

सान्वय-अनुवादः—(बुधैः यः समाम्नातपूर्वः) काव्यतत्त्ववेत्ता विद्वान् पहले ही इस प्रकार की व्याख्या करते आये हैं कि (काव्यस्य आत्मा ध्वनिः) काव्य की आत्मा 'ध्वनि' है। (अपरे) कुछ अन्य विद्वानों ने (तस्य अभावम् जगदुः) उस [ध्वनि] का सर्वथा अभाव ही कहा है। (अन्ये) दूसरे आचार्यों ने (तम्) उस ध्वनि को (भाक्तम् आहुः) भाक्त अर्थात् लक्षणागम्य कहा है। (केचित्) कुछ अन्य लोगों ने (तदीयं तत्त्वम्) उस ध्वनि तत्व को (वाचां स्थितं अविषये ऊचुः) वाणी का अविषय कहा है। (तेन) इस प्रकार के वैमत्य के होने के कारण (सहृदयमनःप्रीतये) सहृदयों के मन को प्रसन्नता प्रदान करने के ध्येय से (तत्स्वरूपम्) उस ध्वनि के स्वरूप का (ब्रूमः) कथन करते हैं।

बुधैः—काव्यतत्त्वविद्भिः, काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति संज्ञितः, परम्परया यः समाम्नातपूर्वः सम्यक् आसमन्तादम्नातः प्रकटितः, तस्य सहृदयजनमनः प्रकाशमानस्याप्यभावमन्ये जगदुः। तदभावादिनां चामी विकल्पाः संभवन्ति।

[अनुवादः—] 'बुध' शब्द का अर्थ है—'काव्य के तत्व को जानने वाले

विद्वान् लोग'। ऐसे विद्वान् लोगों के द्वारा काव्य की आत्मा को 'ध्वनि' यह संज्ञा [नाम] दी गई है जिसे परम्परा से ही समाम्नात-[सम्यक् आ-समन्तात्-म्नातः] भली प्रकार चारो ओर से [सभी दिशाओं से] प्रकट किया गया था। सहृदय लोगों के मन में प्रकाशमान होने पर भी उस ध्वनि का अन्य अर्थात् अहृदय लोगो के द्वारा अभाव कहा गया था। उन अभाव बतलाने वालों की दृष्टि से ये [जिसका वर्णन आगे किया जायगा] तीन प्रकार के विकल्प बन सकते हैं।

[लोचनम्]

काव्यात्मशब्दसंनिधानाद् बुधशब्दोऽत्र काव्यात्मावबोधनिमित्तक इत्यभिप्रायेण विवृणोति—काव्यतत्वविद्भिरिति। आत्मशब्दस्य तत्वशब्देनार्थं विवृण्वानः सारत्वमपरशाब्दवैलक्षण्यकारित्वं च दर्शयति। इति शब्दः स्वरूपपरत्वं ध्वनिशब्दस्याचष्टे, तदर्थस्य विवादास्पदीभूततया निश्चयाभावेनार्थपरत्वायोगात्। एतद्विवृणोति—संज्ञित इति। वस्तुतस्तु न तत्संज्ञामात्रेणोक्तम्, अपि त्वस्त्येव ध्वनिशब्दवाच्यं प्रत्युत समस्तसारभूतम्। न ह्यन्यथा बुधास्तादृशामामनेयुरित्यभिप्रायेण विवृणोति—तस्य सहृदयेत्यादिना। एवं तु युक्ततरम्—इति शब्दो भिन्नक्रमो वाक्यार्थपरामर्शकः, ध्वनिलक्षणोऽर्थः काव्यस्यात्मेति यः समाम्नात इति। शब्दपरार्थकत्वे हि ध्वनिसंज्ञितोऽर्थ इति का सङ्गति? एवं हि ध्वनिशब्दः काव्यस्यात्मेत्युक्तं भवेद्, गवित्ययमाहेति यथा। न च विप्रतिपत्तिस्थानमसदेव, प्रत्युत सत्येव धर्मिणि धर्ममात्रकृता विप्रतिपत्तिरित्यलमप्रस्तुतेन भूयसा सहृदयजनोद्वेजनेन। बुधस्यैकस्य प्रामादिकमपि तथाभिधानं स्यात्, न तु भूयसां तद्युक्तम्। तेन बुधैरिति बहुवचनम्। तदेव व्याचष्टे—परम्परयेति।

अर्थात् 'काव्य की आत्मा' इस शब्द की समीपता के कारण 'बुध' शब्द यहाँ पर 'काव्य की आत्मा का ज्ञान' इस प्रयोग के लिये है। [अभिप्राय यह है कि यहाँ पर 'बुध' शब्द काव्यतत्त्ववेत्ता विद्वान्' इस अर्थ का ही अवबोधक है। इस अभिप्राय से विवरण दे रहे हैं [व्याख्या कर रहे हैं।] 'बुधैः' अर्थात् काव्यतत्व के ज्ञाता विद्वानों के द्वारा। 'आत्मा' शब्द के अर्थ को 'तत्त्व' शब्द के द्वारा प्रकट करते हुए सारत्व और दूसरे शब्दों [प्रतिपाद्यों] अर्थात् शब्दप्रतिपाद्य शास्त्रों

से विलक्षणकारिता को दिखा रहे हैं। 'इति' यह शब्द 'ध्वनि' शब्द की स्वरूप-परता को बतला रहा है। क्योंकि उस [ध्वनि] के अर्थ के विवादास्पद होने के कारण निश्चय न हो सकने से ध्वनि की अर्थवत्ता नहीं हो सकती है। इसीका विवरण दे रहे हैं–'संज्ञितः' यह शब्द। वस्तुतः उसे संज्ञामात्र नहीं कहा गया है। अपितु वह ध्वनि शब्द का वाच्य है ही–प्रत्युत वह सबका सारभूत भी है। अन्यथा बुधजन उस प्रकार ध्वनितत्त्व को आम्नात नहीं करते--इस अभिप्राय से विवरण दिया जा रहा है–'तस्य सहृदय'–इत्यादि के द्वारा। यह तो युक्तिसंगत है। 'इति' शब्द भिन्नक्रम से पठित होकर वाक्यार्थ का परामर्शक है। अर्थ होगा ध्वनि लक्षणवाला अर्थ काव्य की आत्मा होता है, ऐसा जो कहा गया है वह अर्थ इस वाक्य का हो जाता है। यदि 'ध्वनि' शब्द को 'ध्वनि' इस संज्ञामात्र के अर्थ में माना जायगा तो ध्वनि संज्ञा वाला अर्थ–ऐसा कहने पर ग्रंथ की सङ्गति ही क्या होगी? इस भाँति 'ध्वनि' शब्द काव्य की आत्मा है—ऐसा कहा जायेगा, जैसा कि 'गौं (गाय) इति अयं आह' ऐसा कहता है। यह नहीं कि विप्रतिपत्ति [आशङ्का] का स्थान बिलकुल है ही नहीं, अपितु धर्मी के होने पर धर्ममात्र के लिये उत्पन्न हुई आशङ्का होती है। इस भाँति के सहृदय लोगों को उद्विग्न करने वाली यह अप्रासङ्गिक चर्चा व्यर्थ है। किसी एक बुध [विद्वान्] का उस प्रकार का कथन प्रामादिक भी हो सकता था किन्तु अनेक विद्वानों द्वारा कथित बात को प्रामादिक कहना भी उचित नहीं है। इसी दृष्टि से 'बुधैः' में बहुवचन का प्रयोग किया गया है। उसी की व्याख्या करते हैं--'परम्परा के द्वारा' इत्यादि से।

(आशुबोधिनी)

प्रस्तुत कारिका के सम्बन्ध में विचार करने से ज्ञात होता है कि ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन के समय में ध्वनिसम्बन्धी सिद्धान्त विद्वानों के बीच चर्चा का विषय बना हुआ था। साथ ही इस सिद्धान्त को विरोधियों द्वारा किये गये विरोध का सामना भी करना पड़ा था। ध्वनि के विरोध का सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि तत्कालीन लक्षण-ग्रंथकारों ने अपने ग्रंथों में इस सिद्धान्त को नाम-मात्र के लिये भी स्थान प्रदान नहीं किया। वे लोग इस सिद्धान्त का नाम तक देना भी उचित नहीं समझते थे। ध्वनिकार द्वारा विरोधियों के सम्पूर्ण प्रति-

वादों की गम्भीरतापूर्वक विवेचना कर उनका तीन श्रेणियों में विभाजन किया गया—प्रथम वे लोग हैं कि जो ध्वनि की संज्ञा को स्वीकार करने तक के लिये तैयार नहीं अर्थात् अभाववादी लोग। दूसरे वे हैं कि जो ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षणा के अन्तर्गत करते हैं अर्थात् भाक्तलोग और तीसरे वे हैं कि जो ध्वनि की सत्ता को तो स्वीकार करते हैं किन्तु कहते यह हैं कि उसका लक्षण किया जा सकना संभव नहीं है अर्थात् अलक्षणीयतावादी लोग। ध्वनिकार ने प्रथम व तृतीय प्रकार के लोगों के लिये परोक्षभूत का प्रयोग किया है और भाक्तवादियों के लिये वर्तमान काल का। इसका यही अभिप्राय हो सकता हैं कि प्रथम व तृतीय प्रकार के लोग ध्वनिकार के समय में अतीत की कथा बन चुके थे। ध्वनिकार द्वारा उनके बारे में मात्र सुना ही गया था उनका प्रत्यक्ष नहीं किया जा सका था। भाक्तवादी लोग ध्वनिकार के समानकालीन रहे होंगे।

प्रस्तुत कारिका में 'बुध' शब्द के संसर्ग में 'काव्यात्म' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। इस काव्यात्म शब्द की समीपता ही यह बतलाती है कि 'बुध' शब्द का प्रयोग काव्य की आत्मा को जानने वाले विद्वानों के लिए ही हुआ है। इसी दृष्टि से मूल में 'बुधैः' का अर्थ किया गया है 'काव्यतत्वविद्भिः' तथा 'काव्यात्मा' में 'आत्मा' का अभिप्राय लिया गया है 'तत्व'। 'तत्व' शब्द का अर्थ होता है कि जिसका स्वरूप कभी बाधित न हो। इस भाँति 'ध्वनि' की साररूपता को अभिव्यक्त किया गया है।

कहने का अभिप्राय यह है कि 'ध्वनि' को काव्य की आत्मा कहा गया है। यहाँ 'ध्वनि' उपमेय और 'आत्मा' उपमान है। दोनों का साधर्म्य यही है कि जिस भाँति 'आत्मा' के स्वरूप का बाध किया जा सकना संभव नहीं है, उसी भाँति 'ध्वनि' के स्वरूप का भी बाध किया जा सकना संभव नहीं है। जिस भाँति प्राणिजगत् में 'आत्मा' एक तत्वभूत पदार्थ है, उसी भाँति काव्यजगत् में 'ध्वनि' भी एक सारभूत पदार्थ है।

काव्य की आत्मा को 'ध्वनि' यह संज्ञा दी है। मूल में यह कहा गया है कि 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति' 'काव्य की आत्मा को ध्वनि, यह'। इसमें प्रयुक्त 'इति' शब्द 'ध्वनि' शब्द की स्वरूपता को अथवा 'ध्वनि' शब्द के स्वरूप में तात्पर्य को बतलाता है क्योंकि अभी तक यह निर्णय नहीं किया जा सका है कि 'ध्वनि'

किस अर्थ का बोधक है ? अतएव उक्त विषयक निर्णय न होने के कारण अर्थ का उपादान नहीं हो सकता। इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर स्वरूपपरता को जताने के लिये यहाँ 'इति' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी दृष्टि से आलोक में 'ध्वनिरिति संज्ञितः' ऐसा अर्थ किया गया है। किन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। 'ध्वनि' शब्द का वाच्यार्थ भी अभिप्रेत है। उसका वाच्यार्थ तो विद्यमान है ही, साथ ही ध्वनितत्व समस्त वाङ्मय का सारभूत भी है। यदि ऐसा न होता तो बुद्धिमान लोग न तो उसे स्वीकार ही करते और न उसे प्रकाश में ही आने देते।

किन्तु उपर्युक्त व्याख्या से लोचनकार स्वयं ही सन्तुष्ट नहीं है। उपर्युक्त विवरण में उसे शब्दपरामर्शक मानकर 'ध्वनि' शब्द का स्वरूप में तात्पर्य बतलाया गया है। अतएव लोचनकार कहते हैं कि 'इति' शब्द के क्रम को बदलकर उसका अन्वय इस भाँति किया जाना चाहिये जिससे कि यह शब्द वाक्यार्थ का द्योतक हो जाय। तब 'इति' शब्द 'काव्यस्यात्मा' के पश्चात् आ जायगा और तब 'ध्वनि' का अर्थ होगा–'ध्वनिरूप अर्थ'। पूरा अर्थ इस प्रकार होगा–'ध्वनिरूप अर्थ काव्य की आत्मा है [इति=यह] जो समाम्नात है। यदि इसको शब्द-परता ही मान ली जायगी तो अर्थ होगा 'ध्वनि संज्ञा'। इस अर्थ के स्वीकार कर लेने पर ग्रंथ की सङ्गति ही नहीं बैठेगी और 'ध्वनि' शब्द ही काव्य की आत्मा के रूप में गृहीत किया जाने लगेगा जो कि सर्वथा अभीष्ट ही नहीं है। जैसे 'गो इति अयं आह' में 'गो' शब्द का अर्थ हो जाता है।

यदि 'ध्वनि' के वाच्यार्थ की सत्ता को स्वीकार कर लिया जाय तो यह प्रश्न उत्पन्न होगा कि ध्वनि के सम्बन्ध में जिन विप्रतिपत्तियों का निर्देश किया गया है उनकी सम्भावना ही न रहेगी ? इसका समाधान यह है कि विप्रतिपत्ति केवल उसी विषय में नहीं हुआ करती है कि जिसकी सत्ता विद्यमान न हो। धर्मी के विद्यमान रहने पर भी धर्ममात्र में भी विप्रतिपत्ति हो जाया करती है। जैसे शब्द की सत्ता को सभी स्वीकार करते हैं। उसके धर्म नित्यत्व, अनित्यत्व के विषय में विप्रतिपत्ति हो सकती है। इसी भाँति 'ध्वनि' की संज्ञा के बारे में किसी को भी विप्रतिपत्ति नहीं है। हाँ, उसके स्वरूप-निर्धारण के विषय में विप्रतिप्रत्तियाँ अवश्य हैं। 'ध्वनितत्व' की विद्यमानता में ही विप्रतिपत्ति होती है कि उसका अन्तर्भाव गुण, अलंकार आदि के अन्तर्गत ही कर लिया जाय अथवा उसे भाक्त

के रूप में ही मान लिया जाय अथवा उसकी पृथक् संज्ञा स्वीकार कर उसे काव्य की आत्मा के ही रूप में मान लिया जाय ?

इतना कथन ही पर्याप्त है । और अधिक अप्रासङ्गिक कथन के द्वारा सहृदयों को उद्विग्न करना उचित प्रतीत नहीं होता है ।

प्रस्तुत कारिका में 'बुध' शब्द में जो बहुवचन का प्रयोग किया गया है उससे विदित होता है कि अनेक काव्यतत्त्ववेत्ताओं द्वारा ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है । यदि 'बुध' शब्द एकवचन में प्रयुक्त रहा होता तो यह समझा जा सकता था कि यह उस तत्ववेत्ता के प्रमाद के कारण ऐसा किया गया है किन्तु अनेकों का प्रामादिक होना संभव प्रतीत नहीं होता है । परम्परया—परम्परा से—इस [परम्परा] से प्रकट होता है कि किसी विशिष्ट ग्रंथ में इस ध्वनि-सिद्धान्त का वर्णन नहीं किया गया है । विद्वान् लोग परम्परा से इसका कथन करते चले आये हैं । इसी कारण उक्त सिद्धान्त का प्रवाह अविच्छिन्न गति से चलता रहा ।

[लोचनम्]

अविच्छिन्नेन प्रवाहेण तैरेतदुक्तम् विनाऽपि विशिष्टपुस्तकेषु विनिवेशनादित्यभिप्रायः । न च बुधा भूयांसोऽनादरणीयं वस्त्वादरेणोपदिशेयुः, एतत्त्वादरेणोपदिष्टम् । तदाह—सम्यगाम्नातपूर्व इति । पूर्वग्रहणेनेदम्प्रथमता नात्र सम्भाव्यत इत्याह, व्याचष्टे च—सम्यगासमन्ताद् म्नातः प्रकटित इत्यनेन । तस्येति । यस्याधिगमाय प्रत्युत यतनीयं, का तत्राभावसम्भावना । अतः किं कुर्मः, अपारं मौर्ख्यमभावादिनामिति भावः । न चास्माभिरभाववादिनां विकल्पाः श्रुताः, किन्तु सम्भाव्य दूषयिष्यन्ते, अतः परोक्षत्वम् । न च भविष्यद्वस्तु दूषयितुं युक्तम्, अनुत्पन्नत्वादेव । तदपि बुद्ध्यारोपितं दूष्यत इति चेत्, बुद्ध्यारोपितत्वादेव भविष्यत्वहानिः । अतो भूतकालोन्मेषात् परोक्ष्याद्विशिष्टाद्यतनत्वप्रतिमानाभावाच्च लिटा प्रयोगः कृतः—जगदुरिति ।

कहने का अभिप्राय यह है कि कभी विच्छिन्न न होनेवाले प्रवाह के क्रम से उन विद्वानों ने इस ध्वनि के बारे में कहा है, विशेष प्रकार के ग्रंथों में इसकी स्थापना भी नहीं की है । अनेक विद्वज्जन किसी अनादरणीय वस्तु का उपदेश कभी आदर के साथ नहीं किया करते हैं । इसका तो आदर के साथ उपदेश किया है । इस बात को कहते हैं—'समाम्नातपूर्व' इति । अर्थात्—पहले से समाम्नात

किया है। पूर्व [पहले] शब्द के उल्लेख से—यह पहले-पहल नहीं सम्भावित किया है, ऐसा कहते हैं और व्याख्या करते हैं—सम्यक् आ समन्तात् म्नात्=प्रकटित। उसका। जिसे प्राप्त करने हेतु प्रत्युत प्रयत्न करना चाहिये, उसके अभाव की सम्भावना ही क्या हो सकती है? अतएव हम क्या करें? अभाववादियों की मूर्खता की कोई सीमा नहीं है अर्थात् अपार है। हमलोगों के द्वारा अभाववादियों के विकल्प सुने नहीं गये हैं किन्तु उनकी सम्भावना करके दोष दिखलाये जायेंगे। इसीलिये परोक्षत्व का प्रयोग किया गया है। भविष्य में होनेवाली वस्तु में तो दोष दिखलाया नहीं जा सकता क्योंकि वह तो अभी उत्पन्न ही नहीं हुई है। यदि यह कह सकें कि बुद्धि में आरोपित करके दोष निकालेंगे तो बुद्धि में आरोपित होने के कारण ही भविष्य में होने की हानि हो जाती है। अतः भूतकाल के उन्मेष से, परोक्ष होने से और विशेष रूप से अद्यतनत्व के प्रतिभास के न होने के कारण 'लिट् लकार' के द्वारा प्रयोग किया है—'जगदुः' इति।

(आशुबोधिनी)

यद्यपि किसी विशेष पुस्तक में इस ध्वनिसिद्धान्त का वर्णन नहीं किया गया है फिर भी विद्वान् लोग निरन्तर इसका प्रतिपादन करते आये हैं। अतः उसका प्रवाह तो अविच्छिन्न रूप में ही बना रहा। अनेक विद्वान् किसी भी अनादरणीय वस्तु का उपदेश कभी नहीं किया करते हैं। किन्तु इस ध्वनि का तो उपदेश अनेक विद्वानों द्वारा बड़े आदर के साथ किया गया है। यह बात 'समाम्नातपूर्वः' इस पद से पूर्ण रूप से अभिव्यक्त होती है। 'पूर्व' शब्द का प्रयोग यही स्पष्ट करता है कि इस सिद्धान्त का इस समय प्रथमबार वर्णन नहीं किया जा रहा है। इसी दृष्टि से आलोक में व्याख्या की गई है कि 'ठीक रूप में चारों ओर से यह सिद्धान्त प्रकट किया गया है। तस्य=उसका। इसका अभिप्राय यह है कि जिसके प्राप्त करने के निमित्त प्रयत्न किया जाना चाहिये उसका भी लोग अभाव बतलाते हैं। उसके अभाव की संभावना ही क्या हो सकती है? 'तस्य' यह शब्द जिस प्रकार की कण्ठध्वनि के साथ उच्चरित हुआ है उससे प्रकट होता है कि लेखक [ध्वनिकार–आनन्दवर्धन] को स्वयं अत्यधिक आश्चर्य है कि कुछ लोग उस [ध्वनि] का भी अभाव कथन करते हैं। ऐसी स्थिति में 'हम क्या करें?' यह तो अभाववादियों की महती मूर्खता है।

'जगदुः' इस क्रिया में अनद्यतन परोक्षभूत का प्रयोग हुआ है। इस 'परोक्ष-

भूत' के प्रयोग से यह स्पष्ट होता है कि अभाववादियों के विकल्प तो अभी तक सुने नहीं जा सके हैं। अतएव उनकी कल्पना करके ही उनका खण्डन किया जायेगा। भूतकाल का प्रयोग यह बतलाता है कि भविष्य में होनेवाली वस्तु का तो खण्डन किया जा सकना सम्भव ही नहीं है। पहले किसी वस्तु को हृदय में स्थापित कर लिया जाया करता है और तत्पश्चात् उस पर विचार किया जाया करता है। हृदय में स्थापित कर लेने से ही 'भूतकाल' हो जाता है। तथा अद्यतन का तो प्रतिभास होता ही नहीं है। इसी कारण 'जगदुः' इस क्रिया में अनद्यतन परोक्षभूत का प्रयोग किया गया है।

[लोचनम्]

तद्व्याख्यानायैव सम्भाव्य दूषणं प्रकटयिष्यति। सम्भावनाऽपि नेयमसम्भवतो युक्ता, अपि तु सम्भवत एव। अन्यथा सम्भावनानामपर्यवसानं स्यात् दूषणानां च। अतः सम्भावनामभिधापयिष्यमाणां समर्थयितुं पूर्वं सम्भवन्तीत्याह। सम्भाव्यन्त इति तूच्यमानं पुनरुक्तार्थमेव स्यात्। न च सम्भवस्यापि सम्भावना, अपितु वर्तमानतव स्फुटेति वर्तमानेव निर्देशः। ननु च सम्भवद्वस्तुमूलया सम्भावनया यत्सम्भावितं तद् दूषयितुमशक्यमित्याशङ्क्याह-विकल्पा इति। न तु वस्तु सम्भवति तादृक यत् इयं सम्भावना, अपि तु विकल्पा एव। ते च तत्त्वावबोधबन्ध्यतया स्फुरेयुरपि, अतएव 'आचक्षीरन्' इत्यादयोऽत्र सम्भावनाविषया-लिङ्प्रयोगा अतीतपरमार्थे पर्यवस्यन्ति। यथा—

यदि नामास्य कायस्य यदन्तस्तद्बहिर्भवेत्।
दण्डमादाय लोकोऽयं शुनः काकांश्च वारयेत्॥

इत्यत्र। यद्येवं कायस्य दृष्टता स्यात्तदैवमवलोक्येतेति भूतप्राणतैव। यदि न स्यात्ततः किं स्यादित्यत्रापि, किं वृत्तं यदि पूर्वत्र भवनस्य सम्भावनेत्ययमेवार्थ इत्यलमप्रकृतेन बहुना।

उस लिट् लकार की व्याख्या करने हेतु ही [ग्रन्थकार] संभावना करके दोषों को प्रकट करेंगे। जो संभव नहीं है, उसकी संभावना करना भी उचित नहीं है, अपितु संभव की ही संभावना करना उचित है। अन्यथा सम्भावनाओं का और दोषों का कभी अन्त ही न हो सकेगा। अतएव [ग्रंथकार] जिस संभावना का आगे चलकर कथन करेंगे उसके समर्थन के लिए 'सम्भवन्ति' ऐसा कहते

हैं। यदि 'संभाव्यन्ते' [संभावना की जाती है] ऐसा कहा गया होता तो पुनरुक्तार्थ ही हो जाता। सम्भव पदार्थ की सम्भावना नहीं की जा सकती है, अपितु उसका वर्तमान होना ही स्पष्ट है। अतः वर्तमान के द्वारा ही उसका निर्देश किया गया है। संभव वस्तुमूलक सम्भावना के द्वारा ही जिस वस्तु को सम्भावित किया गया हो उसको दूषित करना शक्य नहीं है, ऐसी आशंका करके उत्तर दे रहे हैं—'विकल्पा' इति। उस प्रकार की वस्तु तो सम्भव ही नहीं है जिससे यह संभावना की गई अपितु ये विकल्प ही हैं। और ये विकल्प तत्वज्ञान के न होने के कारण ही स्फुरित हुआ करते हैं। इसी दृष्टि से 'आचक्षीरन्' इत्यादि सम्भावनाविषयक लिङ् लकार के प्रयोग अतीत के तात्पर्यार्थ में पर्यवसित होते हैं [अभिप्राय यह है कि जिन अभावसम्बन्धी पक्षों की कल्पना की गई है वे मात्र सम्भावित पक्ष ही हैं, सम्भव नहीं है। इनका स्फुरण उन्हीं के मस्तिष्क में हो सकता है कि जिनकी बुद्धि तत्वज्ञान में कुण्ठित है। इसी बात को स्पष्ट करने हेतु 'आचक्षीरन्' इत्यादि पदों में लिङ् लकार का प्रयोग किया गया है जिसका तात्पयर्थि होता है–भूतकाल।] जैसे—

'इस शरीर के अभ्यन्तर जो कुछ भी है यदि वह बाहर हो जाय तो यह संसार डंडा लेकर कुत्तों और कौओं से उसको बचाता फिरे।'

यहाँ पर, 'यदि शरीर का इस प्रकार का देखा जाना होता तो ऐसा देखा गया होता'। इस भाँति इस वाक्य के अर्थ का प्राण भूतकाल ही है। 'यदि न होता तो क्या होता' इस स्थल पर भी। इसका अर्थ यही है कि क्या हुआ यदि पहले की ही तरह बाहर होने की सम्भावना नहीं हुई। इस भाँति निषेध पक्ष में भी यही अर्थ है। इस प्रकार की अप्रासङ्गिक चर्चा का अधिक होना व्यर्थ ही है।

(आशुबोधिनी)

उस ध्वनि की व्याख्या करने के लिये ही पक्षों की सम्भावना कर उनका खण्डन किया जायेगा। वास्तविकता तो यह है कि परोक्षभूत का प्रयोग मात्र सम्भावना का ही द्योतक नहीं हुआ करता है अपितु वह किसी प्राचीन परम्परा की ओर भी संकेत किया करता है जिसका ज्ञान ध्वनिकार को था। 'सम्भवन्ति' इस क्रिया के प्रयोग का भी अभिप्राय यह है कि जो असम्भव है उसको तो

सम्भावना की ही नहीं जा सकती है। यदि असम्भव की भी संभावना स्वीकार्य हो जाय तो न तो सम्भावनाओं का ही अन्त अथवा कोई सीमा हो सकेगी और न दोषों की ही परिसमाप्ति हो सकेगी। अतएव सम्भावना उसी की हुआ करती है जिसका होना संभव हुआ करता है, यही सिद्धान्त पक्ष है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए जिन सम्भावित पक्षों का आगे निरूपण किया जाना है उनके लिए पहले ही 'संभवन्ति' इस क्रिया का प्रयोग किया गया है। तात्पर्य यह है कि जो संभव है उसी की संभावना की जा सकती है अर्थात् संभव संभावना का मूल अथवा विषय हुआ करता है। ऐसी स्थिति में 'संभाव्यन्ते' [सम्भावित होते हैं] इस कर्मवाच्य क्रिया का प्रयोग कर देते तो जो सम्भावना आगे 'आचक्षीरन्' [लिङ् लकार] के रूप में कही जाने वाली है वह यहीं उक्त हो जाती और इस भाँति पुनरुक्ति ही होती। 'संभावित होते हैं' का स्पष्ट अर्थ है कि संभावना किये जाते हैं। दूसरी बात यह है कि इसके समर्थन में यह कहना भी अनुचित ही होगा कि 'संभव' की भी संभावना क्यों नहीं कर ली जाती है? इसी दृष्टि से 'सम्भवन्ति' इस कर्तृवाच्य क्रिया का ही प्रयोग किया गया है, कर्मवाच्य सम्बन्धी 'संभाव्यन्ते' का नहीं। सम्भवन्ति में वर्तमान काल है। इसका तात्पर्य यह है कि जो वस्तु संभव है वह केवल संभावना का ही विषय नहीं हुआ करती है, वरन् वर्तमानता तो उसमें रहा ही करती है।

अभी यह निर्णय किया जा चुका है कि सम्भावना संभव की ही हुआ करती है। ऐसी स्थिति में यह आशंका उत्पन्न होती है कि जो वस्तु संभव है उसमें दोष देना कहाँ तक युक्तिसंगत होगा? अर्थात् जब कि ध्वनि के विरुद्ध पक्ष संभव हैं तो उनमें दोष दिखलाना युक्तिसंगत न होगा। इस आशंका के उत्तर में आलोककार द्वारा विकल्प शब्द का प्रयोग किया गया है। कहने का अभिप्राय यह है जिस वस्तु की सम्भावना की जा रही है वह सर्वथा संभव नहीं है; क्योंकि वह है तो संभावना ही। फिर इसके लिये 'सम्भवन्ति' क्रिया का प्रयोग क्यों किया गया? इसका उत्तर यह है कि तत्त्वज्ञान की दृष्टि से जिसकी बुद्धि कुण्ठित रहा करती है उनके मस्तिष्क में ये पक्ष स्फुरित हो सकते हैं। इसी कारण 'आचक्षीरन्' आदि क्रियाओं में लिङ् लकार का प्रयोग किया गया है जिनका अर्थ होता है संभावना तथा जिनका अन्त 'अतीत रूप तात्पर्यार्थ' में हुआ करता है। जैसे—

'इस शरीर के अभ्यन्तर जो कुछ है यदि वह बाहर रहा होता तो यह संसार डंडा लेकर कुत्ते और कौओं को ही भगाया करता।' इस स्थल पर 'यदि ऐसा शरीर दृष्टिगोचर होता तो इस प्रकार के कृत्य दृष्टिगोचर होते'। इस वाक्य का अन्त भूतकाल में ही होता है। ऐसा हम केवल विधि-वाक्यों में ही नहीं पाते हैं, अपितु निषेध-वाक्यों में भी सम्भावनार्थक लिङ् लकार का तात्पर्य अतीत में ही हुआ करता है। जैसे—'यदि शरीर के अन्दर जैसा बाहर नहीं हुआ होता तो कुत्ते और कौओं से शरीर की रक्षा भी नहीं करनी पड़ी होती।' इस भाँति निषेध-वाक्य में भी संभावनार्थक लिङ् का प्रयोग भूत [अतीत] के अर्थ में ही पर्यवसित हुआ है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि विधि तथा निषेध दोनों ही दृष्टियों से लिङ् का अर्थ 'सम्भावना' है।

[विशेष—ऊपर जो 'लिङ्' लकार के 'संभावना' रूप अर्थ का विवरण दिया गया है उसका ग्रंथ के मूल विषय से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह तो लिट् प्रयोग का लिङ् प्रयोग से आचार्य द्वारा की गई व्याख्या के समर्थन में लोचनकार ने किया है। इसीलिये वे यह कहते हुए विरत होते हैं कि अधिक अप्रस्तुत चर्चा व्यर्थ है।]

प्रस्तुत में जो वस्तु संभावना से संभावित है वह यहाँ अभिप्रेत नहीं है। यहाँ पर तो अभिप्रेत वही है कि जो तत्वज्ञान के अभाव में स्फुरित हुआ करते हैं अर्थात् 'विकल्प' रूप की जो यहाँ सम्भावना कर दूषणीय हैं तथा उनको ही यहाँ 'संभव' कहा गया है।

इस स्थल पर 'विकल्प' द्वारा यह दर्शाया गया है कि जिन पक्षों की कल्पना की जा रही है वे वस्तुतः सम्भावनायोग्य नहीं हैं, केवल तत्वज्ञान-शून्य व्यक्ति ही उनकी संभावना कर सकते हैं। 'सत्य सदृश प्रतीत होनेवाले किन्तु परमार्थरूप से असत्य प्रमाणों तथा युक्तियों के आधार पर विरुद्ध कल्पना कर लेने का ही नाम है 'विकल्प'। इसकी व्युत्पत्ति है:—'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशुन्यो विकल्पः'॥ (पातञ्जलदर्शन)। अर्थात् जहाँ वस्तु की सत्ता तो न हो; किन्तु शब्दज्ञान मात्र से जिसकी प्रतीति होती हो उसे 'विकल्प' कहते हैं। ध्वनिविरोधी अभाववाद से सम्बन्धित जिन तीन विकल्पों का आगे वर्णन किया जायगा वे सभी विकल्प इसी भाँति के हैं।

[लोचनम्]

तत्र समयोपेक्षणेन शब्दोऽर्थप्रतिपादक इति कृत्वा वाच्यव्यतिरिक्तं नास्ति व्यङ्ग्यम्, सदपि वा तदभिधावृत्त्याक्षिप्तं शब्दावगतार्थबलाकृष्टत्वाद्भाक्तम्, तदनाक्षिप्तमपि वा न वक्तुं शक्यं कुमारीष्विव भर्तृसुखमतद्वित्सु इति त्रय एवैते प्रधानविप्रतिपत्तिप्रकाराः ।

'समय अर्थात् संकेत की अपेक्षा करते हुए शब्द अर्थ का प्रतिपादक होता है' ऐसा मानकर वाच्य से भिन्न व्यङ्ग्य नहीं होता है अथवा यदि होता भी है तो वह अभिधावृत्ति के द्वारा आक्षिप्त होकर शब्द के ज्ञात अर्थ के बल पर आकृष्ट किया गया हुआ भाक्त [गौण] ही है। वह आक्षिप्त न हुआ भी किसी प्रकार वाणी के द्वारा कहा नहीं जा सकता जिस भाँति कुमारियों के लिये पति के सुख के सम्बन्ध में कुछ भी कह सकना सम्भव नहीं है। इस भाँति विप्रतिपत्ति के ये तीन ही प्रधान प्रकार हैं।

(आशुबोधिनी)

अब लोचनकार ध्वनि के अभावपक्ष में मूलकारिका के आधार पर पहले संक्षेप में निर्दिष्ट इन तीन विकल्पों का कथन करते हैं। (१) प्रथम अभावपक्ष-वादी विकल्प— इसके अनुसार 'ध्वनि' नाम का कोई तत्व नहीं है क्योंकि वही शब्द अर्थ का प्रतिपादक हुआ करता है कि जिसका संकेत ग्रहण हो चुका हो। सङ्केतित अर्थ को 'वाच्यार्थ' नाम से कहा जाता है। इसके अतिरिक्त जब शब्द का कोई अन्य अर्थ हो सकना संभव नहीं है तब व्यङ्ग्य अर्थ कल्पना करना गलत ही होगा। अतएव 'ध्वनि' नाम का कोई तत्व है ही नहीं। (२) भाक्त-वादी विकल्प—यदि वाच्यार्थ से भिन्न कोई अन्य अर्थ संभव भी है तो वह अभि-धावृत्ति से आक्षिप्त [अर्थात् अभिधा की पुच्छभूत वृत्ति अर्थात् लक्षणा से आक्षिप्त उसका सहयोगी अर्थ ही हो सकता है। इसका समावेश लक्ष्यार्थ के अन्तर्गत हो जायेगा। इस भाँति शब्द के ज्ञात अर्थ के बल पर आक्षिप्त होने के कारण उसे 'भाक्त' [गौण] ही कहा जायगा। अतएव पृथक से व्यञ्जनावृत्ति को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। (३) तृतीय अलक्षणीयतावादी विकल्प— यदि कोई ऐसा अर्थ भी निकल सकना संभव है कि जिसका वाच्यार्थ से कोई किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है तथा जिसका वाच्यार्थ से आक्षिप्त किया जा सकना भी संभव

नहीं हैं तो यह ऐसा ही होगा कि जैसे पुरुष के सहवास के आनन्द से अनभिज्ञ कुमारियों को उस सुख का परिचय कराया जा सकना असम्भव है।

उपर्युक्त तीनों विप्रतिपत्तियों से संबन्धित तीनों विकल्पों को यहाँ तीन पक्षों के रूप में प्रदर्शित किया जा रहा है—

विप्रतिपत्तियों का विश्लेषण—

ऊपर जिन तीन विप्रतिपत्तियों [आशंकाओं] का विकल्पों के रूप में वर्णन किया गया है, अब उनका यहाँ संक्षेप में विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है।

'ध्वन्यालोक' ध्वनि का प्रतिपादक ग्रन्थ है। इससे पूर्व 'भरतमुनि' का 'नाट्यशास्त्र', 'भामह' का 'काव्यालंकार', इस काव्यालंकार पर उद्भट द्वारा लिखी गई 'भामहविवरण' नामक टीका, 'वामन' द्वारा रचित–'काव्यालंकारसूत्र' तथा 'रुद्रट' द्वारा 'काव्यालंकार' प्रमुखरूप से इन पाँच ग्रंथों की रचना की जा चुकी थी। इन पाँचों में भी 'भामहविवरण' तो अनुपलब्ध है। हाँ, 'ध्वन्यालोक' की 'लोचन' नामक टीका में इसका उल्लेख अधिक रूप में उपलब्ध होता है। उपर्युक्त पाँचों आचार्यों ने 'ध्वनि' नाम से ध्वनि का प्रतिपादन कहीं भी नहीं किया है तथा न उसका खण्डन ही, अतएव यह अनुमान किया जा सकता है कि ये पाँचों 'ध्वनि' को नहीं मानते थे। ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्धन ने उपर्युक्त ग्रंथों के आधार पर ही ध्वनिविरोधी तीन पक्षों को बनाया होगा—(१) अभाववादी पक्ष (२) भाक्तवादी पक्ष और तृतीय (३) अलक्षणीयतावादी पक्ष। इन्हीं तीनों पक्षों का निर्देश आनन्दवर्धनाचार्य ने 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति' इत्यादि कारिका में 'तस्याभावम्', 'भाक्तम्' तथा 'वाचां स्थितविषये' शब्दों द्वारा किया गया है। इन तीनों पक्षों में उत्तरोत्तर श्रेष्ठता की प्रतीति होती है। इनमें से प्रथम अभाववादी पक्ष द्वारा प्राचीन आचार्यों के ग्रंथों को ध्वनि का अभावबोधक माना गया है, ऐसा उनका भ्रम अथवा विपर्यय ज्ञान रहा है। अतएव इस पक्ष को विपर्ययमूलक पक्ष कहा गया है। यह पक्ष पूर्णरूपेण हेय अथवा निकृष्ट पक्ष है। द्वितीय भाक्तवादी पक्ष द्वारा भामह के 'काव्यालंकार' तथा उस पर उद्भट द्वारा लिखी गई टीका में 'गुणवृत्ति' शब्द के प्रयोग को देखकर 'ध्वनि' को 'भाक्त' नाम से कहा गया है। उनका यह पक्ष सन्देहमूलक है। अतएव 'ध्वनि' का स्पष्ट निषेध न करने के कारण इसे मध्यम पक्ष समझा जा सकता है। तृतीय–अलक्ष-

णीयतावादी पक्ष का कथन है कि प्राचीन आचार्यों द्वारा 'ध्वनि' का स्पर्श तो किया गया किन्तु उसका लक्षण नहीं किया गया। अतएव उसका कोई लक्षण किया जाना संभव नहीं है। यह पक्ष प्रथम पक्ष की भाँति न तो ध्वनि का स्पष्ट निषेध ही करता है और न द्वितीय पक्ष की भाँति 'सन्देह' की दृष्टि से उसका अपह्नव ही करता है। मात्र वह लक्षण करना नहीं जानता है। अतएव यह पक्ष 'अज्ञानमूलक' पक्ष है तथा तीनों पक्षों में सबसे कम दूषित पक्ष है।

[लोचनम्]

तत्राभावविकल्पस्य त्रयः प्रकाराः—शब्दार्थगुणालङ्काराणामेव शब्दार्थशोभाकारित्वाल्लोकशास्त्रातिरिक्तसुन्दरशब्दार्थमयस्य काव्यस्य न शोभाहेतुः कश्चिदन्योऽस्ति योऽस्माभिर्न गणितः इत्येकः प्रकारः, यो वा न गणितः स शोभाकार्येव न भवतीति द्वितीयः, अथ शोभाकारी भवति तर्ह्यस्मदुक्त एव गुणे वालङ्कारे वान्तर्भवति, नामान्तरकरणे तु कियदिदं पाण्डित्यम्।

अर्थात् उनमें से प्रथम अभाववादी विकल्प के तीन प्रकार हैं—(१) शब्दगुण और अर्थगुण एवं शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कारों के ही शब्द और अर्थ के शोभाकारक धर्म के कारण लोक तथा शास्त्र से भिन्न सुन्दर शब्द एवं अर्थ से निर्मित काव्य की शोभा का हेतु कोई अन्य [धर्म] नहीं है कि जिसकी गणना न की गई हो, वह शोभाकारी होगा ही नहीं यह दूसरा प्रकार है। और यदि कोई ऐसा है तो हमारे द्वारा कथित गुण अथवा अलंकार में उसका अन्तर्भाव हो जाता है, [यह है तीसरा प्रकार]। केवल उसका दूसरा नाम रख लेने में कौन सा पाण्डित्य है ?

(आशुबोधिनी)

अभाववादी विकल्प [पक्ष] के तीन प्रकार हैं। प्रथम प्रकार में शब्द और अर्थ ही काव्य के शरीर हुआ करते हैं। शब्द तथा अर्थ में शोभा का आधान करने वाले धर्म ही शब्दगुण, अर्थगुण, शब्दालंकार और अर्थालंकार कहे जाते हैं। इसके अतिरिक्त कोई अन्य शोभाधायक धर्म है ही नहीं, जिनकी गणना इनके अन्तर्गत न की जाती हो। द्वितीय प्रकार में साहित्यशात्र में जिन शोभाधायक धर्म की गणना अब तक नहीं की गई है वह किसी भाँति शोभाधायक हो ही नहीं सकता है। ऐसी स्थिति में गुण तथा अलंकार के अतिरिक्त किसी अन्य धर्म की

चर्चा करना व्यर्थ ही होगा। तृतीय प्रकार में यदि ऐसा कोई शोभाधायक धर्म प्राप्त भी हो जाय तो उसका अन्तर्भाव गुण अलंकार में ही हो जायेगा। यह दूसरा नाम रख देने में ही आपका कौन सा पाण्डित्य है?

[लोचनम्]

अथाप्युक्तेषु गुणेष्वलङ्कारेषु वा नान्तर्भावः, तथापि किंचिद्विशेषलेशमाश्रित्य नामान्तरकरणमुपमाविच्छित्तिप्रकाराणामसंख्यत्वात्। तथापि गुणालङ्कारव्यतिरिक्तत्वाभाव एव। तावन्मात्रेण च किं कृतम्? अन्यस्यापि वैचित्र्यस्य शक्योत्प्रेक्षत्वात्। चिरन्तनैर्हि भरतमुनिप्रभृतिभिर्यमकोपमे एव शब्दार्थालङ्कारत्वेनेष्टे, तत्प्रपञ्चदिक्प्रदर्शनं त्वन्यैरलङ्कारकारैः कृतम्। तद्यथा–'कर्मण्यण्' इत्यत्र कुम्भकाराद्युदाहरणं श्रुत्वा स्वयं नगरकारादिशब्दा उत्प्रेक्ष्यन्ते, तावता क आत्मनि बहुमानः। एवं प्रकृतेऽपीति तृतीयः प्रकारः। एवमेकस्त्रिधा विकल्पः। अन्यौ च द्वाविति पञ्च विकल्पा इति तात्पर्यार्थः।

यदि ध्वनि नामक शोभाधायक धर्म का कहे हुए गुणों और अलङ्कारों में अन्तर्भाव नहीं होता है तथा कुछ विशेषता का अंश लेकर दूसरा नाम रखा जाता है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि उपमा के ही विच्छित्ति (वैचित्र्य) प्रकार असंख्य होते हैं। तथापि गुणों और अलङ्कारों से [उस शोभाधायक तत्व का] व्यतिरिक्तत्व नहीं बनता है और उतने मात्र से होता भी क्या है? क्योंकि दूसरे प्रकार के वैचित्र्य की भी उत्प्रेक्षा की जा सकती है। जैसाकि प्राचीन भरतमुनि आदि आचार्यों ने यमक तथा उपमा को ही शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार के रूप में स्वीकार किया है। उनके प्रपञ्च की दिशा का प्रदर्शन तो अन्य अलङ्कारकारों ने कर दिया। वह जैसे—'कर्मण्यम्' इस सूत्र में 'कुम्भकार' इत्यादि उदाहरण को सुनकर स्वयं 'नगरकार' आदि शब्दों की उत्प्रेक्षा कर ली जाया करती है। केवल उतने ही मात्र से, कौन अपने में बहुत अधिक सम्मान देने की बात है? इसी भाँति प्रकृत विषय में भी यह [अभाव–विकल्प का] तीसरा प्रकार है। इस भाँति एक [प्रथम] विकल्प तीन प्रकार और अन्य दो [अवशिष्ट] विकल्प मिलकर पाँच विकल्प हो जाते हैं, यही तत्पर्यार्थ है।

(आशुबोधिनी)

यदि यह कहो कि उक्त गुणों तथा अलङ्कारों में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं

हो सकता है तो हम यह स्वीकार करेंगे कि उपमा आदि के असंख्य वैचित्र्य के प्रकारों में यह भी एक होगा अर्थात् उपमा आदि किसी भी अलङ्कार के प्रकारों के अन्तर्गत इस ध्वनि का भी प्रकार निकल ही आयेगा। ऐसी स्थिति में भी ध्वनि गुणों अथवा अलङ्कारों से व्यतिरिक्त सिद्ध नहीं होती है। मात्र दूसरा नाम रख देने से ही क्या हो जायेगा। ध्वनि ही एक क्या और भी अनेक प्रकार के वैचित्र्यों की भी कल्पना की जा सकती है। भरतमुनि आदि प्राचीन आचार्यों ने शब्दालङ्कार के रूप में 'यमक' को और अर्थालङ्कार के रूप में 'उपमा' को ही स्वीकार किया था। फिर पश्चाद्वर्ती अन्य अलङ्कारशास्त्रियों ने इन्हीं दो अलङ्कारों की दिशा में उन्हीं के प्रपञ्च [विस्तार] के रूप में अलङ्कारों की कितनी अधिक संख्या बढ़ा दी। कहने का अभिप्राय यह है जिस भाँति यमक और उपमा से अतिरिक्त अन्य अलङ्कारों का अन्तर्भाव शब्दालङ्कार 'यमक' और अर्थालंकार 'उपमा' में ही किया जा सकता है उसी प्रकार से यदि ध्वनि नामक कोई शोभाधायक धर्म अथवा चारुत्व का हेतु है तो उसका भी अन्तर्भाव इन्हीं में किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में नया नामकरण करने की क्या आवश्यकता है? जैसे व्याकरण के सूत्र 'कर्मण्यण' में हम देखते हैं कि इससे 'कुम्भकारः' रूप बनता है। उसी से 'नगरकारः' भी बन सकता है। इसमें कोई नवीनता नहीं मानी जाया करती है। थोड़े से परिवर्त्तन आदि से यह समझना कि हमने कोई नई कल्पना की है तो यह हास्यास्पद ही होगा।

इस भाँति अभाववाद सम्बन्धी प्रथम विकल्प के तीन पक्ष तथा दो अन्य विकल्प मिलकर पाँच विकल्प ही ध्वनि के विरोध में सम्भव हैं। आगे इन्हीं पर क्रमशः विचार किया जायगा।

ध्वन्यालोकः

तत्र केचिदाचक्षीरन्—शब्दार्थशरीरन्तावत्काव्यम्। तत्र च शब्दगताश्चारुत्वहेतवोऽनुप्रासादयः प्रसिद्धा एव। अर्थगताश्चोपमादयः। वर्णसंघटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते। तदनतिरिक्तवृत्तयो वृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः ता अपि गताः श्रवणगोचरम्। रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः। तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिर्नामेति।

(१) वहाँ कोई [अभाववादी] कह सकते हैं कि काव्य शब्दार्थशरीर-

वाला है [अर्थात् शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं।] और उनमें शब्दगत [शब्द के स्वरूपगत] चारुत्व के हेतु अनुप्रास आदि [शब्दालङ्कार] अनुप्रास आदि और अर्थगत [अर्थ के स्वरूपगत] चारुत्व हेतु उपमा आदि [अर्थालङ्कार] प्रसिद्ध ही हैं। और [इन शब्द तथा अर्थ के संघटनागत चारुत्व हेतु] वर्ण-संघटनाधर्म जो माधुर्य आदि [गुण] हैं वे भी प्रतीत होते हैं। उन [अलंकार और गुणों] से अभिन्न रहनेवाली वृत्तियाँ भी, जो किन्हीं [भट्टोद्भट] के द्वारा उपनागरिका आदि नामों से प्रकाशित हुई हैं वे भी श्रवणगोचर हुई हैं और [माधुर्य आदि गुणों से अभिन्न] वैदर्भीप्रभृति रीतियाँ भी [सुनने में आई हैं।] किन्तु उन सबसे अतिरिक्त यह ध्वनि नाम का कौन-सा नया पदार्थ है ?

[लोचनम्]

तानेव क्रमेणाह— शब्दार्थशरीरं तावदित्यादिना। तावद्ग्रहणेन कस्याप्यत्र न विप्रतिपत्तिरिति दर्शयति। तत्र शब्दार्थौ न तावद्ध्वनिः, यतः संज्ञामात्रेण हि को गुणः। अथ शब्दार्थयोश्चारुत्वं ध्वनिः। तथापि द्विविधं चारुत्वं स्वरूपमात्रनिष्ठमुपमादिभ्यः। संघटनापर्यवसितं त्वर्थगुणेभ्य इति न गुणालङ्कारव्यतिरिक्तो ध्वनिः कश्चित्।

संघटनाधर्मा इति। शब्दार्थयोरिति शेषः। यद् गुणालङ्कारव्यतिरिक्तं तच्चारुत्वकारि न भवति, नित्यानित्यदोषा असाधुदुःश्रवादयः इव। चारुत्व-हेतुश्च ध्वनिः, तन्न तद्व्यतिरिक्त इति व्यतिरेकी हेतुः।

उन्हीं विकल्पों का कथन क्रम से करते हैं—'काव्य का शरीर शब्द और अर्थ है' इत्यादि के द्वारा 'तावत्' शब्द यह सूचित करता है कि इस बारे में [ध्वनिवादी सहित] किसी को भी विप्रतिपत्ति [विरुद्ध आशंका] नहीं है। उनमें शब्द और अर्थ तो ध्वनि नहीं हैं क्योंकि संज्ञामात्र से क्या लाभ ? [अर्थात् शब्द और अर्थ का ही दूसरा नाम 'ध्वनि' रख देना निरर्थक है।] यदि शब्द और अर्थ की जो चारुता है वह ध्वनि है तो चारुत्व भी दो प्रकार का होता है— (१) स्वरूपमात्र में रहनेवाला और (२) वर्णसंघटना में रहनेवाला। उनमें से स्वरूपमात्रकृत चारुत्व शब्दालंकारों द्वारा और संघटनाश्रित चारुत्व शब्दगुणों के द्वारा होता है। इसी भाँति अर्थ के स्वरूपमात्र में रहनेवाला चारुत्व उपमा आदि अलंकारों से तथा संघटना में पर्यवसित होनेवाला चारुत्व अर्थगुणों से हुआ करता

है। इस प्रकार गुणों और अलंकारों से भिन्न ध्वनि नाम का कोई पदार्थ नहीं है।

'संघटनाधर्मा इति' शब्द और अर्थ के यह शेष हैं। जो गुणों और अलंकारों से व्यतिरिक्त हैं वे चारुत्वकारी नहीं होते हैं। जैसे—असाधु और दुःश्रव आदि नित्य-अनित्य दोष और ध्वनि [तो] चारुत्व का हेतु है। अतः वह [गुणों और अलंकारों] से व्यतिरिक्त नहीं है, यह व्यतिरेकी हेतु है।

(आशुबोधिनी)

'शब्दार्थशरीरं तावत् काव्यम्' में तावत् शब्द का प्रयोग किया गया है। यह शब्द यह प्रकट करता है कि 'शब्द और अर्थ ही काव्य के शरीर हैं', इस सिद्धांत में सभी का विश्वास है। अर्थात् इस सिद्धान्त में किसी का विरोध नहीं है। [अधिकांश आचार्यों ने शब्द और अर्थ के साहित्य को ही 'काव्य' माना है। जैसे—'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् (भामह)', 'तददोषौ शब्दार्थौ' इत्यादि (मम्मट), इत्यादि-२। जिन आचार्यों ने केवल शब्दगत ही 'काव्य' को माना है उन्होंने भी अर्थ के साहचर्य की अनिवार्यता स्वीकार की है जैसे—'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' (दण्डी), 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' (पण्डितराज जगन्नाथ)]।

अब यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि आप शब्द और अर्थ को ही 'ध्वनि' कहते हैं अथवा उनके किसी वैशिष्ट्य को ? आप शब्द और अर्थ को तो ध्वनि कह नहीं सकते हैं क्योंकि यह तो काव्य के शरीर हैं और ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा गया है। ऐसी स्थिति में शरीर और आत्मा दोनों एक हो जावेंगे जो कि किसी को भी अभीष्ट नहीं है क्योंकि दोनों की सत्ता पृथक्-पृथक् है। अतएव आप शब्द और अर्थ को ध्वनि नहीं कह सकते हैं। ऐसी स्थिति में शब्द और अर्थ के वैशिष्ट्य को ही 'ध्वनि' कहना होगा अर्थात् जिससे शब्द और अर्थ का चारुत्व हो अथवा शब्द और अर्थ के चारुत्व का जो हेतु हो उसी को ध्वनि कहा जा सकता है। यह चारुत्व दो प्रकार का होता है—(१) स्वरूपगत चारुत्व और (२) संघटनाश्रित चारुत्व। इनमें शब्दों के स्वरूप मात्र में रहनेवाला चारुत्व शब्दालंकारों द्वारा तथा संघटनाश्रित चारुत्व शब्द-गुणों द्वारा गतार्थ होता है। इसी भाँति अर्थों के स्वरूपमात्र में रहनेवाला चारुत्व अर्थालंकारों द्वारा तथा संघटना में पर्यवसित होनेवाला चारुत्व अर्थगुणों के द्वारा गतार्थ हो जाता है।

वस्तुतः गुण और अलंकार स्वयं चारुत्व न होकर चारुत्व के हेतु ही हुआ करते हैं। अतएव शब्द और अर्थ के चारुत्व को तो 'ध्वनि' नहीं कहा जा सकता है, शब्द और अर्थ के चारुत्व का जो हेतु है उसे ही 'ध्वनि' नाम से कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति में चारुत्व-हेतु रूप ध्वनि का चारुत्व-हेतु रूप गुण और अलंकारों में अन्तर्भाव हो जायगा। अतएव गुण और अलंकारों से भिन्न 'ध्वनि' नाम का कोई पदार्थ हो ही नहीं सकता है।

मूल में जो 'संघटनाधर्म' शब्द का प्रयोग हुआ है उसका अभिप्राय है—शब्द और अर्थ के संघटना धर्म। अभाववादी द्वारा अपने पक्ष की पुष्टि में 'केवल-व्यतिरेकी अनुमान' का आश्रय लिया गया है। अनुमान इस प्रकार बनता है—

'यो हि गुणालङ्कारव्यतिरिक्तो भवति स चारुत्वहेतुर्न भवति, यथा असाधुत्व-दुश्रवत्वादिको दोषः। ध्वनिः गुणालङ्कारव्यतिरिक्तत्वाभाववान्, चारुत्वहेतुत्वात्।'

जो पदार्थ गुण, अलंकारों से भिन्न होते हैं वे चारुत्व हेतु नहीं होते हैं, जैसे नित्य दोष 'असाधु' इत्यादि, अनित्यदोष 'दुःश्रव' इत्यादि–गुण–अलंकारों से भिन्न होने के कारण चारुत्व के हेतु नहीं होते हैं। 'ध्वनि' तो चारुत्व का हेतु है। अतएव वह गुण और अलंकारों से भिन्न नहीं है। जो-जो चारुत्व के हेतु हुआ करते हैं वे-वे गुण-अलंकार से भिन्न नहीं हुआ करते है। अतएव यह कहना उचित ही है कि चारुत्व का हेतु होने के कारण 'ध्वनि' का गुणों अथवा अलंकारों में ही अन्तर्भाव हो जायगा। इस स्थिति में उसे पृथक् नया नाम देना उचित नहीं है।

[लोचनम्]

ननु वृत्तयो रीतयश्च यथा गुणालङ्कारव्यतिरिक्ताश्चारुत्वहेतवश्च तथा ध्वनिरपि तद्व्यतिरिक्तश्च चारुत्वहेतुश्च भविष्यतीत्यसिद्धो व्यतिरेक इत्यनेनाभिप्रायेणाह—तदनतिरिक्तवृत्तय इति। नैव वृत्तिरीतिनाम् तद्व्यतिरिक्तत्वं सिद्धम्। तथा ह्यनुप्रसानामेव दीप्तमसृणमध्यमवर्णनीयोपयोगितया परुषत्व-ललितत्वमध्यमत्वस्वरूपविवेचनाय वर्गत्रयसम्पादनार्थं तिस्रोऽनुप्रासजातयो वृत्तय इत्युक्ताः, वर्तन्तेऽनुप्रासभेदा अस्विति। यदाह—

सरूपव्यञ्जनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु।
पृथक्पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा ॥ इति ॥

पृथक्पृथगिति। परुषानुप्रासा नागरिका। मसृणानुप्रासा उपनागरिका, ललिता। नागरिकया विदग्धया उपमितेति कृत्वा मध्यमकोमलपरुषमित्यर्थः। अतएव वैदग्ध्यविहीनस्वभावसुकुमारापरुषग्राम्यवनितासादृश्यादियं वृत्तिर्ग्राम्येति। तत्र तृतीयः कोमलानुप्रास इति वृत्तयोऽनुप्रासजातय एव।

अब यहाँ ध्वनिवादी कहते हैं कि जिस प्रकार वृत्तियाँ और रीतियाँ गुण और अलंकारों से व्यतिरिक्त होती हैं साथ ही वे चारुत्व के हेतु भी हैं उसी भाँति 'ध्वनि' भी गुणों और अलंकारों से व्यतिरिक्त [भिन्न] होते हुए चारुत्व का हेतु हो जावेगी। इस भाँति व्यतिरेकी हेतु असिद्ध हो जाता है। इसके उत्तर में कहते हैं—'तदनतिरिक्तवृत्तयः इति'। वृत्तियों तथा रीतियों का उन [शब्द, अर्थ, शब्दगतचारुत्व, अर्थगतचारुत्व, शब्दसंघटनाचारुत्व और अर्थसंघटना-चारुत्व] से व्यतिरिक्तत्व [भिन्नत्व] सिद्ध नहीं है। तथा अनुप्रासों के ही दीप्त, कोमल और मध्यम वर्णनीयों [वर्ण्य विषयों] की उपयोगिता के अनुसार परुषत्व, ललितत्व तथा मध्यमत्व के स्वरूप-विवेचन हेतु तीन वर्गों के बनाने के लिये तीन अनुप्रास जातियाँ ही 'वृत्तियाँ' कही गई हैं। वर्त्तमान रहते हैं अनुप्रास के भेद जिनमें, यह [वृत्ति शब्द की व्युत्पत्ति है] जैसा कि कहा भी गया है—

'इन तीनों वृत्तियों में समानरूपवाले व्यञ्जनों के न्यास को ही कविजन सदा पृथक्-पृथक् अनुप्रास कहने की इच्छा रखते हैं।'

पृथक् पृथक् का अर्थ यह है—परुष अनुप्रासवाली वृत्ति 'नागरिका' है। कोमल अनुप्रास वाली वृत्ति 'उपनागरिका' अथवा 'ललिता' है। नागरिका या विदग्धा से इसकी उपमा दी गई है, इस आधार पर। मध्यम वह है कि जो न कोमल हो और न परुष, यह अर्थ है। अतएव वैदग्ध्य-विहीन स्वभाववाली होने के कारण अकोमल और अपरुष ग्राम्य वनिता के सादृश्य से यह [तीसरी] वृत्ति ग्राम्या कही जाती है। इनमें यह [तृतीया वृत्ति] 'कोमलानुप्रास' है। इस भाँति वृत्तियाँ अनुप्रास की जातियाँ ही हैं।

(आशुबोधिनी)

अब 'ध्वनि' को स्वीकार न करनेवाले उपर्युक्त अभाववादियों की आशङ्का का उत्तर देते हुए ध्वनिवादी कहते है—आप द्वारा दिया गया व्यतिरेक-अनुमान स्वयं ही असिद्ध हो जाता है क्योंकि नागरिका आदि वृत्तियाँ और वैदर्भी आदि

रीतियाँ गुण तथा अलंकारों से भिन्न होती हैं तथा चारुत्व-हेतु भी हुआ करती हैं। इसी भाँति ध्वनि भी गुणों एवं अलंकारों से भिन्न है तथा चारुत्व हेतु भी है। अतएव ध्वनि को एक पृथक् चारुत्व हेतु मानना ही उचित है। आपने अपने पक्ष में जिस व्यतिरेक अनुमान द्वारा ध्वनि का विरोध सिद्ध किया है उसमें हेतु है 'चारुत्व में हेतु होना'। हेतु यदि साध्य से भिन्न स्थानों में पाया जाता है तो वहाँ पर 'अनैकान्तिक हेत्वाभास' हुआ करता है। यह हेतु साध्य-गुण तथा अलंकारों से भिन्न वृत्तियों तथा रीतियों में भी चला जाता है। अतएव यह हेतु न होकर 'अनैकान्तिक हेत्वाभास' ही है। इस दृष्टि से आपका साध्य स्वयं ही असिद्ध हो जाता है। इसके उत्तर में अभाववादियों का कथन है—

वृत्तियाँ तथा रीतियाँ गुण एवं अलंकारों से भिन्न नहीं हैं। वर्णनीय अथवा वर्णन किये जाने योग्य विषय अपने स्वभाव के अनुसार तीन प्रकार के हुआ करते हैं (१) दीप्त [तीव्रता अथवा तीखापन लिये हुए रौद्र आदि रसों में] मसृण अर्थात् कोमल अथवा मधुर [जैसे शृङ्गार आदि रसों में], मध्यम [दोनों के बीच के स्वभाववाले वर्णन का विषय जैसे हास्य आदि रस में]। इस भाँति दीप्त के परुषत्वस्वरूप, मधुर अथवा कोमल के ललितत्वस्वरूप और मध्यम के मध्यमत्वस्वरूप के विवेचन के लिये 'अनुप्रास' की तीन जातियाँ बतलाई गईं हैं। अतएव अनुप्रास ही इन वृत्तियों का आधारभूत अलंकार है। 'वृत्ति' शब्द की व्युत्पत्ति ही है—'वर्तन्ते अनुप्रासभेदाः आसु' [अर्थात् वर्तमान है अनुप्रास के भेद इनमें। अर्थात् जिनमें अनुप्रास के भेद विद्यमान हों उन्हें 'वृत्ति' कहा जाता है। जैसा कि उद्भट ने लिखा भी है—

'कवि लोग सदा तीनों वृत्तियों में पृथक्-पृथक् अनुप्रास की इच्छा किया करते हैं जिनमें सजातीय [समानरूप वाले] व्यञ्जनों का प्रयोग किया जाया करता है।

पृथक्-पृथक् का अर्थ है—अनुप्रास का प्रयोग तीन रूपों में होता है (१) जिस अनुप्रास में परुष [कठोर] वर्गों का प्रयोग किया जाता है उसे 'परुषा' अथवा 'नागरिका' वृत्ति कहा जाता है। (२) कोमल अथवा स्निग्ध वर्णों के अनुप्रास वाली वृत्ति को 'उपनागरिका वृत्ति' कहा जाता है। इसे 'ललिता' वृत्ति भी कहा जाता है। 'उपमिता नागरिकया उपनागरिका' अर्थात् जिस भाँति नागरिक ललना अपने हाव-भावों के द्वारा आकर्षित किया करती है उसी भाँति उपनागरिका

वृत्ति भी अपने माधुर्य एवं कोमलता के द्वारा जनमानस को आकर्षित किया करती है (३) जहाँ पर न तो अधिक कठोर वर्णों का प्रयोग किया गया हो और न अधिक कोमल वर्णों का ही, उसे 'मध्यमा' अथवा 'ग्राम्या' वृत्ति कहा जाता है। जिस भाँति ग्रामीण स्त्री में किसी प्रकार वैदग्ध्य नहीं हुआ करता है अर्थात् उसमें न तो सुकुमारता अथवा कोमलता ही हुआ करती है और न कठोरता ही; उसी भाँति इस 'ग्राम्या' नाम की वृत्ति में भी न कोमलता ही हुआ करती है और न कठोरता ही। इसी आधार पर इसका नाम भी 'ग्राम्या' पड़ा है। इस तृतीय 'ग्राम्या' वृत्तिकी एक रूढ़ि संज्ञा 'कोमलानुप्रास' भी है जिसका प्रयोग भट्टोद्भट आदि आचार्यों ने किया है। जैसे इसमें कोमल-अनुप्रास होने सम्बन्धी कोई नियम नहीं है। यह केवल नाम ही पड़ गया है। अतएव वृत्तियाँ अनुप्रास की ही जातियाँ हैं उनसे भिन्न नहीं।

[लोचनम्]

न चेह वैशेषिकवद् वृत्तिर्विवक्षिता, येन जातौ जातिमतो वर्त्तमानत्वं न स्यात्, तदनुग्रह एव हि तत्र वर्तमानत्वम्। यदाह कश्चित्—

'लोकोत्तरे हि गाम्भीर्ये वर्तन्ते पृथिवीभुजः।' इति॥

तस्माद् वृत्तयोऽनुप्रासादिभ्योऽनतिरिक्तवृत्तयो नाभ्यधिकव्यापाराः। अतएव व्यापारभेदाभावान्न पृथगनुमेयस्वरूपा अपीति वृत्तिशब्दस्य व्यापार-वाचिनोऽभिप्रायः। अनतिरिक्तत्वादेव वृत्तिव्यवहारो भामहादिभिर्न कृतः। उद्भटादिभिः प्रयुक्तेऽपि तस्मिन्नार्थः कश्चिदधिको हृदयपथमतीर्ण इत्यभि-प्रायेणाह—गताः श्रवणगोचरमिति। रीतयश्चेति। तदनतिरिक्तवृत्तयोऽपि गताः श्रवणगोचरमिति सम्बन्धः। तच्छब्देनात्र माधुर्यादयो गुणाः तेषां च समुचित-वृत्त्यर्पणे यदन्योन्यमेलनक्षमत्वेन पानक इव गुडमरिचादिरसानां सङ्घातरूपता-गमनं दीप्तललितमध्यमवर्णनीयविषयं गौडीयवैदर्भपाञ्चालदेशहेवाकप्राचुर्य-दृशा तदेव त्रिविधं रीतिरित्युक्तम्। जातिर्जातिमतो नान्या समुदायश्च समु-दायिनो नान्य इति वृत्तिरीतयो न गुणालङ्कारव्यतिरिक्ता इति स्थित एवासौ व्यतिरेकीहेतुः। तदाह—तद्व्यतिरिक्तः, कोऽयं ध्वनिरिति। नैष चारुत्वस्थानं शब्दार्थरूपत्वाभावात्। नापि चारुत्वहेतुः। गुणालङ्कारव्यतिरिक्तत्वादिति।

तेनाखण्डबुद्धिसमास्वाद्यमपि काव्यमपोद्धारबुद्धया यदि विभज्यते, तथाप्यत्र ध्वनिशब्दवाच्यो न कश्चिदतिरिक्तोऽर्थो लभ्यत इति नामशब्देनाह ।

यहाँ [इस स्थल पर] वैशेषिक मत की भाँति वृत्तियों के बारे में कहा जाना अभीष्ट नहीं है । जिससे जाति में जातिमान् वर्तमानत्व न हो, अपितु उस [वृत्तिरूप जाति] के द्वारा अनुग्रह किया जाना ही वर्तमानत्व है । जैसा कि किसीने कहा भी है:—

'पृथ्वी का भोग करने वाले [राजा लोग] लोकोत्तर गाम्भीर्य में रहा करते हैं ।" अतएव वृत्तियाँ अनुप्रासादि से भिन्न होकर रहने वाली नहीं हैं [अर्थात् अभिन्न वृत्तिवाली हैं ।] एवं अधिक व्यापार वाली भी नहीं हैं । अतएव व्यापार के भेद के न होने के कारण पृथक् रूप से अनुमान किये जाने योग्य नहीं हैं । इस भाँति वृत्ति शब्द से व्यापारवाची का अभिप्राय है । अतिरिक्त अथवा भिन्न न होने के कारण ही भामह आदि आचार्यों ने 'वृत्ति' शब्द का व्यवहार नहीं किया है । उद्भट आदि आचार्यों के द्वारा प्रयोग किये जाने पर भी कोई अधिक अर्थ हृदयपथ में अवतीर्ण नहीं हुआ—इस अभिप्राय से कहते हैं—'सुनन में आई हैं' यहाँ और रीतियां [भी] उससे अभिन्न वृत्तिवाली सुनने में आई हैं, यह सम्बन्ध है । 'तत्' शब्द से यहां माधुर्य आदि गुण अभिप्रेत हैं, और उन [माधुर्य आदि] गुणों का समुचित वृत्ति में अर्पण होने पर, जो परस्पर मिलाने की क्षमता होने के कारण, पानक-रस की भाँति गुड़, मरिच आदि रसों का संघात [मिला हुआ] रूप में आना है, दीप्त, ललित और मध्यम वर्णनीय विषयरूप गौड़ीय, वैदर्भ और पाञ्चाल देश के स्वभाव [हेवाक] के प्राचुर्य की दृष्टि से वहीं तीन प्रकार की रीतियाँ कही गई हैं । जाति जातिमान् से भिन्न नहीं हुआ करती है तथा समुदाय समुदायी से भिन्न नहीं हुआ करता है । इसी भाँति रीतियाँ तथा वृत्तियाँ गुण और अलंकार से व्यतिरिक्त [भिन्न] नहीं हुआ करती हैं । अतएव उक्त व्यतिरेकी हेतु स्थित ही है । वही कह रहे हैं—उनसे व्यतिरिक्त [भिन्न] यह कौन-सी ध्वनि नामक पदार्थ है ? यह ध्वनि चारुत्व का स्थान नहीं है क्योंकि यह न तो शब्दरूप ही है और न अर्थरूप ही और न यह चारुत्व का हेतु ही है, क्योंकि यह गुण और अलंकार से व्यतिरिक्त है । अतएव अखण्ड बुद्धि द्वारा आस्वादन किये जाने योग्य भी काव्य यदि

अपोद्धार [विभाजन] की बुद्धि से विभक्त किया जाता है फिर भी यहां 'ध्वनि' शब्दवाच्य कोई व्यतिरिक्त अर्थ प्राप्त नहीं होता, ऐसा वृत्ति में नाम शब्द के द्वारा कहा है।

(आशुबोधिनी)

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है वृत्तियाँ जातिवाचक होती हैं तथा अनुप्रास की भी जाति कही गई हैं। वैशेषिकों का यह मत है कि जाति में जाति नहीं रहा करती है फिर वृत्तिरूप जाति में अनुप्रासरूप जाति कैसे रह सकती है ? इसका समाधान यह है कि वृत्तियों में अनुप्रास का वर्तमानत्व अनुग्राह्यानुग्राहकभाव से ही माना गया है। जैसा कि किसी ने कहा है–

"राजा लोग लोकोत्तर गम्भीरता में वर्तमान रहा करते हैं।"

इस स्थल पर 'वर्तमान रहने का' अभिप्राय यह है कि राजाओं पर गम्भीरता का अनुग्रह हुआ करता है जिसके कारण उनमें सभी प्रकार के कार्यों के निर्वाह की शक्ति आ जाती है। इसी भाँति अनुग्राह्यनुग्राहकभाव से ही वृत्तियों में अनुप्रास का वर्त्तमानत्व रहा करता है। अनुग्राह्यानुग्राहकभाव से अभिप्राय है रसाभिव्यक्ति सम्बन्धी सामर्थ्य का धारण किये हुए होना। रस की अभिव्यक्ति करना तथा उसमें सहायक होना अनुप्रास का कार्य है और वृत्तियों का भी व्यापार यही है। अतएव न तो अनुप्रास के बिना वृत्तियों के स्वरूप का ही अनुमान किया जा सकता है और न अनुप्रास से व्यतिरिक्त वृत्तियों के स्वरूप का कथन ही किया जा सकता है। इसी दृष्टि से भामह आदि आचार्यों ने वृत्तियों का वर्णन किया ही नहीं है। उद्भट आदि ने अवश्य वृत्तियों का वर्णन किया है किन्तु उनमें वे किसी प्रकार की नवीनता दिखला नहीं सके। इसी को ध्यान में रखकर आलोककार द्वारा लिखा गया है कि–"सुनने में आई है।" इस वाक्य से आलोककार की एतत्सम्बन्धी अरुचि भी प्रदर्शित होती है।

यही स्थिति रीतियों की भी है। उनको भी गुण तथा अलङ्कारों से भिन्न नहीं कहा जा सकता है। जैसा कि कहा गया है–"रीतयश्च, तदनतिरिक्तवृत्तयोऽपि गताः श्रवणगोचरमिति सम्बन्धः।" रीतियाँ भी सुनने में आई हैं किन्तु उनसे भिन्न नहीं होतीं। वृत्तियों के प्रसङ्ग में 'उनसे' का अर्थ है—'अलङ्कारों से' और रीतियों के प्रसङ्ग में अर्थ है–"गुणों से।" अब स्पष्ट अर्थ हुआ कि रीतियाँ माधुर्य आदि गुणों से भिन्न नहीं हुआ करती हैं। क्षरणार्थक दिवादिगणी धातु

'री' से 'क्तिन्' प्रत्यय होकर 'रीति' शब्द बनता है। इसका अर्थ होता है—'प्रवाह'। काव्य के 'प्रवाह' विषयक तत्व का ही नाम है—'रीति'। पहले आचार्य दण्डी ने दो मार्गों का कथन किया था—(१) वैदर्भमार्ग (२) गौड़ मार्ग। दोनों ही प्रदेशों में काव्य के पृथक्-पृथक् आदर्शों का वर्णन दण्डी ने विस्तार के साथ किया है। आगे चलकर आचार्य 'वामन' ने तो 'रीति' को काव्य की आत्मा के ही रूप में स्वीकार कर लिया। इन्होंने वैदर्भी तथा गौड़ी रीतियों के अतिरिक्त एक पाञ्चाली रीति को और माना। इस प्रकार तीन रीतियाँ हुई। इन सभी का अन्तर्भाव 'माधुर्य' आदि गुणों में हो जाता है। जिस भाँति गुड़, मिर्च आदि का सम्मिश्रण कर 'पानक रस' [पना] तैयार किया जाया करता है तथा मिलने की सामर्थ्य होने के कारण सभी वस्तुओं का सङ्घातरूप में एकीकरण हो जाया करता है उसी भाँति जब माधुर्य आदि गुणों का वृत्ति के साथ समुचित मिलन हुआ करता है तब उनका भी एक सङ्घातरूप बन जाया करता है और तब इसी का नाम हो जाता है—'रीति'। दीप्त, कोमल तथा मध्यम वर्णनीय विषय के अनुसार गौड़, विदर्भ तथा पञ्चाल देश के कवियों के प्राचुर्य के आधार पर रीतियाँ भी तीन प्रकार की कही गई हैं। इन सभी का अन्तर्भाव गुणों में हो जाता है। जाति जातिमान् से पृथक् नहीं हुआ करती है, समुदाय समुदायी से पृथक् नहीं हुआ करता है। इसी भाँति वृत्तियाँ और रीतिमाँ अलङ्कारों और गुणों से पृथक् नहीं हुआ करती हैं। अतएव पहले जिस व्यतिरेकी हेतु का वर्णन किया जा चुका है, उसमें जिसप्रकार का कोई दोष नहीं आता है। इसीलिये कहा है—"तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिर्नामेति"। इस वाक्य में 'नाम' शब्द आया है। इससे यह अर्थ निकलता है कि 'ध्वनि' न तो चारुत्व का स्थल है क्योंकि वह शब्द और अर्थ से व्यतिरिक्त है और न वह चारुत्व-हेतु ही है क्योंकि वह गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त है। इसलिये यद्यपि काव्य का समास्वादन अखण्ड बुद्धि द्वारा ही किया जाया करता है, फिर भी यदि समास्वादन के साधनों को पृथक्-पृथक् दिखलाया जाय तो भी 'ध्वनि' शब्द द्वारा कहे जाने योग्य कोई अतिरिक्त तत्व उपलब्ध ही नहीं होता है। अतः 'ध्वनि' नाम का कोई पदार्थ है ही नहीं।

"ध्वन्यालोकः"

अन्ये ब्रूयुः—नास्त्येव ध्वनिः। प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणः काव्य-

प्रकारस्य काव्यत्वहानेः सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव काव्य-लक्षणम्। न चोक्तप्रस्थानातिरेकिणो मार्गस्य तत्सम्भवति। न च तत्सम-यान्तःपातिनः सहृदयान् कांश्चित्परिकल्प्य तत्प्रसिद्धया ध्वनौ काव्य-व्यपदेशः प्रवर्तितोऽपि सकलविद्वन्मनोग्राहितामवलम्बते।

अर्थात्–[द्वितीय विकल्प अथवा पक्ष] अन्य लोग कहते हैं कि 'ध्वनि' है ही नहीं। क्योंकि प्रसिद्ध प्रस्थान [गुण, अलङ्कार, वृत्ति तथा रीति] से भिन्न काव्य के प्रकार [भेद] में काव्यत्व की हानि होगी। सहृदयों के हृदयों को आह्लादित करने वाले शब्द और अर्थ से युक्त होना ही काव्य का लक्षण है। उक्त प्रस्थानों के अलावा और कोई दूसरा मार्ग है ही नहीं कि जिसमें उक्त लक्षण घट जाता हो और उस ध्वनिसम्प्रदाय के अन्दर आने वाले अथवा उसे स्वीकार करनेवाले कुछ सहृदयों को तैयार करके उनके द्वारा प्रसिद्ध कर दिये जाने से 'ध्वनि' में काव्य का व्यवहार प्रवृत्त भी कर लिया जाय तो भी वह सभी विद्वानों के मन को ग्रहण करनेवाला नहीं होगा अर्थात् ऐसा सिद्धान्त सभी के द्वारा मान्य न होगा।

[लोचनम्]

ननु मा भूदसौ शब्दार्थस्वभावः, मा च भूत्तच्चारुत्वहेतुः, तेन गुणालङ्कार-व्यतिरिक्तोऽसौ स्यादित्याशङ्क्य द्वितीयमभाववादप्रकारमाह—अन्य इति। भवत्वेवम्, तथापि नास्त्येव ध्वनिर्यादृशस्तव लिलक्षयिषितः। काव्यस्य ह्यसौ कश्चिद्वक्तव्यः। न चासौ नृत्यगीतवाद्यादिस्थानीयः काव्यस्य कश्चित्। कवनीयं काव्यं, तस्य भावश्च काव्यत्वम्। न च नृत्तगीतादि कवनीयमित्युच्यते।

यह ध्वनि शब्द और अर्थ के स्वभाव वाली न हो और वह चारुत्व का हेतु भी न हो। ऐसी स्थिति में वह गुण, अलङ्कार से व्यतिरिक्त तो पदार्थ हो ही जायेगी इस आशङ्का को ध्यान में रखते हुए, अभाववाद के द्वितीय विकल्प अथवा पक्ष की स्थापना करते हुए कहा जा रहा है–अन्य इति। हो ऐसा, फिर भी जैसा तुम्हें लक्षण किया जाना अभिलषित हैं उस प्रकार की ध्वनि तो है ही नहीं। काव्य की यह कुछ कही जानी चाहिये और वह नृत्त, गीत अथवा वाद्य आदि स्थानीय तो है नहीं। कवनीय को 'काव्य' कहा जाता है। उसका भाव काव्यत्व है। नृत्य, गीत आदि कवनीय होते हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता है।

(आशुबोधिनी)

अभाववाद सम्बन्धी प्रथम विकल्प में यही निर्णय हुआ था कि 'ध्वनि' न तो शब्द और अर्थ के स्वभाव वाली हुआ करती है और न चारुत्व के हेतु के रूप में ही। इससे यह सिद्ध होता है कि ध्वनि का समावेश गुण और अलङ्कारों में नहीं किया जा सकता है। अतएव उनसे भिन्न होते हुए भी 'ध्वनि' काव्य में रमणीयता की उत्पादक हो सकती है। इसी को ध्यान में रखकर अभाववाद सम्बन्धी द्वितीय विकल्प की अवतारणा की जा रही है। उनका कहना है कि यदि कोई व्यक्ति ध्वनि को शब्द, अर्थ और उनकी चारुता के हेतुओं से पृथक् स्वीकार भी कर ले तब भी जिस रूप में आप ध्वनि का लक्षण करने की इच्छा रखते हैं वैसी वह सिद्ध नहीं हो सकती है। आप तो उसे काव्य की आत्मा कहते हैं। यदि आप ध्वनि को काव्य की आत्मा सिद्ध करना चाहते हैं तो काव्य से उसका कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य बतलाना होगा। किन्तु आप तो उसे काव्य के रूप, शब्द तथा अर्थ और चारुत्व हेतु गुण अलङ्कारों से पृथक् ही कह रहे हैं। अब शेष रह जाते हैं नाटक [दृश्यकाव्य] के उपकारी तत्व नृत्य, गीत एवं वाद्य। इनसे काव्य का कोई सम्बन्ध नहीं हुआ करता है। 'काव्य' शब्द का निर्माण 'कवृ' (वर्णे) धातु से होता है। इसका अर्थ है सार्थक शब्दों द्वारा चारुत्व के साथ किसी विषय को निबद्ध करना। नृत्य, गीत आदि तो काव्य के विषय हो ही नहीं सकते। यदि इन्हीं के समान 'ध्वनि' नाम का कोई तत्व है तो वह भी काव्य का विषय न बन सकेगी। अतएव ध्वनि नाम का कोई पदार्थ है ही नहीं।

[लोचनम्]

प्रसिद्धेति। प्रसिद्धं प्रस्थानं शब्दार्थौ तद्गुणालङ्काराश्चेति। प्रतिष्ठन्ते परम्परया व्यवहरन्ति येन मार्गेण तत्प्रस्थानम्। काव्यप्रकारस्येति। काव्यप्रकारत्वेन तव स मार्गोऽभिप्रेतः 'काव्यस्यात्मा' इत्युक्तत्वात्। ननु कस्मात्तत्काव्यं न भवतीत्याह—सहृदयेति। मार्गस्येति। नृत्तगीताक्षिनिकोचनादि प्रायस्येत्यर्थः। तदिति। सहृदयेत्यादिकाव्यलक्षणमित्यर्थः। ननु ये तादृशमपूर्वं काव्यरूपतया जानन्ति त एव सहृदयाः। तदभिमतत्वं च नाम काव्यलक्षणमुक्तप्रस्थानातिरेकिण एव भविष्यतीत्याशङ्क्याह—न चेति। यथा हि खड्गलक्षणं करोमीत्युक्त्वा आतानवितानात्मा प्रव्रियमाणः सकलदेहाच्छादकः सुच्छेद्य उत्कृष्टः खड्ग इति

ब्रुवाणः, परैः पटः खल्वेवंविधो भवति न खड्ग इत्ययुक्ततया पर्यनुयुज्यमान एवं ब्रूयात्–ईदृश एव खड्गो ममाभिमत इति तादृगेवैतत् । प्रसिद्धं हि लक्ष्यं भवति न कल्पितमिति भावः । तदाह—सकलविद्वदिति । विद्वांसोऽपि हि तत्समयज्ञा एव भविष्यन्तीति शङ्कां सकलशब्देन निराकरोति । एवं हि कृतेऽपि न किञ्चित्कृतं स्यादुन्मत्तता परं प्रकटितेति भावः ।

प्रसिद्धेति । प्रसिद्ध प्रस्थान हैं शब्द और अर्थ एवं उनके गुण और अलङ्कार । प्रतिष्ठित होते हैं, परम्परा से जिस मार्ग से व्यवहार करते हैं उसे 'प्रस्थान' कहा जाता है । काव्य प्रकारस्येति । काव्य के प्रकार के रूप में वह मार्ग तुमको अभिप्रेत है क्योंकि 'काव्य की आत्मा' ऐसा कहा है । वह काव्य क्यों नहीं हो सकता है ? इस बारे में कहते हैं—सहृदयेति । मार्गस्येति । अर्थात् नृत्त, गीत, आँखों का मींच लेना आदि के सदृश । तदिति–अर्थात् सहृदय आदि काव्य का लक्षण [सहृदय हृदयाह्लादक शब्द तथा अर्थ से युक्त होना ही काव्य का लक्षण है ।] जो उस प्रकार के अपूर्व [ध्वनितत्व] को काव्य के रूप में जानते हैं वे ही सहृदय हैं और उन सहृदयों का जो अभिमत है वह काव्य का लक्षण कहे हुए प्रस्थानों के अतिरिक्त का ही होगा । इस प्रकार की आशङ्का करके कहते हैं— न चेति । जैसे कोई कहे कि 'मैं खड्ग का लक्षण करूँगा ।' यह कहकर आतानवितान योग्य स्वरूप वाला, तह किया जानेवाला, सम्पूर्ण शरीर को ढक लेने वाला, सुकोमल, रंग-बिरंगे तन्तुओं से निर्मित, सिकोड़ने और फैलाने को सह लेने वाला, सुखपूर्वक कट जानेवाला, उत्तम कोटि का खड्ग होता है यह कहता हुआ, दूसरों के द्वारा "ऐसा तो कपड़ा होता है, खड्ग नहीं" इस भाँति कहे जाने पर यह कहे कि—मुझे तो इसी प्रकार का खड्ग अभिमत है । यह वैसा ही है । भाव यह है कि लक्ष्य प्रसिद्ध होता है, कल्पित नहीं । उसी को कहते हैं—सकल विद्वदिति । विद्वान् भी उस [ध्वनि] के समय अर्थात् सङ्केत के जाननेवाले ही होंगे । इस शङ्का का निराकरण 'सकल' शब्द द्वारा करते हैं । अभिप्राय यह है कि ऐसा करने पर भी कुछ किया हुआ नहीं होगा, किन्तु तुम्हारा पागलपन ही प्रकट होगा, यह भाव है ।

(आशुबोधिनी)

'प्रस्थान' शब्द 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'स्था' धातु से ल्युट् [अन] प्रत्यय होकर

बनता है। इसका अर्थ होता है—'ऐसा मार्ग कि जो परम्परा से प्रतिष्ठित हो चुका हो' ['प्रतिष्ठन्ते परम्परया व्यवहरन्ति येन मार्गेण तत्प्रस्थानम्'] अभिप्राय यह है कि जिस मार्ग से परम्परागत रूप में व्यवहार होता चला आ रहा हो उसे 'प्रस्थान' कहा जाता है। ये प्रसिद्ध प्रस्थान हैं—शब्द और अर्थ तथा उनसे ही सम्बन्धित गुण और अलङ्कार। आप ध्वनि को काव्य की आत्मा कहते हो। सहृदयों के हृदयों को आह्लादित करने वाले शब्द और अर्थ तथा उनसे सम्बन्धित गुण और अलङ्कारों को ही 'काव्य' नाम से कहा गया है। परम्परा की दृष्टि से इन्हें ही काव्य के मार्ग के रूप में स्वीकार किया जाता रहा है। इनके अतिरिक्त यदि 'ध्वनि' नाम का कोई मार्ग काव्य की शोभा बढ़ाने में सहायक हुआ करता है तो वह नृत्त, गीत, वाद्य आदि की श्रेणी से ही आ सकता है। किन्तु नृत्त आदि को काव्यशोभाकर नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि ये दृश्य काव्य [नाटक] में मात्र सहायक होते हैं, शोभाधायक नहीं। अतः 'ध्वनि' काव्य की शोभाधायक न होने से काव्य की आत्मा नहीं हो सकती है।

जो उस प्रकार के ध्वनितत्व को काव्य के रूप में जानते हैं वे ही सहृदय हैं। उनका अभिमत होना ही काव्य का लक्षण है। किन्तु यह प्रसिद्ध प्रस्थान से भिन्न के लिये ही होगा। तो यह बात वैसी ही होगी कि जैसे कोई कहे कि मैं 'खड्ग' का लक्षण करूँगा। और फिर लक्षण में कहे कि जो लम्बा-चौड़ा हो, तह किया जा सकता हो, शरीर को ढकने वाला हो, सुकोमल हो, रंगीन तन्तुओं वाला हो तथा फैलाया और समेटा भी जा सके वह 'खड्ग' होता है। श्रोता व्यक्ति ने कहा कि खड्ग तो ऐसा नहीं होता है, ऐसा तो वस्त्र हुआ करता है। किन्तु खड्ग का लक्षणकर्ता यही कहता रहे कि मैं तो उसी को 'खड्ग' कहूँगा तो कोई भी व्यक्ति उसकी बात को मानने के लिये तैयार न होगा। इसी भाँति यदि कोई व्यक्ति यह आग्रह करता ही चला जाय कि मैं तो काव्य की आत्मा को 'ध्वनि' ही कहूँगा तो अन्य लोग उसकी बात मानने को कभी उद्यत न होंगे। लक्ष्य तो कभी कल्पित नहीं हुआ करता है वह तो सदैव प्रसिद्ध ही हुआ करता है। जो प्रसिद्ध लक्ष्य की व्याख्या ठीक रूप में कर सकें उन्हीं को उस विषय का पूर्ण ज्ञाता कहा जा सकता है।

यदि कोई यह कहे कि कुछ विद्वान् तो ऐसे निकल ही आवेंगे कि जो ध्वनि

को ही काव्य की आत्मा कहें। इसका उत्तर यह है कि कुछ के मान लेने से तो 'ध्वनि' प्रतिष्ठित न हो सकेगी। सभी विद्वान् उसे स्वीकार नहीं करेंगे। इसी दृष्टि से यहाँ 'सकल' शब्द का प्रयोग किया गया है। ऐसी स्थिति में कुछ लोगों द्वारा दी गई मान्यता से कुछ भी लाभ नही होगा। इसके विपरीत उन लोगों का पागलपन ही प्रकट होगा।

[लोचनम्]

यस्त्वत्राभिप्रायं व्याचष्टे--जीवितभूतोऽध्वनिस्तावत्तवाभिमतः, जीवितं च नाम प्रसिद्धप्रस्थानातिरिक्तमलङ्कारकारैरनुक्तत्वातच्च न काव्यमिति लोके प्रसिद्धमिति। तस्येदं सर्वं स्ववचनविरुद्धम्। यदि हि तत्काव्यस्यानुप्राणकं तेनाङ्गीकृतं पूर्वपक्षवादिना तच्चिरन्तनैरनुक्तमिति प्रत्युत लक्षणार्हमेव भवति। तस्मात्प्राक्तन एवात्राभिप्रायः।

यहाँ पर जो व्यक्ति इस अभिप्राय की व्याख्या करता है कि यह तुम्हारा अभिमत है कि ध्वनि काव्य का जीवितभूत [अनुप्राणक] तत्व है तथा जीवितभूत ध्वनि प्रसिद्ध प्रस्थानों के अतिरिक्त है, साथ ही इसे आलङ्कारिकों ने भी नहीं कहा है, अतः यह [जीवितभूत ध्वनि] काव्य नहीं हो सकता, ऐसा लोकप्रसिद्ध है। उसका यह सब कथन अपने ही वचन के विरुद्ध है। क्योंकि यदि उस पूर्व-पक्षवादी द्वारा यह स्वीकार कर लिया गया है कि 'ध्वनि' काव्य का जीवितभूत है तो प्राचीनों द्वारा कथित न होने के कारण वह लक्षण के योग्य ही होगा। अतएव पहले बतलाया हुआ ही अभिप्राय ठीक है।

(आशुबोधिनी)

लोचनकार द्वारा द्वितीय प्रकार के अभाववादी के अभिप्राय को कुछ भिन्न रूप में प्रकट करने वाले का खण्डन करते हुए कहा गया है। उसके अनुसार अभिप्राय यह है कि पहले अलङ्कारकारों ने ध्वनि को आत्मा अथवा जीवितभूत रूप में स्वीकार नहीं किया है तथा यह जीवितभूत ध्वनि प्रसिद्ध प्रस्थानों के अतिरिक्त है। अतः यह काव्य की श्रेणी में नहीं आ सकता। अभाववादी के अनुसार इसे लोक में प्रसिद्ध होना चाहिये था जैसे कि शब्द, अर्थ, गुण और अलङ्कार लोक में प्रसिद्ध हैं।

उसके उपर्युक्त अभिप्राय के बारे में लोचनकार का कहना है कि उक्त

व्याख्याकार का कथन उसी के वचन के विरुद्ध है। क्योंकि जब ध्वन्यभाववादी ने यह स्वयं स्वीकार कर लिया कि ध्वनि काव्य का जीवितभूत तत्व है तब तो उसे काव्य की श्रेणी में आना ही चाहिये। उसे इस दृष्टि से न मानना कि प्राचीन किसी आलङ्कारिक ने उसके बारे में कथन नहीं किया है यह कौन-सा तर्क है ? अपितु वह तो लक्षण किये जाने योग्य ही होगा। अतएव उपर्युक्त व्याख्या करना ठीक नही है। पूर्वकथित व्याख्या ही द्वितीय अभाववादी के अभिप्राय को ठीक रूप में प्रकट करता है।

ध्वन्यालोकः

पुनरपरे तस्याभावमन्यथा कथयेयुः—न सम्भवत्येव ध्वनिर्नामापूर्वः कश्चित्। कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तेष्वेव चारुत्वहेतुष्वन्तर्भावात्। तेषामन्यतमस्यैव वा आपूर्वसमाख्यामात्रकरणे यत्किञ्चन कथनं स्यात्।

किञ्च वाग्विकल्पानामानन्त्यात् सम्भवत्यपि वा कस्मिंश्चित् काव्यलक्षणविधायिभिः प्रसिद्धैरप्रदर्शिते प्रकारलेशे ध्वनिर्ध्वनिरिति यदेतदलीकसहृदयत्वभावनामुकुलितलोचनैर्नृत्यते, तत्र हेतुं न विद्मः। सहस्रशो हि महात्मभिरन्यैरलङ्कारप्रकाराः प्रकाशिताः प्रकाश्यन्ते च। न च तेषामेषा दशा श्रूयते।

तृतीय पक्ष--फिर दूसरे लोग उस ध्वनि के अभाव को दूसरे ही रूप में कहें [वे यह कह सकते हैं कि] 'ध्वनि' नाम का कोई अपूर्व पदार्थ सम्भव हो नहीं है क्योंकि यह कामनीयक [रमणीयता] का अतिवर्तन [अतिक्रमण] नहीं करता है। अतएव उस [ध्वनि] का रमणीयता अथवा चारुत्व के हेतुओं में ही अन्तर्भाव संभव है। अथवा उन्हीं में से किसी एक का नाम 'ध्वनि' रख दिया जाय तो अपूर्व नाम रख दिये जाने से उसके बारे में स्वल्प ही कथन करना शेष रह जायगा।

और भी [अर्थात् दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि] वाणी के विकल्प तो असंख्य हो सकते हैं। अतएव ऐसा कोई प्रकार सम्भव भी हो सकता है कि जिसकी गणना प्रसिद्ध काव्यलक्षणकार आचार्यों द्वारा अब तक न की जा सकी हो किन्तु फिर भी झूठी सहृदयत्व की भावना को लेकर वास्तविकता

की ओरसे अपने नेत्रोंको बन्दकर जो ये लोग 'ध्वनि-ध्वनि' चिल्लाते हुए नाच रहे हैं उसमें हमें कोई औचित्य दृष्टिगोचर नहीं होता। अन्य महात्माओं [आचार्यों] ने हजारों की संख्या में अलङ्कारों के भेद बतलाये हैं तथा भविष्य में भी बतलाये जाते रहेंगे उनको यह स्थिति सुनाई नहीं पड़ती।

[लोचनम्]

ननु भवत्वसौ चारुत्वहेतुः शब्दार्थगुणालंकारान्तर्भूतश्च, तथापि ध्वनिरित्यमुया भाषया जीवितमित्यसौ न केनचिदुक्त इत्यभिप्रायमाशङ्क्य तृतीयमभाववादमुपन्यस्यति—पुनरपर इति। कामनीयकमिति कमनीयस्य कर्म। चारुत्वधीहेतुतेति यावत्।

माना कि वह [ध्वनि] चारुत्व का हेतु है तथा शब्द अर्थ के गुण और अलङ्कारों के अन्तर्भूत भी है तथापि 'ध्वनि' इस प्रकार की भाषा के द्वारा [अर्थात् यह कहकर] 'जीवित' है ऐसा किसी के द्वारा नहीं कहा गया है। इस अभिप्राय की आशङ्का करके [उत्तर की दृष्टि से] तीसरे अभाववाद को उपन्यस्त किया जा रहा है—पुनरपरे इति। कामनीयकमिति। कमनीय के कर्म को 'कामनीयक' कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि चारुत्व सम्बन्धी बुद्धि उत्पन्न करने में कारण।

(आशुबोधिनी)

तृतीय अभाववाद का अवतरण करते हुए लोचनकार कहते हैं कि 'ध्वनि' चारुत्व का कारण हो सकती है और उसका शब्द, अर्थ तथा गुण अलङ्कारों में अन्तर्भाव भी किया जा सकता है किन्तु फिर भी यह तो स्वीकार करना ही होगा कि अबतक किसीने भी 'ध्वनि' शब्द का नाम लेकर उसे काव्य का जीवन [काव्यस्यात्मा] नहीं कहा है। अतएव यह एक अभूतपूर्व बात है। इस दृष्टि से उस 'ध्वनि' का कथन किया जाना उचित ही है। इसके उत्तर में तृतीय प्रकार के अभाववादियों का कहना है—

पुनरपरे इति। आलोककार द्वारा कामनीयक शब्द का प्रयोग किया गया है। इस शब्द का निर्माण 'कमनीय' शब्द से 'वुञ्' प्रत्यय और तदनन्तर 'वु' के स्थान पर 'अक' होकर हुआ है। अभीष्ट अर्थ की दृष्टि से यहाँ इस प्रत्यय को 'कर्म' अर्थ में ही मानना उचित है और तब इसका अर्थ होगा कमनीय [रमणीय]

का कर्म अर्थात् कमनीयता [चारुत्व] सम्बन्धी बुद्धि उत्पन्न करने में कारण—गुण और अलंकार।

[लोचनम्]

ननु विच्छित्तीनामसंख्यत्वात्काचित्तादृशी विच्छित्तिरस्माभिर्दृष्टा, या नानुप्रासादौ, नापि माधुर्यादावुक्तलक्षणेऽन्तर्भवेदित्याशङ्क्याभ्युगमपूर्वकं परिहरति–वाग्विकल्पानामिति। वक्तीति वाक् शब्दः। उच्यते इति वागर्थः। उच्यतेऽनयेति वागभिधाव्यापारः। तत्र शब्दार्थवैचित्र्यप्रकारोऽनन्तः। अभिधावैचित्र्यप्रकारोऽनन्तः। अभिधावैचित्र्यप्रकारोऽप्यसंख्येयः। प्रकारलेश इति। स हि चारुत्वहेतुर्गुणो वालंकारो वा। स च सामान्यलक्षणेन संगृहीत एव। यदाहु:–'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः' इति। तथा 'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः' इति। ध्वनिध्वनिरिति वीप्सया सम्भ्रमं सूचन्नादरं दर्शयति–नृत्यत इति। तल्लक्षणकृद्भिस्तद्युक्तकाव्यविधायिभिस्तच्छ्रवणोद्भूतचमत्कारैश्च प्रतिपत्तिभिरिति शेषः। ध्वनिशब्दे कोऽप्यादर इति भावः। एषा दशेति। स्वयं दर्पः परैश्च स्तूयमानतेत्यर्थः। वाग्विकल्पाः वाक्प्रवृत्तिहेतुप्रतिभाव्यापार इति वा।

विच्छित्तियों अर्थात् वैचित्र्यों के असंख्य होने के कारण क्या हम लोगों ने कोई ऐसा वैचित्र्य देखा है कि जिसका [अपने-अपने लक्षण के अनुसार] अन्तर्भाव न तो अनुप्रास आदि अलंकारों में और न माधुर्य आदि गुणों में ही हो सके, इस प्रकार की आशंका करके इसे स्वीकार करते हुए उसका परिहार करते हैं—'वाग्विकल्पानामिति'। वाक्' शब्द की तीन प्रकार की व्युत्पत्तियों के अनुसार तीन प्रकार के अर्थ हो सकते हैं—'वक्तीति वाक्' जिसे कहता है वह वाक् अर्थात् शब्द, 'उच्येति इति वाक्' जो कहा जाता है वह वाक् अर्थात् अर्थ तथा 'उच्यते अनया' जिसके द्वारा कहा जाता है वह वाक् अर्थात् अभिधा व्यापार। उनमें शब्द और अर्थ के वैचित्र्य के प्रकार भी अनन्त हैं। अभिधा के वैचित्र्य-प्रकारों की भी संख्या निश्चित नहीं है अर्थात् वह भी अनन्त है। प्रकारलेश इति। वह चारुत्व का हेतु गुण हो अथवा अलंकार हो। और वह सामान्य लक्षण के द्वारा संगृहीत ही हो जायगा। जैसा कि आचार्य वामन द्वारा कहा भी गया है–काव्य के शोभाकारी धर्म 'गुण' हैं और उस [काव्य की शोभा] के अतिशयकारी

हेतु 'अलंकार' हैं। तथा वक्र [विचित्र] अभिधेय [अर्थ] और शब्द की उक्ति वाणियों की अलंकृति है। 'ध्वनि-ध्वनि' इस वीप्सा [दो बार] के कथन से [ध्वनिवादियों के] सम्भ्रम को सूचित करते हुए ध्वनि के प्रति उनके अतिशय आदर को सूचित करते हैं—नृत्यत इति। उस [ध्वनि] का लक्षण करनेवाले, उस [ध्वनि] से युक्त काव्य की रचना करनेवाले तथा उस [ध्वनि] के सुनने मात्र से चमत्कार वाले सहृदयों के द्वारा—यह इतना शेष रह गया। भाव यह है कि 'ध्वनि' इस शब्द मात्र में कौन बहुत अधिक आदर है? एषां दशेति। अर्थ है कि स्वयं तो अभिमान तथा दूसरों के द्वारा प्रशंसा किया जाना। वाग्विकल्पा इति। अथवा वाणी की प्रवृत्ति में हेतुभूत प्रतिभाव्यापार के प्रकार।

(आशुबोधिनी)

उक्ति-वैचित्र्य के प्रकारों की संख्या निश्चित किया जा सकना संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में उक्ति का कोई ऐसा वैचित्र्य [ध्वनिरूप] यदि दृष्टिगोचर हुआ कि जिसका अन्तर्भाव न तो उक्त लक्षण वाले अनुप्रास आदि में ही किया जा सकता है और न माधुर्य आदि गुणों में ही, तो ऐसी स्थिति में 'ध्वनि' नाम का एक पृथक पदार्थ मानना ही उचित होगा। इस प्रकार की आशंका उत्पन्न होने पर तृतीय अभाववादी पक्ष की ओर से 'वाग्विकल्पानां···एषा दशा श्रूयते' इन शब्दों में उत्तर दिया जा रहा है। सर्वप्रथम इसमें 'वाक्' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इस शब्द की व्युत्पत्ति तीन रूपों में की जा सकती है तथा तदनुसार उनके अर्थ भी तीन रूपों में किये जा सकते हैं—(१) 'कर्ता' अर्थ में—'वक्तीति वाक्' अर्थात् जो [अर्थ को] कहता है उस शब्द को 'वाक्' कहा जाता है। (२) 'कर्म' अर्थ में—'उच्यते इति वाक्' अर्थात् जो कहा जाता है ऐसे 'अर्थ' को [भी] 'वाक्' कहा जाता है। (३) 'करण' के अर्थ में—'उच्यते अनया इति वाक्' अर्थात् जिस [व्यापार] के द्वारा अर्थ को कहा जाय वह 'अभिधा' व्यापार भी 'वाक्' नाम से कहा जाता है। इस विवरण से यह भाव निकलता है कि 'शब्द' का वैचित्र्य अनन्त प्रकार का हो सकता है, अर्थ का वैचित्र्य भी अनन्तर प्रकार का हो सकता है तथा अभिधाव्यापार के वैचित्र्यों की भी संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती है। मूल में स्थित 'प्रकारलेश' शब्द का अभिप्राय यह है कि शब्द तथा अर्थ—दोनों के वैचित्र्यों के प्रकार अनन्त हैं। ऐसी स्थिति में यदि यह

स्वीकार भी कर लिया जाय कि यह सम्भव है कि कोई ऐसा प्रकार प्रसिद्ध-लक्षण-कार आचार्यों द्वारा न दिखलाया जा सका हो तो भी उसका संग्रह सामान्य-लक्षण द्वारा ही हो जायगा। सामान्य-लक्षण ये हैं—काव्य के शोभाधायक धर्मों को 'गुण' कहा जाता है और उस काव्य की शोभा के अतिशय को द्योतित करनेवाले धर्म ही अलंकार हैं। तथा वक्र अर्थात् वैचित्र्य अथवा चमत्कारपूर्ण शब्द और अर्थ को अलंकार कहते हैं। 'ध्वनि ध्वनि' कह-कह कर नाचते फिरते हैं। इस वाक्य में ध्वनि शब्द का जो दो बार प्रयोग किया गया है, उससे ध्वनिवादियों का सम्भ्रम सूचित करते हुए उनकी ध्वनि के प्रति आदर दिखलाया गया है। नृत्य करनेवाले हैं—लक्षणकार आचार्य, ध्वनि-सिद्धान्त में विश्वास रखकर काव्य की रचना करनेवाले कवि तथा उसका श्रवण कर चमत्कृत होने वाले सहृदय व्यक्ति। अभिप्राय यह है कि ध्वनि-सिद्धान्त के प्रति आदर प्रदर्शित करने का कोई कारण नहीं है। अन्य अलंकारों के प्रवर्त्तक न तो स्वयं ही किसी प्रकार का अभिमान करते हैं और न अन्यों के द्वारा प्रशंसित ही होते हैं। 'वाग्विकल्प' शब्द का एक अन्य अर्थ यह भी किया जा सकता है कि प्रतिभा के व्यापार तो अनेक प्रकार के हुआ करते हैं जिनके द्वारा वाणी प्रवृत्त होती है।

ध्वन्यालोकः

तस्मात्प्रवादमात्रं ध्वनिः। न त्वस्य क्षोदक्षमं तत्त्वं किञ्चिदपि प्रकाशयितुं शक्यम्। तथा चान्येन कृत एवात्र श्लोकः—

यस्मिन्नस्ति न वस्तु किञ्चन मनः प्रह्लादि सालंकृति
व्युत्पन्नै रचितं च नैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत्।
काव्यं तद् ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसञ्जडो
नो विद्मोऽभिदधाति किं सुमतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वनेः॥

अतएव 'ध्वनि' प्रवादमात्र है। इसका कुछ भी पीसकर चूर्ण बना देने योग्य अर्थात् विचार किये जाने योग्य तत्व प्रकाशित किया जा सकना सम्भव नहीं है। जैसा कि किसी अन्य कवि के द्वारा निम्नलिखित श्लोक के द्वारा कहा भी गया है—

(यस्मिन् सालंकृति, मनःप्रह्लादि किञ्चन वस्तु नास्ति) जिसमें अलंकारों से युक्त, मन को आह्लादित करनेवाला कोई अर्थ [वस्तु] नहीं है, (च व्युत्पन्नैः

वचनैः नैव रचितम्) जिसे वैचित्र्य-युक्त वचनों द्वारा नहीं रचा गया है, (च यत् वक्रोक्तिशून्यम्) और जो वक्रोक्ति से भी रहित है। (तत् काव्यं ध्वनिना-समन्वितम्–इति प्रीत्या प्रशंसन्) ऐसा वह काव्य 'ध्वनि से युक्त' है, यह [स्वीकार कर] बड़े प्रेम से प्रशंसा करते हुए (जडः) [ध्वनिवादी] मूर्खजन से जब (सुमतिना) अच्छी बुद्धि वाले व्यक्ति द्वारा (ध्वनेः) ध्वनि का (स्वरूपं किम्) स्वरूप क्या है। (इति पृष्टः) ऐसा पूछा जाता है तब वह (अभिदधाति) कहता है कि–(न विद्मः) हम नहीं जानते हैं।

[लोचनम्]

तस्मात्प्रवादमात्रमिति। सर्वेषामभाववादिना साधारण उपसंहारः। यतः शोभाहेतुत्वे गुणालंकारेभ्यो न व्यतिरिक्तः, यतश्च व्यतिरिक्तत्वे न शोभाहेतुः, यतश्च शोभाहेतुत्वेऽपि नादरास्पदं तस्मादित्यर्थः। न चेयमभावसम्भावना निर्मूलैव दूषितेत्याह—तथा चान्येनेति। ग्रन्थकृतसमानकालभाविना मनोरथनाम्ना कविना। यतो न सालङ्कृति, अतो न मनःप्रह्लादि। अनेनार्थालंकाराणामभाव उक्तः। व्युत्पन्नै रचितं च नैव वचनैरिति शब्दालङ्काराणाम्। वक्रोक्तिः उत्कृष्टा संघटना, तच्छून्यमिति शब्दार्थगुणानाम्। वक्रोक्तिशून्यशब्देन सामान्यलक्षणाभावेन सर्वालङ्काराभाव उक्त इति केचित्। तैः पुनरुक्तत्वं न परिहृतमेवेत्यलम्। प्रीत्येति। गतानुगतिकानुरागेणेत्यर्थः। सुमतिनेति। जडेन पृष्टो भ्रूभङ्गकटाक्षादिभिरेवोत्तरं ददत्तत्स्वरूपं काममाचक्षीतेति भावः।

इसी से ध्वनि प्रवादमात्र है। सभी अभाववादियों का यह सामान्यरूप से उपसंहार है। क्योंकि [यदि ध्वनि] शोभा का हेतु है तो उसे गुण और अलंकारों से व्यतिरिक्त नहीं कहा जा सकता है, और क्योंकि [यदि वह] गुण और अलंकार व्यतिरिक्त है तो वह शोभा का हेतु नहीं है, और क्योंकि [यदि वह] शोभा का हेतु है [तो] भी आदरयोग्य नहीं है इस दृष्टि से। और न यह अभाव की सम्भावना बिना किसी मूल के की गई है। यह कह रहे हैं—तथा चान्येनेति। ग्रन्थकार के समसामयिक मनोरथ नाम के कवि के द्वारा। क्योंकि वह अलंकार-युक्त नहीं, अतएव [वह] मन को आह्लादित करनेवाली भी नहीं है। इसके द्वारा अर्थालंकारों का अभाव कहा गया है। और 'व्युत्पन्न वचनों के द्वारा रचना नहीं की गई है' इसके द्वारा शब्दालंकारों का [अभाव कहा गया

है]। वक्रोक्ति कहते हैं उत्कृष्ट संघटना को। उससे शून्य का अर्थ है शब्द और अर्थ गुणों से रहित। कुछ अन्यों का कहना है कि 'वक्रोक्तिशून्य' इस शब्द द्वारा (अलंकारों के इस वक्रोक्तिरूप) सामान्य लक्षण के न होने के कारण सम्पूर्ण अलंकारों का अभाव कहा गया है। उन [व्याख्याकारों] ने तो फिर पुनरुक्तत्व दोष का भी निराकरण नहीं किया है [उनके खण्डन हेतु] इतना कथन ही पर्याप्त है। प्रीत्येति। अर्थात् गतानुगतिक [लकीर के फकीर होने] के प्रति अनुराग होने के कारण। सुमतिनेति—अच्छी-सुलझी हुई बुद्धिवालों के द्वारा। किसी मूर्ख के द्वारा पूछे जाने पर सिर हिलाकर और आँख मटका कर ही उत्तर में उस [ध्वनि] के स्वरूप को पूरा कह डालते। [किन्तु विद्वानों के पूछे जाने पर वह क्या उत्तर दे सकेगा ?] यह भाव है।

(आशुबोधिनी)

अभाववाद सम्बन्धी उपर्युक्त तीनों विकल्प परस्पर सम्बद्ध होते हुए एक शृङ्खलित रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। इसी दृष्टि से सभी अभाववादियों का सामान्य उपसंहार करते हुए कहा गया है—'इसीलिये ध्वनि प्रवादमात्र है।' प्रथमपक्ष के अनुसार ध्वनिनामक तत्व गुणों एवं अलंकारों से भिन्न कोई तत्व है ही नहीं, द्वितीयपक्ष के मतानुसार यदि ध्वनि गुण एवं अलङ्कारों से भिन्न कोई तत्व है तो वह चारुत्व का हेतु न हो सकेगी, तृतीयपक्ष के अनुसार यदि उस ध्वनि को चारुत्व का हेतु मान भी लिया जाय तो भी [अन्य नवीन-नवीन अलङ्कारों के सदृश] उसको अत्यधिक आदर देने का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। अतएव इन तीनों ही पक्षों की दृष्टि से 'ध्वनि' प्रवादमात्र ही सिद्ध होती है। हाँ, इतना अवश्य है कि इन सभी अभाववादों की मात्र संभावना ही की गई है। फिर भी इन सम्भावनाओं को पूर्णतया निर्मूल नहीं कहा जा सकता है। इसी की पुष्टि में ग्रन्थकार द्वारा अपने समकालीन मनोरथ नामक कवि द्वारा रचित 'यस्मिन्नस्ति' इत्यादि श्लोक उद्धृत किया गया है।

प्रथमपंक्ति में यह दिखलाया गया है कि 'ध्वनि' एक ऐसा तत्व है कि जिसमें किसी अलंकार से युक्त, मन को आह्लादित करने वाली कोई वस्तु है ही नहीं। इस वाक्य में हेतु है—अलंकार युक्त होना। 'ध्वनि' में अलङ्कार नहीं होते अतः वे मनःप्रह्लादि भी नहीं हो सकते। इस कथन से अर्थालङ्कारों का अभाव प्रकट

होता है। 'चमत्कारपूर्ण शब्दों द्वारा रचना नहीं की गई'—इस कथन से शब्दालङ्कारों का अभाव प्रकट होता है। वक्रोक्ति का शाब्दिक अर्थ है—उत्कृष्ट संघटना। वक्रोक्तिशून्य का अर्थ हुआ—शब्द और अर्थ के गुणों से रहित। कुछ अन्यों का कथन है कि 'वक्रोक्तिशून्य' शब्द के द्वारा 'सभी प्रकार के अलंकारों का अभाव' अभिव्यक्त होता है क्योंकि वक्र+उक्ति तो सभी अलंकारों का सामान्य लक्षण है। अलंकारों के इस सामान्य लक्षण से रहित होने का अभिप्राय होगा—सभी प्रकार के अलंकारों का अभाव होना। इसका कथन तो 'सालंकृति' इत्यादि शब्दों द्वारा पहले ही किया जा चुका है। 'वक्रोक्तिशून्य' शब्द का भी अर्थ वही करने पर तो पुनरुक्ति ही होगी। किन्तु इसका कोई निराकरण नहीं किया गया है।

'ध्वनि की बड़े प्रेम के साथ प्रशंसा करते हैं' में 'बड़े प्रेम के साथ' का अभिप्राय है कि किसी एक ने जो कह दिया उसीकी देखादेखी दूसरे ने भी उसी की पुष्टि कर दी। जो सिद्धान्त लोक में चल पड़ता है उसके प्रति लोगों का प्रेम हो ही जाया करता है।

'किसी विद्वान् के द्वारा पूछे जाने पर वे ध्वनि का स्वरूप क्या बतलावेंगे ?' में विद्वान् शब्द से यह अर्थ प्रकट होता है कि यदि कोई मूर्ख व्यक्ति ध्वनि का स्वरूप पूछेगा तो वे लोग आँख मटकाकर अथवा भौं हिलाकर उन्हें उत्तर देकर शान्त कर देंगे तथा ध्वनि का मनमाना स्वरूप बतलाकर उसे बहका देंगे। किन्तु विद्वान् द्वारा पूछे जाने पर यही कहेंगे कि 'न विद्मः' अर्थात् हम नहीं जानते हैं।

[लोचनम्]

एवमेतेऽभावविकल्पाः श्रृङ्खलाक्रमेणागताः, न त्वन्योन्यासम्बद्धा एव। तथाहि तृतीयाभावप्रकारनिरूपणोपक्रमे पुनः शब्दस्यायमेवाभिप्रायः। उपसंहारैक्यं च संगच्छते।

अर्थात् इस प्रकार ये अभाववाद से सम्बन्धित उपर्युक्त तीनों ही विकल्प एक श्रृङ्खलाबद्ध क्रम में प्रस्तुत किये गये हैं। ये परस्पर एक दूसरे से असम्बद्ध नहीं हैं। जैसे कि तृतीय प्रकार के अभाववाद के निरूपण के उपक्रम में 'पुनः' शब्द का यही अभिप्राय है। [उपर्युक्त श्रृङ्खलाक्रम को स्वीकार करने से] उपसंहार की एकता भी संगत हो जाती है।

(आशुबोधिनी)

अभाववाद सम्बन्धी उपर्युक्त तीनों ही विकल्प परस्पर एक दूसरे से संबंधित हैं। इसी कारण इन तीनों का वर्णन एक शृङ्खलाबद्ध क्रमिकरूप में प्रस्तुत किया गया है। इन तीनों विकल्पों की पारस्परिक सम्बद्धता का संकेत हमें अभाववाद के तृतीय विकल्प के आरम्भ में प्रयुक्त 'पुनः' शब्द से उपलब्ध होता है। इसी कारण सभी अभाववादियों के मतों का उपसंहार भी सामान्यरूप से एक ही साथ किया गया है कि--'तस्मात्प्रवादमात्रं ध्वनिः'।

'ध्वन्यालोकः'

भाक्तमाहुस्तमन्ये। अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितं काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहुः।

अन्य लोग उसे 'भाक्त' कहते हैं। दूसरे लोग उस 'ध्वनि' नामक काव्य की आत्मा को 'गुणवृत्ति' कहा करते हैं।

[लोचनम्]

अभाववादस्य संभावनाप्राणत्वेन भूतत्वमुक्तम्। भाक्तवादस्त्वविच्छिन्नः पुस्तकेष्ववस्थितमित्यभिप्रायेण भाक्तमाहुरिति। नित्यप्रवृत्तवर्तमानापेक्षयाभिधानम्। भज्यते सेव्यते पदार्थेन प्रसिद्धतयोत्प्रेक्ष्यते इति भक्तिर्धर्मोऽभिधेयेन सामीप्यादिः, तत आगतः भाक्तो लाक्षणिकोऽर्थः। यदाहुः—

अभिधेयेन सामीप्यात्सारूप्यात्समवायतः।
वैपरीत्यात्क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता॥ इति॥

'अभाववाद' के सम्भावना पर आधारित होने के कारण [उसमें] भूतकाल का प्रयोग किया गया है। 'भाक्तवाद' तो पुस्तकों में अविच्छिन्न रूप में चला आ रहा है इस अभिप्राय से 'भाक्तमाहुः' [भाक्तलोग कहते हैं] इस नित्य-प्रवृत्त वर्त्तमान की अपेक्षा करते हुए कथन किया गया है। भज्यते=सेव्यते अर्थात् पदार्थ के द्वारा जिसका सेवन किया जाया करता है अथवा प्रसिद्ध होने के कारण जो उत्प्रेक्षित होता है उसे 'भक्ति' कहते हैं। अभिधेय के द्वारा [तट आदि का] सामीप्यादि धर्म [उत्प्रेक्षित होता है], उस [भक्ति] से आया हुआ लाक्षणिक अर्थ [लक्ष्यार्थ] 'भाक्त' है। जैसा कि कहते हैं—

'अभिधेय के साथ सामीप्य से, सारूप्य से, समवाय से, वैपरीत्य से तथा क्रियायोग रूप सम्बन्ध से लक्षणा पाँच प्रकार की मानी गई है।'

(आशुबोधिनी)

'अभाववाद' तो संभावना पर ही आधारित था। इसी दृष्टि से ग्रन्थकार द्वारा 'जगदुः' इस भूतार्थक क्रिया का प्रयोग किया गया है। हाँ, भाक्तवाद' अलंकार-शास्त्रीय ग्रन्थों में अविच्छिन्नरूप से उपलब्ध होता है। इस भाक्तवाद अथवा लक्षणावाद को प्राचीन अलंकार-शास्त्रियों ने विशेषरूप से 'गुणवृत्ति' शब्द द्वारा कहा है जो कि लक्षणा ही है। जैसे—'शब्दानामभिधानं अभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च'।'–उद्भट। 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः'–आचार्य वामन। इस भाँति प्राचीन आचार्यों ने नित्य प्रवृत्त वर्त्तमान के अर्थ को सूचित करनेवाला 'आहुः' इस लट्लकार [प्रथम पुरुष एकवचन] का सार्थक प्रयोग किया है।

अतएव 'अभाववाद' में भूतकालिक क्रिया का प्रयोग होंने से 'सम्भावना' प्रकट होती है। लक्षणावाद के साथ वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग उसके अविच्छिन्न प्रवाह का द्योतक है।

२–**भक्तिवादी-पक्ष**—इस वाद में प्रयुक्त 'भक्ति' शब्द की व्युत्पत्ति चार प्रकार से की जाती है। 'भक्ति' शब्द से आलंकारिकों की लक्षणा-वृत्ति अथवा शक्ति और मीमांसकों की 'गौणी' वृत्ति अथवा शक्ति का ग्रहण किया जाता है। आलंकारिकों के द्वारा लक्षणावृत्ति के तीन आधार स्वीकार किये गये हैं। (१) मुख्यार्थबाध (२) सामीप्यादि सम्बन्ध तथा (३) शैत्य आदि बोधरूप प्रयोजन। इन तीनों को बोधन करने हेतु 'भक्ति' शब्द की तीन प्रकार की व्युत्पत्तियाँ की जाती हैं। (१) 'मुख्यार्थस्य भङ्गो भक्तिः' इससे मुख्य अर्थ का बाध, (२) 'भज्यते सेव्यते पदार्थेन सामीप्यादिधर्मो भक्तिः' इससे सामीप्यादि सम्बन्धरूप निमित्त की सिद्धि तथा (३) 'प्रतिपाद्ये शैत्यपावनत्वादौ श्रद्धातिशयो भक्तिः' इससे 'भक्ति' पद प्रयोजन का द्योतक होता है। 'ततः आगतः भाक्तः' मुख्यार्थबाध आदि तीनों आधारों से जिस अर्थ की प्रतीति हुआ करती है उस लक्ष्यार्थ को ही 'भाक्त' नाम से कहा जाता है।

अलंकारशास्त्रियों द्वारा लक्षणा के दो भेद स्वीकार किये गये हैं–(१) शुद्धा और (२) गौणी। सादृश्य से भिन्न सम्बन्धों द्वारा 'शुद्धा' तथा सादृश्य सम्बन्ध

से 'गौणी' लक्षणा मानी गई है। किन्तु मीमांसकों के अनुसार 'गौणी' नामकी एक वृत्ति अथवा शक्ति लक्षणा से भिन्न अर्थात् पृथक् रूप में स्वीकार की गई है। इस गौणी वृत्ति को उन्होंने 'लक्षणा' वृत्ति के भेद के रूप में भी नहीं माना है। 'भाक्त' पद से मीमांसकों की इस गौणीवृत्ति का भी बोध होता है। इसके बोधन हेतु 'भक्ति' पद की एक चौथी व्युत्पत्ति भी मानी गई है—'गुणसमुदायवृत्तेः शब्दस्य अर्थभागः तैक्ष्ण्यादिः [शौर्यक्रौर्यादिः] भक्तिः', तत आगतो भाक्तः। जैसे—'सिंहोमाणवकः' इत्यादि। अर्थात् शूरता, क्रूरता आदि गुणविशिष्ट प्राणिविशेष के वाचक गुणसमुदायवृत्ति 'सिंह' शब्द से उससे सम्बन्धित शूरता, क्रूरता आदि का ग्रहण किया जाना ही 'भक्ति' है, तथा उससे प्राप्त होने वाला गौण अर्थ ही 'भाक्त' है। इस भाँति 'भाक्त' पद के लक्ष्यार्थ तथा गौणार्थ—ये दोनों ही अर्थ निकलते हैं। इसीलिये कहा गया है—'भाक्तमाहुस्तमन्ये।'

'अभिधेय' से सामीप्य, सारूप्य, समवाय, वैपरीत्य तथा क्रियायोग—इन पाँचों सम्बन्धों में से किसी एक के साथ सम्बन्धित होने के कारण 'लक्षणा' पाँच प्रकार की हो जाया करती है। शब्द का व्यवहार गुण-समुदाय में हुआ करता है। अभिप्राय यह है कि शब्द अपने से सम्बद्ध गुणों का प्रतिपादक होता है। अतएव शब्द का जो 'तीक्ष्णता' आदि अर्थ भाग है। उसे 'भक्ति' नाम से कहा जाया करता है; क्योंकि उस अर्थभाग का ही सेवन किया जाता है। इस भाँति गुणों के प्रतिपादक होने के कारण जो 'गौण' अर्थ निकला करता है उसे 'भाक्त' कहा जाता है।

[लोचनम्]

गुणसमुदायवृत्तेः शब्दस्यार्थभागस्तैक्ष्ण्यादिर्भक्तिः, तत आगतो गौणोऽर्थो भाक्तः। भक्तिः प्रतिपाद्ये सामीप्यतैक्ष्ण्यादौ श्रद्धातिशयः, तां प्रयोजनत्वेनोद्दिश्य तत आगतो भाक्त इति गौणो लाक्षणिकश्च। मुख्यस्य चार्थस्य भङ्गोभक्तिरित्येवं मुख्यार्थबाधा, निमित्तं, प्रयोजनमिति त्रयसद्भावउपचारबीजमित्युक्तं भवति।

काव्यात्मानं गुणवृत्तिरिति। समानाधिकरण्यस्यायं भावः—यद्यपि अविवक्षितवाच्ये ध्वनिभेदे 'निश्वासान्ध इवादर्शः' इत्यादावुपचारोऽस्ति, तथापि न तदात्मैव ध्वनिः, तद्व्यतिरेकेणापि भावात्, विवक्षितान्यपरवाच्यप्रभेदादौ।

अविवक्षितवाच्येऽप्युपचार एव न ध्वनिरिति वक्ष्यामः । तथा च वक्ष्यति—

भक्त्याबिभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः ।
अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तथा ॥ इति ॥
कस्यचिद् ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम् । इति च ।

गुणाः सामीप्यादयो धर्मास्तैक्ष्ण्यादयश्च । तैरुपायैर्वृत्तिरर्थान्तरे यस्य, तैरुपायैर्वृत्तिर्वा शब्दस्य यत्र स गुणवृत्तिः शब्दोऽर्थो वा । गुणद्वारेण वा वर्तनं गुणवृत्तिरमुख्योऽभिधाव्यापारः । एतदुक्तं भवति—ध्वनतीति वा, ध्वन्यत इति वा ध्वननमिति वा यदि ध्वनिः, तथाप्युपचरितशब्दार्थव्यापारातिरिक्तो नासौ कश्चित् । मुख्यार्थे ह्यभिधैवेति परिशेष्यादमुख्य एव ध्वनिः, तृतीयराश्यभावात् ।

गुणों के समुदाय में रहने वाले [गुण-समूह के ज्ञापक] शब्द का [सिंहो माणवकः' इस स्थल में] तीक्ष्णता आदि जो अर्थभाग है उसे 'भक्ति' कहा जाता है । उससे आगत अर्थात् प्रतीत होनेवाले गौण अर्थ को 'भाक्त' कहा जाता है । सामीप्य और तीक्ष्णता आदि प्रतिपाद्य अर्थ में श्रद्धा के आधिक्य को 'भक्ति' कहा जाता है । उस [श्रद्धातिशयरूप भक्ति] को प्रयोजन के रूप में मानकर उससे प्राप्त होनेवाला अर्थ 'भाक्त' कहलाता है । इस प्रकार गौण और लाक्षणिक दोनों ही 'भाक्त' कहे जाते हैं । और मुख्य अर्थ के भङ्ग को [भी] 'भक्ति' कहा जाता है । इस भाँति मुख्य अर्थ का बाध, निमित्त और प्रयोजन—इन तीनों का होना उपचार का बीज है । यह बात कही हुई हो जाती है ।

काव्यात्मा [ध्वनि] 'गुणवृत्ति' कहते हैं—समानाधिकरण्य का यह भाव है—यद्यपि 'अविवक्षितवाच्य' नामक ध्वनि के एक भेद 'निश्वासान्ध इवादर्शः' इत्यादि में उपचार है तथापि तदात्मा ही ध्वनि नहीं हुआ करती है क्योंकि उस [उपचार] के अभाव में भी [ध्वनि] हो जाती है । विवक्षितान्यपरवाच्य रूप ध्वनि में भी उपचार ही होता है, ध्वनि नहीं, यह हम आगे चलकर कहेंगे । और उसी भाँति [ध्वनिकार भी] कहेंगे—

यह ध्वनि रूप-भेद होने के कारण भक्ति के साथ एकरूपता को धारण नहीं करती । अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के कारण यह उसके द्वारा लक्षित भी नहीं होती । हाँ, इतना तो अवश्य है कि किसी एक ध्वनि के भेद का वह [भक्ति] उपलक्षण हो सकती है ।

अब 'गुणवृत्ति' शब्द के अर्थ बतलाते हैं— सामीप्य आदि धर्म तथा

तीक्ष्णता आदि धर्म गुण हैं। उन गुणरूप उपायों द्वारा जिस [शब्द] की अर्थान्तर में वृत्ति हो अथवा उन उपायों द्वारा शब्द की जिस [अर्थ] में वृत्ति हो उसे 'गुणवृत्ति' कहते हैं अर्थात् शब्द अथवा अर्थ ही गुणवृत्ति हैं। अथवा गुणों के द्वारा वर्त्तमान होना 'गुणवृत्ति' है अर्थात् अमुख्य अभिधा-व्यापार। यह कहा गया है कि--चाहे [ध्वनतीति-] ध्वनित करने वाले शब्द को 'ध्वनि' कहा जाय अथवा ध्वनित होने वाले [ध्वन्यत-इति] अर्थ को 'ध्वनि' कहा जाय अथवा [ध्वननमिति वा ध्वनिः] ध्वनन-व्यापार को 'ध्वनि' कहा जाय तथापि उपचरित [गुणवृत्ति] शब्द, अर्थ और व्यापार से भिन्न वह [ध्वनि] कुछ नहीं है। मुख्य-अर्थ में तो 'अभिधा' ही होती है। अतएव परिशेष रह जाने से अमुख्य में ही 'ध्वनि' होती है क्योंकि [मुख्य एवं अमुख्य--इन दोनों से भिन्न] कोई तीसरी राशि होती ही नहीं है।

(आशुबोधिनी)

गुण-समुदाय में शब्द का व्यवहार हुआ करता है। अभिप्राय यह है कि शब्द अपने से सम्बद्ध गुणों का प्रतिपादन किया करता है। अतएव शब्द का तीक्ष्णता आदि जो अर्थभाग है उसे 'भक्ति' कहा जाता है। क्योंकि उस अर्थभाग का सेवन किया जाया करता है। इस भाँति गुणों का प्रतिपादन किये जाने की दृष्टि से जो 'गौण' अर्थ निकलता है उसे 'भाक्त' कहा जाता है।

'भक्ति' शब्द का अर्थ 'श्रद्धा का अतिशय होना' भी है अर्थात् समझे जाने योग्य अर्थ समीपता तथा तीक्ष्णता आदि के प्रति वक्ता की विशेष श्रद्धा है [जैसे 'सिंहो माणवकः' ('बच्चा सिंह' है) में बच्चे की शूरवीरता का कथन करने में वक्ता की विशेष 'श्रद्धा' है।] इस 'भक्ति' को प्रयोजन के रूप में स्वीकार कर जो अर्थ निकलता है उसे 'भाक्त' कहा जाता है। इस भाँति गौण तथा लाक्षणिक दोनों ही प्रकार के अर्थों को 'भाक्त' कहा गया है। 'भञ्ज्' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय होने पर भी 'भक्ति' शब्द बनता है जिसका अर्थ होता है--'भङ्ग करना' अथवा 'तोड़ना'। लक्षणा में मुख्य अर्थ का भङ्ग [मुख्यार्थबाध] किये जाने से इसे 'भाक्त' कहा जाता है। इस भाँति लक्षणा के तीनों ही तत्त्व (१) मुख्य अर्थ का भङ्ग' (२) निमित्त और (३) प्रयोजन--इस 'भाक्त' शब्द द्वारा प्रकट हो जाया करते हैं। यही हैं लक्षणा के तीन बीज।

'भक्ति' शब्द द्वारा आलंकारिकों की लक्षणा [शुद्धा और गौणी दोनों ही] ग्राह्य हैं। आलंकारिकों ने लक्षणा को सादृश्य-भिन्न सम्बन्ध से शुद्धा तथा सादृश्य सम्बन्ध से गौणी माना है। किन्तु मीमांसक तो केवल 'गौणी' को लक्षणा से भिन्न वृत्ति मानते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि मीमांसक लोग गौणी को एक पृथक् वृत्ति ही स्वीकार करते हैं कि जो लक्षणा से अतिरिक्त है। इस कारण 'भक्ति' एक शब्द द्वारा ही दोनों लक्षणा तथा गौणी [अर्थात् शुद्धा लक्षणा और गौणी] का कथन हो जाता है।

लक्षणा के (१) 'मुख्यार्थबाध (२) निमित्त और (३) प्रयोजन--ये तीन बीज माने गये हैं। ये जहाँ होंगे वहाँ लक्षणा होगी। प्रस्तुत भक्ति भी चूँकि 'लक्षणा' ही है। अतएव 'भक्ति' शब्द भी लक्षणा के उक्त बीजों में संगत होना चाहिये, इस दृष्टि से लोचनकार द्वारा भक्ति शब्द की निम्नलिखित व्युत्पत्तियाँ लक्षणा-बीज के अनुकूल की गई हैं--

(१) मुख्यार्थ-बाध परक व्युत्पत्ति—'मुख्यार्थस्य भंगो भक्तिः'।

(२) निमित्तपरक व्युत्पत्ति—'भज्यते सेव्यते पदार्थेन प्रसिद्धतयोत्प्रेक्ष्यते इति भक्तिः'।

(३) प्रयोजनपरक व्युत्पत्ति–'प्रतिपाद्ये सामीप्यतैक्ष्ण्यादौ श्रद्धातिशयः भक्तिः'।

साथ ही लोचनकार द्वारा मीमांसकों के अनुसार भी गौणी के लिये प्रयुक्त भक्ति की व्याख्या निम्नलिखितरूप में की गई है—

'गुणसमुदायवृत्तेः शब्दस्यार्थभागस्तैक्ष्ण्यादिर्भक्तिः'।

अतएव 'भक्ति' शब्द से 'लक्षणा' एवं 'गौणी' दोनों ही वृत्तियों का ग्रहण हो जाता है। पुनः 'तत आगतः' इस पाणिनीय नियम के अनुसार इस भाँति की लक्षणारूप अथवा गौणीरूप 'भक्ति' से प्रतीत होनेवाला लाक्षणिक अथवा गौण अर्थ प्रस्तुत में 'भाक्त' कहा गया है। इसी दृष्टि से कहा गया है—'भाक्तमाहुस्तमन्ये' अर्थात् अन्य लोग उस ध्वनि को 'भाक्त' अर्थात् लाक्षणिक अथवा गौण अर्थ कहते हैं। इसी को वृत्ति द्वारा इस रूप में कहा गया है—'अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितं काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहुः।'

इस भाँति 'ध्वनि' तथा 'गुणवृत्ति' दोनों का समानाधिकरण्य (एक ही अधिकरण में दोनों की उपस्थिति का होना) बतलाया गया है। तात्पर्य यह है

कि जहाँ गुणवृत्ति होगी वहाँ ध्वनि होगी। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं होगा कि गुणवृत्तिरूप ही 'ध्वनि' है। अर्थात् जहाँ गुणवृत्ति होगी वहीं ध्वनि होगी। इसी ग्रन्थ में आगे चलकर ध्वनि के दो भेदों का वर्णन उपलब्ध होता है (१) अविवक्षितवाच्य ध्वनि तथा (२) विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि। प्रथम का उदाहरण है—'निश्वासान्ध इवादर्शः' इत्यादि। इस स्थल पर उपचार अथवा गुणवृत्ति है। तात्पर्य यह है कि इस स्थल पर ध्वनि के साथ गुणवृत्ति का समानाधिकरण्य बन जाता है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि कोई व्यक्ति ध्वनि को उपचारात्मा ही कह डाले क्योंकि ध्वनि वहाँ भी हुआ करती है जहाँ उपचार तनिक भी नहीं हुआ करता है। जैसे—विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के भेदों आदि में। अतएव यह स्पष्ट हो जाता है कि ध्वनि का गुणवृत्ति के साथ समानाधिकरण्य तो बन सकता है, तादात्म्य अथवा एकरूपता नहीं बन सकती है। इसी बात को 'भक्त्या बिभर्त्ति०' इत्यादि द्वारा भी स्पष्ट किया गया है। इससे सम्बन्धित विषय आगे चलकर और भी अधिक स्पष्ट किया जायगा।

'भाक्त' शब्द की व्याख्या 'गुणवृत्ति' शब्द द्वारा की गई है। 'ध्वनि' शब्द की भाँति 'गुणवृत्ति' शब्द भी तीन अर्थों में सङ्गत होता है—(१) 'गुण' शब्द का अर्थ है समीपता आदि, तीक्षणता इत्यादि धर्म। इन साधनों के द्वारा जिस शब्द की अन्य अर्थों में वृत्ति अथवा व्यवहार हो उस 'शब्द' को 'गुणवृत्ति' कहा जाता है अर्थात् लक्षक शब्द। उन उपायों अथवा साधनों द्वारा जिस दूसरे अर्थ में शब्द का व्यवहार हो वह अर्थ हुआ 'लक्ष्यार्थ'। अथवा गुण के द्वारा वर्त्तन अथवा व्यवहार करना अर्थात् अमुख्य अभिधा [लक्षणा] व्यापार। इसी भाँति 'ध्वनि' शब्द के भी तीन अर्थ होना संभव है–(१) 'ध्वनति' [जो ध्वनित हो] से 'शब्द', (२) 'ध्वन्यते' [जिसे ध्वनित किया जाय] अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ और (३) 'ध्वननम्' [जिसके द्वारा ध्वनित किया जाय] अर्थात् ध्वनन अथवा व्यञ्जना व्यापार। इस भाँति गुणवृत्ति और ध्वनि—इन दोनों शब्दों से एक प्रकार के ही अर्थ निकलते हैं। इसके अतिरिक्त 'ध्वनि' शब्द से निकलने वाले तीनों अर्थ 'गुणवृत्ति' शब्द द्वारा भी निसृत हो जाते हैं। अभिप्राय यह है 'शब्द' के दो ही व्यापार हुआ करते हैं–(१) मुख्य (२) अमुख्य। मुख्य अर्थ के लिये अभिधा नामक व्यापार अथवा वृत्ति को स्वीकार किया जाता है। अमुख्य शब्दार्थ

का 'गुणवृत्ति' के द्वारा कथन किया जाता है। अर्थ की कोई तीसरी राशि होती ही नहीं। अतएव अमुख्य अर्थ पर आधारित ध्वनि को गुणवृत्ति के अन्तर्गत ही स्वीकार किया जा सकता है। ध्वनि को गुणवृत्ति से पृथक् नहीं कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति में ध्वनि 'भाक्त' ही सिद्ध होता है।

ध्वन्यालोकः

यद्यपि च ध्वनिशब्दसङ्कीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृत्तिरन्यो वा न कश्चित् प्रकारः प्रकाशितः, तथापि अमुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक् स्पृष्टोऽपि, न लक्षित इति परिकल्प्यैवमुक्तम्—भाक्तमाहुस्तमन्ये इति।

अर्थात् यद्यपि काव्यलक्षणकारों ने 'ध्वनि' शब्द का उल्लेख कर गुणवृत्ति अथवा अन्य [गुण, अलंकार आदि] कोई प्रकार प्रदर्शित नहीं किया है, फिर भी [भामह के 'शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्थाः' की व्याख्या के प्रसंग में 'शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च' लिखकर] काव्यों में गुणवृत्ति से व्यवहार दिखलानेवाले [भट्टोद्भट या उसके उपजीव्य भामह] ने ध्वनिमार्ग का थोड़ा-सा स्पर्श करके भी [उसका स्पष्ट] लक्षण नहीं किया। [अतएव अर्थतः उनके मतानुसार गुणवृत्ति ही ध्वनि है] इस प्रकार की कल्पना करके 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' यह कथन किया गया है।

[लोचनम्]

ननु केनैतदुक्तं ध्वनिर्गुणवृत्तिरित्याशङ्क्याह—यद्यपि चेति। अन्यो वेति। गुणालङ्कारप्रकार इति यावत्। दर्शयतेति। भट्टोद्भटवामनादिना। भामहेनोक्तं'—शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्थाः' इति अभिधानस्य शब्दाद् भेदं व्याख्यातुं भट्टोद्भटो बभाषे—'शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च' इति। वामनोऽपि 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः' इति। मनाक् स्पृष्ट इति। तैस्तावद् ध्वनिदिगुन्मीलिता। यथालिखितपाठकैस्तु स्वरूपविवेकं कर्तुमशक्नुवद्भिस्तत्स्वरूपविवेको न कृतः प्रत्युतोपालभ्यते, अभग्ननारिकेलवद् यथाश्रुततद्ग्रन्थोद्ग्रहणमात्रेणेति। अतएवाह—परिकल्प्यैवमुक्तमिति। यद्येवं न योज्यते तदा ध्वनिमार्गः स्पृष्ट इति पूर्वपक्षाभिधानं विरुध्यते।

किसने ध्वनि को गुणवृत्ति कहा है? ऐसी शङ्का करके, कहते हैं—यद्यपि

च…। दूसरे किसी अन्य प्रकार…। अर्थात् गुण अथवा अलङ्कार का कोई प्रकार दर्शाते हुए…। अर्थात् भट्टोद्भट, वामन आदि के द्वारा। भामह ने कहा है—'शब्द छन्द अभिधानार्थ…।' यहाँ शब्द से अभिधान का भेद दर्शाते हुए उद्भट ने कहा हैं—"शब्दों का अभिधान अर्थात् अभिधा व्यापार मुख्य और गुणवृत्ति। वामन ने भी कहा—सादृश्य के कारण जो लक्षणा होती है वह वक्रोक्ति कही जाती है। मनाक् स्पष्ट इति। उन्हों [काव्यशास्त्रकारों] ने तो ध्वनि की दिशा का उन्मीलन किया था। जैसा जो लिख दिया गया है, उसे उसी रूप में पढ़ लेने वालों ने तो स्वरूप का विवेक करने में असमर्थ होकर उसके स्वरूप का विवेक नहीं किया, प्रत्युत [उन्होंने] बिना टूटे हुए नारियल के फल के समान यथाश्रुत ग्रन्थ को ग्रहण करने के ही द्वारा उपालम्भ दे रहें हैं। इसीलिए कहा हैं—'परिकल्पित करके इस भाँति कहा हैं' यह। यदि इस भाँति की योजना न की जाय तो ध्वनिमार्ग का स्पर्श किया गया हैं, ऐसा पूर्वपक्षवालों का कथन विरुद्ध हो जात है।

(आशुबोधिनी)

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या किसी ने 'ध्वनि' को 'गुणवृत्ति' नाम दिया है ? इसके उत्तर में यह कहा गया है यद्यपि 'ध्वनि' शब्द का उल्लेख करते हुए किसी भी आचार्य ने 'गुणवृत्ति' अथवा गुण एवं अलङ्कार का कोई दूसरा प्रकार प्रस्तुत नहीं किया है फिर भी काव्य में अमुख्य वृत्ति का संकेत करते हुए भट्टोद्भट, वामन आदि आचार्यों ने 'ध्वनिमार्ग' का स्पर्श अवश्य किया था। भामह ने काव्य-हेतुओं की गणना करते हुए लिखा है—'शब्द, छन्द, अभिधान, इतिहासाश्रित कथा, लोकयुक्ति तथा कला ये काव्य के हेतु हुआ करते हैं। एतद् सम्बन्धी कारिका [१-९] में शबद तथा अभिधान दोनों हो शबदों को पृथक्-पृथक् गणना की गई है। अतः इन दोनों शब्दों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए भट्टाद्भट ने लिखा है—'अभिधान' शब्द का अर्थ हैं—शब्दों का अभिधा व्यापार। यह दो प्रकार का होता है-(१) मुख्य, (२) गुणवृत्ति। वामन ने भो लिखा है—सादृश्य से होने वाली लक्षणा को 'वक्रोक्ति' कहते हैं। इस भाँति भामह तथा भट्टोद्भट ने मुख्य के अतिरिक्त गुणवृत्ति व्यांपार को और वामन ने सादृश्य को 'वक्रोक्ति' रूप में स्वीकार किया है। अतएव उनके द्वारा ध्वनि की दिशा का उन्मीलन

तो कर ही दिया गया। क्योंकि 'गङ्गायां घोषः' इस स्थल पर आचार्य भामह यह स्वीकार कर चुके थे कि गङ्गा का अमुख्य अर्थ 'तट' है। साथ ही वे प्रयोजन रूप शैत्यपावनत्व तक, जो ध्वनि का अपना पक्ष है, पहुँच ही चुके थे। ऐसी स्थिति में उन्होने 'ध्वनि' का स्पर्श तो कर ही लिया था। इस भाँति उन्होंने ध्वनि की दिशा का उन्मीलन ही किया था। किन्तु व्याख्याकारों के द्वारा जैसा पढ़ा गया उसका वैसे का वैसा ही अर्थ भी कर दिया गया क्योंकि वे उसके स्वरूप का विवेक करने में समर्थ न थे। अतएव वे उसके स्वरूप को समझ न सके। अब वे ही लोग उसे उपालम्भ दे रहे हैं। जैसे कोई व्यक्ति नारियल की बाहर की कठोरता को ही नारियल का वास्तविक स्वरूप समझ ले और उसे फोड़कर उसके वास्तविक आन्तरिक स्वाद को जानने का प्रयास न करे। ऐसी ही दशा उन व्याख्याकारों की भी रही कि जिन्होंने जैसा सुना था वैसा ही ग्रहण भी कर लिया, उसके रहस्यको जानने का प्रयास नहीं किया। इसी भाँति ध्वनि पक्ष के अनुकूल भाक्तवाद को स्वीकार करने पर भी एक पग और आगे बढ़ने की आवश्यकता रह जाती है। उसे न करके भाक्तवादियों द्वारा ध्वनि का उपालम्भ ही प्रारम्भ कर दिया गया। इसी कारण उन्हें ध्वनिपक्ष के प्रतिकूल बोलने वालों में स्थान प्राप्त हुआ।

[कहने का अभिप्राय यह हैं कि पुराने आचार्यों द्वारा यह सङ्केत किया गया था कि ध्वनि और लक्षणा एक ही तत्व है। व्याख्याकारों द्वारा इसकी सही व्याख्या न की जा सकी।]

इस स्थल पर लोचनकार का कहना है कि इस संदर्भ की योजना इसी प्रकार करना उचित है अन्यथा पूर्वपक्ष के प्रकरण में 'ध्वनि' के स्पर्श की बात कहना ठीक न होगा।

ध्वन्यालोकः

केचित्पुनर्लक्षणकरणशालीनबुद्धयः ध्वनेस्तत्वं गिरामगोचरं सहृदय-हृदयसंवेद्यमेव समाख्यातवन्तः।

लक्षण करने में अप्रगल्भबुद्धि वाले किन्हीं [तृतीय अभाववादी] ने ध्वनि के तत्व का केवल सहृदय जनों के हृदय द्वारा संवेद्य और वाणी से परे [अर्थात् अलक्षणीय, अनिर्वचनीय, अवर्णनीय] कहा है।

[लोचनम्]

शालीनबुद्धय इति अप्रगल्भमतय इत्यर्थः । एते च त्रय उत्तरोत्तरं भव्यबुद्धयः । प्राच्या हि विपर्यस्ता एव सर्वथा । मध्यमास्तु तद्रूपं जानाना अपि सन्देहेनापह्नुवते । अन्त्यास्त्वनपह्नुवाना अपि लक्षयितुं न जानत इति क्रमेण विपर्याससन्देहाज्ञानप्राधान्यमेतेषाम् ।

'शालीनबुद्धयः' का अर्थ है अप्रगल्पबुद्धिवाले । ये तीनों ही प्रकार के [विप्रतिपत्तिकर अभाववादि] उत्तरोत्तर भव्य-बुद्धि वाले हैं । क्योंकि पहले वाले [अभाववादी] तो सर्वथा-विपर्यय-ज्ञान से युक्त है [अर्थात् वास्तव में वे ध्वनि-तत्व के विषय में पूर्णतया अनभिज्ञ ही हैं ।] मध्यम [बीचवाले अर्थात् दूसरे प्रकार के अभाववादी अथवा भाक्तवादी] उस ध्वनि के स्वरूप को जानते हुए होने पर भी सन्देह के कारण उसे छिपा देते हैं । अन्तवाले [अर्थात् तृतीय अभाववादी] न छिपाते हुए भी 'ध्वनि' को लक्षित करना नहीं जानते हैं । इस क्रम से इन तीनों [अभाववादियों] में [क्रमशः] विपर्यास, सन्देह और अज्ञान का प्राधान्य है ।

(आशुबोधिनी)

इस भाँति ध्वनिविरोधी कुल पाँच पक्ष हुए [अर्थात् अभाववादियों के तीन विकल्प अथवा तीन पक्ष+भाक्तवादि+अलक्षणीयतावादी] । इन पाँचों पक्षवालों में उत्तरोत्तर पक्ष वालों की बुद्धि अच्छी है । अतएव इनमें निकृष्टकोटि के अभाववादी हुए क्योंकि उनको तो ध्वनि सम्बन्धी सिद्धान्त का ज्ञान ही नहीं है । इन तीन प्रकार के अभाववादियों में सबसे अधिक निम्नकोटि के वे लोग हैं कि जो ध्वनि को पूर्णरूपेण अस्वीकार करते हैं । उनसे अच्छे वे हैं जो कि ध्वनि मानते तो हैं किन्तु उसका काव्य के साथ सम्बन्ध स्वीकार नहीं करते हैं । इनसे भी श्रेष्ठ वे हैं जो कि ध्वनितत्व को काव्य से सम्बद्ध तो मानते हैं किन्तु उसका अन्तर्भाव अन्यत्र करना चाहते हैं । ये तीनों प्रकार के अभाववादी निकृष्ट कोटि में आते हैं । अतएव यह अभाववादी पक्ष विपर्ययमूलक है । भक्तिवादी अथवा भाक्तवादी जन मध्यम कोटि के हैं, क्योंकि वे ध्वनि को समझते तो हैं, किन्तु उसका अन्तर्भाव ऐसे स्थल पर कर देते हैं जहाँ कि उसका अन्तर्भाव किया जाना संभव ही नहीं है । यह पक्ष सन्देहमूलक है । तृतीय पक्षधर अलक्षणीयतावादी

जन उसका अन्तर्भाव कहीं भी करना नहीं चाहते किन्तु उनको लक्षण बनाना ही नहीं आता है। अतएव ये पूर्ववर्णित दोनों पक्षों से श्रेष्ठ हैं। यह पक्ष अज्ञान-मूलक है।

ध्वन्यालोक:

तेनैवंविधासु विमतिषु स्थितासु सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपं ब्रूमः।

अतएव इस प्रकार की विमतियों अथवा मतभेदों के होने से सहृदयजनों के हृदयाह्लाद के निमित्त हम उस [ध्वनि] का स्वरूप बतलाते हैं।

[लोचनम्]

तेनेति। एकैकोऽप्ययं विप्रतिपत्तिरूपो वाक्यार्थो निरूपणे हेतुत्वं प्रतिपद्यत इत्येकवचनम्। एवंविधासु विमतिष्विति निर्धारणे सप्तमी। आसु मध्ये एकोऽपि यो विमतिप्रकारस्तेनैव हेतुना तत्स्वरूपं ब्रूम इति। ध्वनिस्वरूपमभिधेयम्। अभिधानाभिधेयलक्षणो ध्वनिशास्त्रयोर्व्युत्पाद्यव्युत्पादकभावः सम्बन्धः। विमति-निवृत्त्या तत्स्वरूपज्ञानं प्रयोजनम्। शास्त्रप्रयोजनयोः साध्यसाधकभावः सम्बन्ध इत्युक्तम्।

तेन = इससे, इस कारण अथवा इसलिये। 'तेन' यह तत् शब्द की तृतीया एकवचन का रूप है। 'तत्' शब्द द्वारा पूर्वोक्त तीनों प्रकार के वादों का ग्रहण हो जाता है। तृतीया-विभक्ति से हेतुता सिद्ध होती है। एकवचन के प्रयोग से यह प्रकट होता है कि ध्वनिविरोधियों का प्रत्येक पक्ष ध्वनि का निरूपण करने में हेतु है। कहने का अभिप्राय यह है कि 'ध्वनि का स्वरूप बतलाता हूँ' इस वाक्य का तीनों प्रकार के वादों के साथ सम्बन्ध है। जैसे कुछ लोग 'ध्वनि' के अभाव का कथन करते हैं अतएव हम उसके स्वरूप का विवेचन करते हैं। कुछ लोग उसे अलक्षणीय, अनिर्वचनीय कहते हैं, अतएव हम उसके स्वरूप का कथन करते हैं। 'एवंविधासु विमतिषु' में सप्तमी विभक्ति निर्धारण अर्थ में हुई है निर्धारण का अर्थ है—बहुतों में से एक। अतएव 'विमतिषु' का अर्थ होगा कि इनके बीच में एक भी जो विमति का प्रकार है उसी हेतु से हम उस (ध्वनि) का स्वरूप कह रहे हैं। ध्वनिरूप अभिधेय [विषय] है। ध्वनि तथा शास्त्र का अभिधानाभिधेय नामक और वक्ता तथा श्रोता का व्युत्पाद्य-व्युत्पादकभाव

सम्बन्ध है। विमति की निवृत्ति के द्वारा उसके स्वरूप का ज्ञान, प्रयोजन है। शास्त्र और प्रयोजन का साध्य-साधकभाव सम्बन्ध है, ऐसा कहा गया है।

(आशुबोधिनी)

इस प्रकार ध्वनिसम्बन्धी तीनों प्रकार की विप्रतिपत्तियों [वादों] को उद्धृत कर ध्वनि के स्वरूप के प्रतिपादन में एक एक कर तीनों ही हेतु हैं इस बात को द्योतित करने के लिए 'तेन' [इस कारण] इस तृतीयान्त एकवचन का प्रयोग किया गया है। प्रसङ्ग की दृष्टि से तो यहाँ एकवचन ही होना चाहिए। भाव यह है कि ध्वनि के स्वरूप का विवेचन केवल अनेक विप्रतिपत्तियों के एक साथ निराकरणार्थ नहीं किया जा रहा है अपितु प्रत्येक विप्रतिपत्ति ही पृथक्-पृथक् रूप में इसके द्वारा निराकरणीय है।

'एवंविधासु विमतिषु' यहाँ पर निर्धारण अर्थ में सप्तमी हुई है। 'निर्धारण' अर्थ में जहाँ भी सप्तमी विभक्ति प्रयुक्त होती है वहाँ बहुतों में से किसी एक को निर्धारित करना होता है। प्रस्तुत विवेचन में अनेक विमतियों में जो एक भी प्रकार है उसके कारण ध्वनि के स्वरूप का निरूपण किया जा रहा है।

यहाँ पर 'ध्वनि का स्वरूप' विषय है। अधिकारी है—'सहृदय व्यक्ति'। विमतियों अथवा विप्रतिपत्तियों के निराकरण के साथ 'ध्वनि के स्वरूप का ज्ञान' प्रयोजन है। ध्वनि [विषय] और शास्त्र का अभिधानाभिधेय नामक सम्बन्ध है। वक्ता तथा श्रोता का व्युत्पाद्यव्युत्पादकभाव सम्बन्ध है। शास्त्र तथा प्रयोजन का साध्यसाधकभाव सम्बन्ध है। ऐसा कहा गया है।

ध्वन्यालोकः

तस्य हि ध्वनेः स्वरूपं सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूतमतिरमणीयमणीयसीभिरपि चिरन्तनकाव्यलक्षणविधायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम्। अथ च रामायणमहाभारतप्रभृतीनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयतां सहृदयानां आनन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते ॥ १ ॥

अर्थात् उस ध्वनि का स्वरूप समस्त सत्कवियों के काव्यों का परम रहस्यभूत अत्यन्त सुन्दर है जो कि प्राचीन काव्यलक्षणकारों की सूक्ष्म से सूक्ष्म बुद्धि द्वारा भी प्रस्फुटित नहीं हो सका है, और जिसका व्यवहार रामायण, महाभारत आदि लक्ष्य (ग्रन्थों) में सर्वत्र प्रसिद्ध है, ऐसे उस [ध्वनि के स्वरूप] को लक्षित

करते हुए सहृदय पुरुषों के मन में आनन्दपूर्ण प्रतिष्ठा तथा स्थिरता को प्राप्त करे, इस उद्देश्य से उसका प्रकाशन किया जा रहा है।

[लोचनम्]

अथ श्रोतृगतप्रयोजनप्रयोजनप्रतिपादकं 'सहृदयमनः प्रीतये' इति भागं व्याख्यातुमाह—तस्य हीति। विमतिपदपतितस्येत्यर्थः। ध्वनेः स्वरूपं लक्षयतां सम्बन्धिनि मनसि आनन्दो निवृत्यात्मा चमत्कारापरपर्यायः प्रतिष्ठां परैर्विपर्यासाद्युपहतैरनुन्मूल्यमानत्वेन स्थेमानं लभतामिति प्रयोजनं सम्पादयितुं तत्स्वरूपं प्रकाश्यत इति सङ्गतिः।

अब श्रोता के अन्दर विद्यमान रहने वाले प्रयोजन के प्रयोजन का प्रतिपादन करने वाले 'सहृदयमनःप्रीतये' [सहृदयजनों के मन को प्रसन्नता प्रदान करने के लिए] इस भाग की व्याख्या के लिए कहते हैं—'तस्य हि इति'=उस ध्वनि का अर्थात् विभक्ति के मार्ग में पड़े हुए ध्वनि के स्वरूप को लक्षित करने वालों के सम्वन्धी मन में आनन्द, जो कि निर्वृत्तिरूप तथा जिसका दूसरा पर्याय चमत्कार है, प्रतिष्ठा को अर्थात् विपर्यास आदि से उपहत, दूसरे अभाववादो आदि द्वारा उन्मूलक न हो सकने के कारण स्थिरता को [आनन्दप्रतिष्ठा को] प्राप्त करे इस प्रयोजन के सम्पादन के लिए उस [ध्वनि] का स्वरूप प्रकाशित करते हैं, यह सङ्गति है।

(आशुबोधिनी)

श्रोताओं की दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रयोजन है—विमति की निवृत्ति के साथ ध्वनि के स्वरूप को जान लेना। इस प्रयोजन का प्रयोजन है 'सहृदयमनः प्रीति' इसी को स्पष्ट करने की दृष्टि से 'तस्य हि ·· आनन्दो लभतां प्रतिष्ठाम्' यह लिखा गया है। इस वाक्य का अन्वय इस भाँति करना होगा—'ध्वनेः स्वरूपं लक्षयतां मनसि आनन्दो लभतां प्रतिष्ठाम्।' 'आनन्द' का अर्थ है सभी प्रकार के दुःखों से निर्वृत्ति प्राप्त कर लेना। इसका दूसरा पर्याय 'चमत्कार' भी हो सकता है।' 'प्रतिष्ठा' का अर्थ है इस प्रकार की स्थिरता कि जिसका उन्मूलन विपर्यास आदि से उपहत बुद्धिवाले अर्थात् अभाववादी आदि पाँच प्रकार के ध्वनिविरोधी लोग न कर सकें। 'लभताम् = प्राप्त हो' का भाव है—उपर्युक्त प्रयोजन की पूर्ति हेतु उस ध्वनि का स्वरूप प्रकाशित किया जा रहा है।

[लोचनम्]

प्रयोजनं च नाम तत्सम्पादकवस्तुप्रयोक्तृताप्राणतयैव तथा भवतीत्याशयेन 'प्रीतये तत्स्वरूपं ब्रूम' इत्येकवाक्यतया व्याख्येयम् तत्स्वरूपशब्दं व्याचक्षाणः संक्षेपेण तावत्पूर्वोदीरितविकल्पपञ्चकोद्धरणं सूचयति—सकलेत्यादिना। सकलशब्देन सत्कविशब्देन च प्रकारलेशे कस्मिश्चिदिति निराकरोति। अतिरमणीयमिति भाक्ताद्व्यतिरेकमाह। न हि 'सिंहो वटुः', 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र रम्यता काचित् उपनिषद्भूतशब्देन तु अपूर्वसमाख्यामात्रकरण इत्यादि निराकृतम्। अणीयसीभिरित्यादिना गुणालङ्कारानन्तर्भूतत्वं सूचयति। अथ चेत्यादिना 'तत्समयान्तःपातिन' इत्यादिना यत्सामयिकत्वं शङ्कितं तन्निरवकाशीकरोति। रामायणमहाभारतशब्देनादिकवेः प्रभृति सर्वैरेव सूरिभिरस्यादरः कृत इति दर्शयति। लक्षयतामित्यनेन वाचां स्थितमविषय इति परास्यति। लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षो लक्षणम्। लक्षेण निरूपयन्ति लक्षयन्ति, तेषां लक्षणद्वारेण निरूपयतामित्यर्थः। सहृदयानामिति। येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीय तन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः। यथोक्तम् —

योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना॥

प्रयोजन तो उस, [प्रयोजन] के द्वारा सम्पादनीय वस्तु की जो प्रयोक्तृता अथवा प्रयोजकतारूप प्राण जिसका, ऐसा होता है। इस दृष्टि से 'प्रीति के लिये उस ध्वनि का स्वरूप बतला रहे हैं' इसके साथ एकवाक्य रूप से व्याख्या की जानी चाहिये। अथवा यह व्याख्या है। उसके स्वरूप की व्याख्या करते हुए सङ्केत रूप में पूर्ववर्णित पाँचों पक्षों [विकल्पों] का निराकरण सूचित करते हैं—'सकल' इत्यादि द्वारा। सकल तथा सत्कवि शब्दों के द्वारा 'कोई प्रकार लेश सम्भव भी हो' इसका निराकरण करते हैं। 'अतिरमणीय' इस विशेषण द्वारा 'भाक्त' अर्थात् लाक्षणिक से पृथक्त्व बतलाते हैं क्योंकि 'सिंहो वटुः' तथा 'गङ्गायां घोषः' इनमें कोई रमणीयता नहीं है। 'उपनिषद्भूत' इस विशेषण शब्द द्वारा 'अपूर्वमाख्या [ध्वनि यह नवीन नाम] का रखना' इसका निराकरण किया है। 'अणुतर' [अणीयसी] इत्यादि बुद्धि के विशेषण द्वारा [ध्वनि का] गुण और अल-

ङ्कार में अन्तर्भाव नहीं हो सकता है, यह सूचित करते हैं। 'और भी' इत्यादि के द्वारा 'उस समय के होने वाले' इत्यादि द्वारा जो सामयिक होने सम्बन्धी शङ्का की गई थी उसे निरवकाश करते हैं। 'रामायण-महाभारत' इत्यादि शब्दों के द्वारा आदिकवि से लेकर सम्पूर्ण [सूरिभिः] विद्वानों ने इस [ध्वनि] का आदर किया है, यह प्रकट करते हैं। 'लक्षित करते हुए' के द्वारा 'वाणी के अविषय में स्थित' का निराकरण करते हैं। 'लक्षित करते हैं' इसके द्वारा लक्षण करते हैं। जिसके द्वारा लक्षित किया जाये उसे 'लक्ष' कहते हैं अर्थात् लक्षण। लक्ष अथवा लक्षण द्वारा निरूपण करते हैं। [इसको कहा जायगा] उन सबका अर्थात् 'लक्षण' के द्वारा निरूपण करने वालों का। सहृदयानामिति। काव्यानुशीलन के अभ्यास द्वारा जिनके विशदीभूत मन के दर्पण में वर्णनीय वस्तु के साथ तन्मय हो जाने की योग्यता हो, वे अपने हृदय के साथ संवाद [वर्णनीय वस्तु के साथ एकीकरण] को प्राप्त होने वाले जन सहृदय हैं। जैसा कि कहा भी है—

"जो, अर्थ [विभावादि रूप वस्तु] हृदय के साथ संवाद रखनेवाला हुआ करता है, उसकी भावनायें रसोद्भव में कारण हुआ करती हैं। वह सहृदय के शरीर को उसी प्रकार व्याप्त कर लिया करता है जिस प्रकार सूखे हुए काष्ठ को अग्नि व्याप्त कर लिया करती हैं।'

(आशुबोधिनी)

ध्वनि के स्वरूपनिरूपण में दो प्रयोजन हैं—(१) ध्वनि के सम्बन्ध में ध्वनिविरोधियों द्वारा जो तर्क आदि प्रस्तुत किये गए हैं उनका निराकरण ध्वनि के स्वरूपनिरूपण द्वारा स्वयं ही हो जायगा यह है प्रथम प्रयोजन। (२) ध्वनि के स्वरूप का निरूपण करने से सहृदयजनों को जो प्रीति प्राप्त होगी—यह द्वितीय प्रयोजन।

ध्वनि के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने हेतु पाठक प्रस्तुत ग्रन्थ के अध्ययन में प्रवृत्त होगा तथा प्रीति के निमित्त स्वरूपज्ञान में प्रवृत्त होगा। यही इन दोनों की एकवाक्यता अथवा एकरूपता है। इस भाँति एकवाक्य में—'प्रीति के लिए उस ध्वनि के स्वरूप को हम बतलाते हैं' ऐसी व्याख्या करनी चाहिए। अथवा यदि 'व्याख्येयम्' को व्याख्या+इयम्' ऐसा मान लें तो इस भाँति एकवाक्य में 'यह व्याख्या' है।

अनेक विशेषणों के साथ "तत्स्वरूपम्" की जो व्याख्या की गई है उसके द्वारा ध्वनिविरोधी पाँचों पक्षों के निराकरण को सूचित किया गया हैं। ये पाँचों पक्ष हैं—अभाववादो पक्ष के तीन प्रकार के विकल्प तथा चौथा भाक्तवादी और पाँचवाँ अलक्षणीयतावादी पक्ष। ऊपर की पंक्तियों में ध्वनि का जो विशिष्ट स्वरूप प्रदर्शित किया गया है उसमें प्रयुक्त विशेषण इन पाँचों पक्षों के निराकरण को ध्वनित करने वाले तथा साभिप्राय है। 'सकल' तथा 'सत्कवि' शब्दों से 'कस्मिश्चित् प्रकारलेशे' वाले पक्ष का [अर्थात् यह ध्वनि सम्पूर्ण श्रेष्ठ कवियों के काव्य में उपनिषद्भूत प्रधानतत्व है, से इस कथन का कि वह कुछ थोड़े से विचारकों द्वारा प्रचलित अलङ्कारों का ही नया प्रकार कल्पित कर लिया गया है, निराकरण हो जाता है। यह ध्वनितत्व "अतिरमणीयम्" है, के द्वारा भाक्तपक्ष का [अर्थात्–"यह ध्वनि तत्व, अत्यन्त रमणीय है" के द्वारा भाक्त अथवा लक्षणापक्ष का निराकरण हो जाता है क्योंकि 'बालक सिंह', 'गङ्गा में घर' आदि लक्षणामूलक वाक्यों में कोई रमणीयता नहीं हुआ करती है जब कि ध्वनितत्व को 'अतिरमणीय' कहा गया है।], उपनिषद्भूतम्' से 'अपूर्वसमाख्यामात्रकरणे' वाले पक्ष का [अर्थात् ,यह ध्वनितत्व सम्पूर्ण सत्काव्यों का उपनिषद्भूत है' के द्वारा 'एक नवीन नाम रख देने से क्या लाभ ?' का निराकरण हो जाता है।] "अणीयसीभिश्चिरन्तनकाव्यलक्षणविधायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम्" इस विशेषण के द्वारा गुण और अलङ्कार के अन्तर्भूतत्ववादी पक्ष का [अर्थात् 'ध्वनितत्व सूक्ष्मपरिमाण से युक्त बुद्धिवालों के द्वारा भी समझ पाना कठिन है' इस कथन के द्वारा 'उस ध्वनि का गुण अथवा अलङ्कार में अन्तर्भाव कर दिया जाना चाहिये' इस कथन का निराकरण हो जाता है।] 'अथ च' इत्यादि के द्वारा 'तत्समयान्तःपातिना कश्चित्' सम्बन्धी पक्ष का [कुछ लोगों ने ध्वनि के सम्बन्ध में यह कहकर सामयिक बतलाया था कि' कुछ सहृदय व्यक्तियों द्वारा स्वीकार कर लेने मात्र से ध्वनि का स्वरूप स्थिरता को प्राप्त न कर सकेगा' इसका निराकरण करते हुये यह कहा गया है कि 'रामायण महाभारत आदि सम्पूर्ण सत्काव्यों में ध्वनि का आदर किया गया है। यहाँ तक कि आदिकवि तक ने उसकी प्रतिष्ठा की है।' अतएव ध्वनि कुछ सहृदयों द्वारा मान्यता का विषय नहीं बन सकता है।] तथा 'लक्षयताम् [लक्षित करते हुए]' इस पद के द्वारा 'वाचां स्थितमविषये' का निराकरण किया गया है [पंचम पक्ष था कि वह

ध्वनि वाणी का विषय नहीं हो सकती अर्थात् उसका लक्षण किया ही नहीं जा सकता है। इसके निराकरण में कहा गया है 'लक्षयताम्' अर्थात् उस ध्वनि के स्वरूप का लक्षण द्वारा निरूपण करने वाले। अभिप्राय यह है कि उस ध्वनि के स्वरूप का लक्षण किया जा रहा है।] इस भाँति पाँचों पक्षों अथवा विप्रतिपत्तियों का उपर्युक्त विशेषणों द्वारा निराकरण हो जाता है।

['लक्षयताम्'--'लोचन' तथा 'बालप्रिया' दोनों टीकाओं के लेखकों द्वारा 'लक्षयताम्' इस पद की व्याख्या में 'लक्ष्यतेऽनेन इति लक्षो लक्षणम्। लक्षेण निरूपयन्ति लक्षयन्ति, तेषां लक्षणद्वारेण निरूपयताम्' यह अर्थ किया गया है। यहाँ 'करण में 'घञ्' प्रत्यय करके 'लक्ष' शब्द का निर्माण किया गया है। किन्तु पाणिनीय शास्त्र के अनुसार 'करण में घञ् नहीं होता है क्योंकि 'ल्युट्' उसे बाध देता है। इसका समाधान यह है कि जब महाभाष्यकार ने 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' में बाहुलकात् करण घञन्त 'उपदेश' शब्द का साधन किया है तो फिर बाहुलकात् करण घञन्त वाला मार्ग यहाँ भी निकाला जाना संभव है। किन्तु 'दिव्याञ्जना' में महादेव शास्त्री जी द्वारा 'लक्षयताम्' का सीधा 'निरूपयताम्' अर्थ कर देने से पूर्वोक्त बाहुलक की क्लिष्ट कल्पना से बचा जा सकता है। ऐसी स्थिति में अगतिक गति तथा बाहुलक का आश्रयक प्राप्तकर करण घञन्त 'लक्ष' पद के व्युत्पादन का प्रयास क्यों किया जाय ? यह विद्वानों द्वारा विचारणीय है।

सहृदय ही इस ग्रन्थ के अधिकारी हैं। काव्यों के अनुशीलन के अभ्यास द्वारा जिनके विशदीभूत मन के दर्पण में वर्णनीय वस्तु के साथ तन्मय हो जाने की योग्यता हुआ करती है वे अपने हृदय से संवाद [अर्थात् वर्णनीय वस्तु के साथ एकता स्थापित करना] को प्राप्त होने वाले जन ही सहृदयजन कहलाते हैं। [अर्थात् वर्णनीय वस्तु के साथ तन्मयता अथवा एकाकारिता को प्राप्त कर लेना ही सहृदयता है।] जैसा कि कहा भी गया है--

'जिस अर्थ [विषय] में हृदय को तन्मय कर देने वाली सामर्थ्य हुआ करती है उसकी भावना अथवा निरन्तर चर्वणा ही चर्वणाप्राण इसकी अभिव्यक्ति में कारण होती है। जिस भाँति सूखे हुए काठ में अग्नि व्याप्त हो जाया करती है, उसी भाँति हृदय को एकाकाररूप में परिणतकर वह अर्थ अथवा विषय सम्पूर्ण शरीर पर अपना प्रभाव उत्पन्न किया करता है। इसी दृष्टि से रसचर्वणा के अवसर पर

रोमाञ्च आदि शारीरिक विकारों की अनुभूति हुआ करती है।

[लोचनम्]

आनन्द इति। रसचर्वणात्मनः प्राधान्यं दर्शयन् रसध्वनेरेव सर्वत्र मुख्यभूतमात्मत्वमिति दर्शयति। तेन यदुक्तम्—

ध्वनिर्नामापरो योऽपि व्यापारो व्यञ्जनात्मकः।
तस्य सिद्धेऽपि भेदे स्यात्काव्येऽशत्वं न रूपता॥ इति॥

तदुपहस्तितं भवति तथा ह्यभिधाभावनारसचर्वणात्मकेऽपि त्र्यंशे काव्ये रसचर्वणा तावज्जीवितभूतेति भवतोऽप्यविवादोऽस्ति। यथोक्तं त्वयैव—

काव्ये रसयिता सर्वो न बोद्धा न नियोगभाक्। इति॥

तद्वस्त्वलङ्कारध्वन्यभिप्रायेणांशमात्रत्वमिति सिद्धसाधनम्। रसध्वन्यभिप्रायेण तु स्वाभ्युपगमप्रसिद्धसंवेदनविरुद्धमिति। तत्र कवेस्तावत्कीर्त्यापि प्रीतिरेव सम्पाद्या। यदाह—'कीर्ति स्वर्गफलामाहुः' इत्यादि। श्रोतृणां च व्युत्पत्तिप्रीती यद्यपि स्तः, यथोक्तम्—

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैलक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्ति प्रीतिञ्च साधुकाव्यनिषेवणम्॥ इति॥

'आनन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठाम्' इस कथन में भी साधारण अर्थ के अतिरिक्त निम्नलिखित दो बातें और भी ध्वनित होती हैं--

१. आगे चलकर ध्वनि के तीन भेद किये जावेंगे—(१) वस्तुध्वनि (२) अलङ्कारध्वनि और (३) रसध्वनि। इन तीनों में आनन्दरूपरसध्वनि की ही प्रधानता है। प्रथम बात तो यह ध्वनित होती है।

२. दूसरी यह है कि 'ध्वन्यालोक' इस ग्रन्थ के रचयिता हैं आनन्दवर्धनाचार्य। रचयिता होने के अतिरिक्त वे ध्वनिमार्ग के संस्थापक भी हैं। अतएव इस ध्वनि की स्थापना रूप कार्य के द्वारा सहृदयों के मन में उनको प्रतिष्ठा प्राप्त हो। इस भावना को भी अपने नाम के आदि भाग 'आनन्द' शब्द द्वारा प्रकट किया है।

आनन्द इति। रसचर्वणा रूप [आनन्द का] प्राधान्य दिखलाते हुए 'रसध्वनि' का ही प्रमुखरूप से सर्वत्र आत्मत्व है, यह दिखला रहे हैं। इसीलिये जो कि कहा था--

ध्वनि नामका जो भी अन्य व्यञ्जनात्मक व्यापार है उसका [अभिधा और

भावना से] भेद सिद्ध हो जाने पर भी उसका काव्य में अंशत्व ही होगा, [काव्य] रूपता नहीं होगी ।

वह निराकृत हो जाता है क्योंकि अभिधा, भावना और रसचर्वणारूप तीन अंशों वाले काव्य में रसचर्वणा प्राणरूप में स्थित है, यह तो आपके मत में भी निर्विवाद है । जैसा कि आपने ही कहा है—

काव्य में रस लेने वाले सभी हो जाते हैं, किन्तु जानने वाला नहीं होता है और न आज्ञापालन करने वाला ही होता है ।

अतएव यदि वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि के अभिप्राय से अंशत्वमात्र हैं तब तो सिद्ध बात को ही सिद्ध करना है । और यदि रसध्वनि के अभिप्राय से हैं तो स्वयं ही स्वीकार की गई हुई प्रसिद्धि रूप सहृदयानुभव संवेदन के विरुद्ध हो जाता है । कवि कीर्ति से भी प्रीति का ही सम्पादन करता है । जैसा कि कहा है— 'कीर्ति को स्वर्गरूप फलवाली कहते हैं ।' इत्यादि, जैसा कि कहा भी गया है—

'साधु अथवा सत्काव्य के सेवन करने से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष तथा कलाओं में कुशलता और कीर्ति तथा प्रीति रूप फल प्राप्त होते हैं ।'

(आशुबोधिनी)

'आनन्द' इति । इस स्थल पर 'आनन्द' शब्द विशिष्ट अर्थ का द्योतक है । रस की चर्वणा ही 'आनन्द' है । अतएव सर्वत्र रसध्वनि की ही प्रधानता है । इसको ही काव्य की आत्मा अथवा स्वरूप कहा जा सकता है । ऐसी स्थिति में भट्टनायक द्वारा जो यह कहा गया था कि 'ध्वनि नाम का जो दूसरा व्यञ्जनात्मक व्यापार है, यदि उसे अभिधा तथा व्यञ्जना से पृथक् एक नवीन प्रकार स्वीकार कर भी लिया जाय तो भी वह अंश ही होगा, काव्य का स्वरूप अथवा आत्मा कभी भी नहीं हो सकता है । उनकी इस बात का निराकरण उन्हीं के सिद्धान्त से स्वतः ही हो जाता है । क्योंकि वस्तु, अलङ्कार और रसभेद से ध्वनि को तीन प्रकार का कहा गया है । इनमें रसचर्वणा को ही काव्य का जीवन माना गया है । इस विषय में भट्टनायक को कोई विवाद नहीं है । जैसाकि उन्होंने स्वयं ही कहा है—

'काव्य में न तो ज्ञान की ही प्रधानता है और न उपदेश की ही, उसमें तो एकामात्र रस की ही प्रधानता है ।'

अब यदि 'ध्वनि' को अंशी न मानकर वे अंश रूप में ही उसे स्वीकार करते हैं तया अभिप्राय रूप में वे वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनियों को ही अंशरूप में मानते हैं तो इसे तो हम भी इसी रूप में कहते हैं। तब तो हमारी व उनकी एक ही बात रही। किन्तु यदि उनका अभिप्राय 'रसध्वनि' को अंशरूप में मानने से है तब तो वे स्वतः स्वीकृत अपने सिद्धान्त से ही विरुद्ध जा रहे हैं। प्रसिद्धि के भी विरुद्ध यह होगा, साथ ही सहृदयों के स्वसंवेदनसिद्धि के विरुद्ध भी।

काव्यशास्त्र के आचार्यों द्वारा काव्य के अनेक प्रयोजन माने गये हैं। उन सभी में 'आनन्द' का ही प्राधान्य है। कविदृष्टि से काव्य के प्रयोजन हैं कीर्ति तथा प्रीति। कीर्ति के द्वारा भी प्रीति का ही सम्पादन हुआ करता है। जैसाकि कहा भी गया है—'कीर्ति स्वर्गफल वाली हुआ करती है।' आनन्द का ही नाम स्वर्ग भी है। अतएव कीर्ति का भी फल 'आनन्द हुआ।'

श्रोता की दृष्टि से व्युत्पत्ति तथा प्रीति को काव्य का प्रयोजन कहा गया है। जैसा कि कहा भी गया है—'धर्म, अर्थ काम और मोक्ष तथा कलाओं में नैपुण्य, कीर्ति और प्रीति–ये फल सत्काव्य का सेवन [अध्ययन आदि] करने से हुआ करते हैं।'

[लोचनम्]

तथापि तत्र प्रीतिरेव प्रधानम्। अन्यथा प्रभुसंमितेभ्यो वेदादिभ्यो मित्रसंमितेभ्यश्चेतिहासादिभ्यो व्युत्पत्तिहेतुभ्यः कोऽस्य काव्यरूपस्य व्युत्पत्तिहेतोर्जायासंमितत्वलक्षणो विशेष इति प्राधान्येनानन्द एवोक्तः। चतुर्वर्गव्युत्पत्तेरपि चानन्द एव पार्यन्तिकं मुख्यं फलम्।

आनन्द इति च ग्रन्थकृतो नाम। तेन स आनन्दवर्धनाचार्य एतच्छास्त्रद्वारेण सहृदयहृदयेषु प्रतिष्ठां देवतायतनादिवदनश्वरीं स्थितिं गच्छत्विति भावः। तथोक्तम्—

उपेयुषामपि दिवं सन्निबन्धविधायिनाम्।
आस्त एव निरातङ्कं कान्तं काव्यमयं वपुः॥ इति॥

यथा मनसि प्रतिष्ठा एवंविधमस्य मनः, सहृदयचक्रवर्ती खल्वयं ग्रन्थकृदिति यावत्। यथा 'युद्धे प्रतिष्ठा परमार्जुनस्य' इति स्वनामप्रकटीकरणं

श्रोतृणां प्रवृत्यङ्गमेव सम्भावनाप्रत्ययोत्पादनमुखेनेति ग्रन्थान्ते वक्ष्यामः। एवं ग्रन्थकृतः कवेः श्रोतुश्च मुख्यं प्रयोजनमुक्तम् ॥ १ ॥

फिर भी वहाँ प्रीति ही प्रधान है। अन्यथा प्रभुसंमित वेदादि से और मित्र-संमित इतिहास आदि से, जो व्युत्पत्ति के हेतु हैं, उनसे व्युत्पत्ति के हेतुभूत काव्य का जायासम्मितत्व रूप वैशिष्ट्य ही क्या रहेगा? इसी कारण प्रधानरूप से 'आनन्द' ही यहाँ पर कहा गया है। धर्म आदि चारों वर्गों की व्युत्पत्ति का भी आनन्द ही पार्यन्तिक [अन्तिम] मुख्य फल है।

और 'आनन्द' यह ग्रन्थकार का नाम [भी] है। इससे वे [आनन्दवर्धनाचार्य] इस शास्त्र के माध्यम से सहृदयों के हृदयों में प्रतिष्ठा को, अर्थात् देवमन्दिर में देवता की भाँति कभी नष्ट न होनेवाली स्थिति को प्राप्त करें। जैसा कि कहा भी गया है—

'स्वर्ग को प्राप्त हुए भी श्रेष्ठ काव्य के रचयिता कवियों का, बिना किसी आतङ्क के, कमनीय काव्यमय शरीर प्रतिष्ठित ही रहा करता है।'

जिस भाँति [सहृदयों के] मन में प्रतिष्ठा हो, ऐसा इनका मन है। अभि-प्राय यह है कि ग्रन्थकार तो सहृदयचक्रवर्ती है। जैसे—'युद्ध में अर्जुन की महती प्रतिष्ठा है।' अपने नाम का यह प्रकट किया जाना श्रोताओं की प्रवृत्ति का, सम्भावना का विश्वास उत्पन्न करने के द्वारा, अङ्ग है, इस बारे में ग्रन्थ के अन्त में हम कहेंगे। इस भाँति ग्रन्थकार, कवि और श्रोता का प्रमुख प्रयोजन कहा गया है ॥ १ ॥

(आशुबोधिनी)

फिर भी इन सभी में 'प्रीति' की ही प्रधानता है क्योंकि यह प्रीति ही काव्य का प्रमुख प्रयोजन है। उपदेश तीन प्रकार के माने गये हैं—(१) प्रभुसम्मित-(२) मित्रसम्मित और (३) जायासम्मित। (१) प्रभुसम्मित उपदेश—वेद आदि का उपदेश। वेद के उपदेश में किसी प्रकार का तर्क आदि करना संभव नहीं होता है। उसका पालन करना अनिवार्य हुआ करता है। (२) मित्रसम्मित उपदेश—जैसे दर्शन अथवा इतिहास-पुराण आदि का उपदेश। यह उपदेश मित्र की भाँति अच्छे-बुरे का स्पष्ट निर्देश कर दिया करते हैं तथा स्वयं निर्णय करने हेतु छोड़ दिया करते हैं। (३) जाया अथवा कान्तासम्मित उपदेश—यह सर्वश्रेष्ठ उपदेश

है। यही उपदेश काव्य का होता है। इस उपदेश में व्युत्पत्ति [निपुणता] के साथ प्रधानरूप से 'आनन्द' ही रहा करता है। इसमें प्रणयिनी के प्रणय की ही तरह सर्वथा आनन्द की ही प्रधानता हुआ करती है। वेदादि के उपदेशों को तथा मित्रों की सम्मति को ठुकराया जा सकता है किन्तु आनन्द की अनुभूति के साथ प्रणयिनी द्वारा जो प्रभाव उत्पन्न कर दिया जाया करता है उसका पालन करना अनिवार्य सा हो जाया करता है। इसी भाँति काव्य के सम्यक् अनुशीलन से उत्पन्न हुए प्रभाव का अतिक्रमण किया जा सकना भी संभव नहीं हुआ करता है।

चारों [धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष] वर्गों की व्युत्पत्ति का अन्तिम फल प्रीति अथवा आनन्द ही है। यही आनन्द शब्द का वास्तविक अर्थ है। साथ ही आनन्दवर्धनाचार्य ने अपने उद्देश्य को भी 'आनन्द' इस नाम से प्रकट कर दिया।

अभिप्राय यह है कि ग्रन्थकार आनन्दवर्धनाचार्य का उद्देश्य यही था कि वे सहृदयों के हृदयों में उसी भाँति प्रतिष्ठा अथवा सम्मान को प्राप्त करें कि जिस भाँति किसी देवालय में सम्बन्धित देवता को प्रतिष्ठा प्राप्त हुआ करती है। मन्दिर में प्रतिष्ठा शाश्वत नहीं हुआ करती है किन्तु मन में प्रतिष्ठा निश्चित रूप से शाश्वत हुआ करती है। इस भाँति जब ग्रन्थकार सहृदयो के मन में स्थिर रहेगा तो उनके इस सम्भावना प्रत्यय अर्थात् अत्यधिक सम्मान के प्रति विश्वास करके श्रोतागण भी अवश्य ही उसके नाम से ग्रन्थ के अध्ययन में प्रवृत्त होंगे। अतएव ग्रन्थकार निश्चित रूप से सहृदयचक्रवर्ती हैं। 'प्रतिष्ठा' का अर्थ है—अत्यधिक सम्मानपूर्ण स्थिति। जैसे-'युद्ध में अर्जुन की बहुत बड़ी प्रतिष्ठा है।

इस भाँति ग्रन्थकार, कवि तथा श्रोता—तीनों की दृष्टि से प्रमुख प्रयोजन' 'आनन्द' का कथन किया गया ॥ १ ॥

इस भाँति इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही कथित अनुबन्धचतुष्टय का स्वरूप इस स्थल पर पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है। 'तत्स्वरूपं ब्रूमः' के द्वारा इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय 'ध्वनि का स्वरूप' है, यह सूचित होता है। 'विमतियों की विप्रतिपत्तियों की निवृत्ति तथा उससे 'सहृदयमनःप्रीतये' के द्वारा मनःप्रीति-रूप प्रमुख प्रयोजन का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। ध्वनि के स्वरूप को जानने की

इच्छा रखने वाले सहृदय जन ही उसके अधिकारी हैं। शास्त्र का विषय के साथ प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव सम्बन्ध है और प्रयोजन के साथ साध्यसाधनभाव सम्बन्ध है।

ध्वन्यालोकः

तत्र ध्वनेरेव लक्षयितुमारब्धस्य भूमिकां रचयितुमिदमुच्यते—

योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ॥ २॥

यहाँ प्रयुक्त 'तत्र' पद का निर्माण भावलक्षण सप्तमी के अथवा सति सप्तमी के द्विवचनान्त से 'त्रल्' प्रत्यय करने से हुआ है। अतएव उसका अर्थ "उन दोनों अर्थात् 'विषय और प्रयोजन के स्थित होने पर' यह होता है।

(तत्र) विषय तथा प्रयोजन–इन दोनों की स्थापना हो जाने पर, जिस ध्वनि का लक्षण करना है, उसकी आधारभूमि [भूमिरिव भूमिका] बनाने की दृष्टि से कहते हैं—

सहृदय जनों द्वारा प्रशंसित जो अर्थ 'काव्य की आत्मा' के रूप प्रतिष्ठित है उसके वाच्य और प्रतीयमान नामक दो भेद स्वीकार किये गये हैं।

[लोचनम्]

ननु 'ध्वनिस्वरूपं ब्रूमः' इति प्रतिज्ञाय वाच्यप्रतीयमानाख्यौ द्वौ भेदावर्थस्येति वाच्याभिधाने का सङ्गतिरित्याशङ्क्य सङ्गतिकर्तुमवतरणिकां करोति–तत्रेति। एवंविधेऽभिधेये प्रयोजने च स्थित इत्यर्थः। भूमिरिव भूमिका। यथा अपूर्वनिर्माणे चिकीर्षिते पूर्वं भूमिर्विरच्यते, तथा ध्वनिस्वरूपे प्रतीयमानाख्ये निरूपयितव्ये निर्विवादसिद्धवाच्याभिधानं भूमिः। तत्पृष्ठेऽधिकप्रतीयमानांशोल्लिङ्गनात्। वाच्येन समशीर्षिकया गणनं तस्याप्यनपह्नवनीयत्वं प्रतिपादयितुम्। स्मृतावित्यनेन यः समाम्नात पूर्वं इति दर्शयति। शब्दार्थशरीरं काव्य'मिति यदुक्तं तत्र शरीरग्रहणादेव केनचिदात्मना तदनुप्राणकेन भाव्यमेव। तत्र शब्दस्तावच्छरीरभाग एव सन्निविशते सर्वजनसंवेद्यधर्मत्वात्स्थूलकृशादिवत्। अर्थः पुनः सकलजनसंवेद्यो न भवति। न ह्यर्थमात्रेण काव्यव्यपदेशः, लौकिकवैदिकवाक्येषु तदभावात्। तदाह—सहृदयश्लाघ्य इति। स एक एवार्थो द्विशाखतया विवेकिभिर्विभागबुद्धया विभज्यते।

तथाहि—तुल्येऽर्थरूपत्वे किमिति कस्मैचिदेव सहृदयाः श्लाघन्ते । तद्भवितव्य तत्र केनचिद्विशेषेण । यो विशेषः स प्रतीयमानभागो विवेकिभिर्विशेषहेतुत्वादात्मेति व्यवस्थाप्यते वाच्यसंवलनाविमोहितहृदयैस्तु तत्पृथग्भावे विप्रतिपद्यते चार्वाकैरिवात्मपृथग्भावे अतएव अथ इत्येकतयोपक्रम्य सहृदयश्लाघ्य इति विशेषणद्वारा हेतुमभिधायापोद्धारदृशा तस्य द्वौ भेदावंशावित्युक्तम्, न तु द्वावप्यात्मानौ काव्यस्येति ।

'ध्वनि के स्वरूप को कहते हैं' यह प्रतिज्ञा करके वाच्य और प्रतीयमान नामक अर्थ के दो भेद हैं । इस भाँति वाच्य का कथन करने में कारिका की क्या संगति है ? ऐसी आशङ्का करके सङ्गति करने के निमित्त अवतरणिका देते हैं—तत्रेति । अर्थात् इस प्रकार के अभिधेय और प्रयोजन के स्थित होने पर । भूमि के समान भूमिका । जिस भाँति अपूर्व निर्माण करने की इच्छा होने पर पहले भूमि बना ली जाया करती है उसी भाँति प्रतीयमान नामक ध्वनिरूप के निरूपण का लक्ष्य होने पर निर्विवादरूप से सिद्ध वाच्य का कथन भूमि है । क्योंकि उस वाच्य की पीठ पर प्रतीयमान नामक अधिक अंश का उल्लेख किया जाना संभव है । वाच्य के सदृश समान शीर्ष के रूप में गिना जाना उसके भी छिपाये न जा सकने का प्रतिपादन करने के लिये है । 'स्मृतो' के द्वारा 'जो पहले समाम्नात किया जा चुका है' [यः समाम्नातपूर्वः] उसे दृढ़ करते हैं । जैसा कि कहा गया है–'शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं' के अनुसार शरीरग्रहण से ही उसे अनुप्राणित करने वाले किसी आत्मा को होना ही चाहिये । उसमें शब्द तो शरीर के भाग में ही सन्निवेश प्राप्त किये हुए हैं क्योंकि वह स्थूल एवं कृश आदि शरीर की तरह सभी लोगों द्वारा संवेद्य है । अर्थ सभी लोगों द्वारा संवेद्य नहीं हुआ करता है । केवल अर्थ मात्र से काव्य का नाम नहीं पड़ा करता है क्योंकि लौकिक-वैदिक वाक्यों में वह [काव्य का व्यपदेश] नहीं होता । उसी को कहा है—'सहृदयश्लाघ्य इति' [सहृदय लोगों द्वारा प्रशंसनीय] वह एक ही अर्थ दो शाखाओं अथवा अंशों के रूप में होने के कारण विवेचनयोग्य लोगों के द्वारा विभाग-बुद्धि से विभक्त किया जाया करता है ।

जैसा कि—दोनों में अर्थरूपता समान है । फिर किसी की हो सहृदय लोग प्रशंसा क्यों किया करते हैं ? तो वहाँ किसी वैशिष्ट्य को होना चाहिये । जो

विशेष है, वह है प्रतीयमान भाग । विशेष होने के कारण ही विवेकी लोगों द्वारा 'आत्मा' के रूप में व्यवस्थापित किया जाता है । वाच्यार्थ की संवलना [वासना] से विमोहित हृदयवालों के द्वारा उस प्रतीयमान के पृथक् होने के कारण विप्रतिपत्ति की जाया करती हैं जिस भाँति चार्वाकों के द्वारा आत्मा के पृथक् होने में [आपत्ति उठाई जाया करती है ।] अतएव 'अर्थः' इस एकवचन के रूप में उपक्रम करके 'सहृदयश्लाघ्य' इस विशेषण द्वारा हेतु कहकर अपोद्धार [विभाग] की दृष्टि से उसके दो भेद अथवा अंश होते हैं, ऐसा कहा । यह नहीं कहा कि काव्य के दोनों ही अर्थ आत्मा होते हैं ।

(आशुबोधिनी)

प्रस्तुत कारिका में अर्थ के दो भेद किये गये हैं (१) वाच्य और (२) प्रतीयमान । वैसे प्रतीयमान अर्थ ही ध्वनि है । फिर यहाँ वाच्य अर्थ का वर्णन क्यों किया जा रहा है ? प्रतिज्ञा तो यह की गई थी कि 'ध्वनिस्वरूपं ब्रूमः' अर्थात् ध्वनि के स्वरूप को बतला रहे हैं । ऐसी स्थिति में इसकी सङ्गति किस भाँति बैठेगी ? यह प्रश्न उत्पन्न होता है । इसी का उत्तर देने की दृष्टि से ग्रन्थकार द्वारा पूर्वोक्त अवतरणिका लिखी गई है । उनका कहना है कि वहाँ पर यह कारिका ध्वनिसिद्धान्त सम्बन्धी लक्षण की भूमिका है । 'वहाँ पर' का अभिप्राय है उक्त अभिधेय और प्रयोजन के होते हुए । 'भूमिका' का अर्थ है 'भूमि के सदृश' आधार-भूमि का निर्माण हो जाने पर ही उसके ऊपर भवन-निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया जाया करता है । इसी भाँति वाच्यार्थ ध्वनि की आधारभूमि है, उसी के आधार पर प्रतीयमान अर्थ की अभिव्यक्ति हुआ करती है । भाव यह है कि अर्थ का अधिक भाग प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ के आधार पर ही प्रतीतियोग्य हुआ करता है । वाच्यार्थ के समान ही प्रतीयमान अर्थ की गणना किये जाने का अभिप्राय यह है कि ग्रन्थकार अपने साध्य प्रतीयमान अर्थ को निर्विवाद सिद्ध वाच्यार्थ की सामान्य कोटि में लाकर प्रतीयमान अर्थ का भी वाच्यार्थ की ही भाँति प्रतिपादन करना चाहते हैं । कारिका में 'स्मृतो' शब्द प्रयुक्त हुआ है । इसका अर्थ यह है कि ग्रन्थकार आनन्दवर्धन से पूर्व इन दोनों अर्थों का कथन किया जा चुका है । इससे 'यः सामाम्नातपूर्वः' की पुष्टि होती है ।

शब्द एवं अर्थ को काव्य का शरीर कहा गया है । शरीर में आत्मा का

निवास होना अवश्यक है। अतएव काव्य-शरीर का भी 'आत्मा' होना चाहिये। तभी काव्य को जीवित कहा जा सकेगा। 'शब्द' को आत्मा नहीं कहा जा सकता है क्योंकि उसको तो शरीर रूप में ही स्वीकार किया जा चुका है। अतएव शब्दभिन्न ही कोई आत्मा हो सकता है। अर्थ दो प्रकार का होता है। एक अर्थ वह होता है कि जिसे सभी लोग सरलता से समझ सकते हैं उसमें कोई ऐसा वैशिष्टय नहीं हुआ करता है कि जो सहृदय जनों को अपनी ओर आकर्षित कर सके। दूसरे प्रकार का अर्थ वह हुआ करता है कि जिसकी प्रशंसा सहृदय जन स्वयं ही करने लगा करते हैं। इन दोनों में प्रथम प्रकार का साधारण अर्थ तो काव्य का शरीर ही कहलाता है। द्वितीय प्रकार के अर्थ को काव्य की आत्मा कहा जाया करता हैं। शब्द के सदृश अर्थ सर्वजन संवेद्य नहीं हुआ करता है। और न 'काव्य' को अर्थ की सत्तामात्र से ही 'काव्य' यह सत्ता ही प्राप्त हो सकती है। क्योंकि लौकिक एवं वैदिक वाक्यों में अर्थ तो हुआ करता है किन्तु हम उन्हें काव्य नहीं कहा करते हैं। इसीलिये सहृदयश्लाघ्य अर्थ को ही काव्य की आत्मा की संज्ञा प्राप्त हुआ करती है। इस भाँति आचार्य ने एक ही अर्थ को दो शाखाओं अथवा अंशों में विभक्त किया है। यद्यपि काव्यार्थ और लौकिक अर्थ में यह समानता है कि दोनों को अर्थ की संज्ञा प्राप्त हुआ करती है किन्तु फिर भी सहृदय लोगों द्वारा काव्यार्थ की प्रशंसा तो की जाया करती है, लौकिक अर्थ की नहीं। अतएव यह स्वीकार करना होगा कि काव्यार्थ में लौकिक अर्थ की अपेक्षा कोई न कोई विशेषता अवश्य है। जो वैशिष्ट्य है उसीको 'प्रतीयमान' अंश के नाम से कहा जाता है। इसी वैशिष्ट्य में हेतु होने के कारण विद्वज्जन प्रतीयमान अर्थ को ही आत्मा के रूप में व्यवस्थापित किया करते हैं किन्तु इतना अवश्य है कि इस प्रतीयमान अर्थ की आधारभूमि के रूप में वाच्यार्थ अवश्य रहा करता है। अतएव कुछ असहृदय व्यक्ति दोनों ही अर्थों की एकता को मानकर प्रतीयमान अर्थ को स्वीकार न कर उसका विरोध किया करते हैं। जैसे चार्वाक लोग शरीर को ही आत्मा मानकर शरीर से पृथक् आत्मा की सत्ता स्वीकार करने का विरोध किया करते हैं। यहाँ 'अर्थः' इस शब्द में एकवचन का प्रयोग किया है और उसका विशेषण दिया है—'सहृदयश्लाघ्य'। यह विशेषण काव्यार्थ के वैशिष्ट्य के हेतु को प्रकट करता है। भेद शब्द का अर्थ है 'अंश'। दोनों अर्थों के मिश्रण के कारण एकता की बुद्धि से एकवचन का प्रयोग अवश्य

कर दिया गया है किन्तु विभाग की दृष्टि से उस अर्थ के दो अंश बतला दिये गये हैं। अतएव ऐसा नहीं समझना चाहिये कि दोनों अर्थ [वाच्य एवं प्रतीयमान] काव्य की आत्मा हैं।

"ध्वन्यालोकः"

काव्यस्य हि ललितोचितसन्निवेशचारुणः शरीरस्येवात्मा साररूपतया स्थितः। सहृदयश्लाघ्यो योऽर्थस्तस्य वाच्यः प्रतीयमानश्च द्वौ भेदौ।

जिस भाँति शरीर के अभ्यन्तर आत्मा की सत्ता हुआ करती है उसी भाँति सुन्दर [गुण, अलङ्कार से युक्त], उचित [रसादि के अनुरूप] रचना के कारण रमणीय काव्य के तत्वरूप में स्थित, सहृदयजनों द्वारा प्रशंसित जो अर्थ है उसके 'वाच्य' और 'प्रतीयमान' दो भेद हुआ करते हैं।

[लोचनम्]

कारिकाभागगतं काव्यशब्दं व्याकर्तुमाह—काव्यस्य हीति। ललितशब्देन गुणालङ्कारानुग्रहमाह। उचितशब्देन रसविषयमेवौचित्यं भवतीति दर्शयन् रसध्वनेर्जीवितत्वं सूचयति। तदभावे हि किमपेक्षयेदमौचित्यं नाम सर्वत्रोद्घोष्यत इति भावः। योऽर्थ इति यदानुवदन् परेणाप्येतत्तावदभ्युपगतमिति दर्शयति। तस्येत्यादिना तदभ्युगम एवं द्व्यंशत्वे सत्युपपद्यत इति दर्शयति। तेन यदुक्तम्—'चारुत्वहेतुत्वाद् गुणालङ्कारव्यतिरिक्तो न ध्वनिः' इति तत्र ध्वनेरात्मस्वरूपत्वाद्धेतुरसिद्ध इति दर्शितम्। न ह्यात्मा चारुत्वहेतुर्देहस्येति भवति। अथाप्येवं स्यात्तथापि वाच्येऽनैकान्तिको हेतुः। न ह्यलङ्कार्य एवालङ्कारः, गुणी एव गुणः। एतदर्थमपि वाच्यांशोपक्षेपः। अत एव वक्ष्यति—'वाच्यः प्रसिद्धः' इति॥ २॥

कारिका-भाग में आये हुए 'काव्य' शब्द की व्याख्या करने की दृष्टि से कहते हैं काव्यस्य हीति। ललित' शब्द के द्वारा गुण और अलङ्कार का अनुग्रह [सहायक होना] कहा गया है। 'उचित' शब्द के द्वारा 'रसविषयक ही औचित्य हुआ करता है' यह दिखलाते हुए 'रसध्वनि' का जीवित होना सूचित किया गया है। भाव यह है कि उस रस के अभाव में किसकी अपेक्षा से इस औचित्य को सर्वत्र उद्घोषित किया जाता है। 'योऽर्थः' में 'यत्' शब्द के द्वारा अनुवाद करते हुए

यह दिखलाया गया है कि दूसरों के द्वारा भी इसे स्वीकार किया गया है। 'तस्य' इत्यादि के द्वारा उस [प्रतीयमान] का मानना दो अंशों के होने पर ही उपपन्न होता है, यह दिखलाया गया है। इससे, जो कि यह कहा था कि 'चारुत्व का हेतु होने के कारण गुण एवं अलङ्कार से व्यतिरिक्त 'ध्वनि' नहीं है' 'ध्वनि' के आत्मास्वरूप होने के कारण उसमें हेतु प्रसिद्ध है, यह दिखला दिया। आत्मा शरीर का चारुत्व हेतु हुआ करता है, ऐसा निस्सन्देह नहीं होता है। यदि ऐसा हो तो भी वाच्य में अनैकान्तिक [व्यभिचारी] हेतु आ जाता है क्योंकि अलङ्कार्य ही अलङ्कार नहीं हुआ करता है। गुणी ही गुण नहीं हुआ करता है। इस दृष्टि से भी 'वाच्य' अंश का त्याग किया गया है। अतएव कहेंगे—'वाच्य अर्थ प्रसिद्ध है' इत्यादि।

(आशुबोधिनी)

कारिकाभाग में जो 'काव्य' शब्द प्रयुक्त हुआ है, अब यहाँ उसी की 'व्याख्या' करते हैं। काव्य ललित एवं उचित सन्निवेश के कारण रमणीय हुआ करता है। 'ललित' शब्द से अभिप्राय है—काव्य में गुण एवं अलङ्कारों की सहायता से चारुता अथवा रमणीयता आया करती है। उचित' शब्द 'रस विषयक औचित्य' का द्योतक है। इससे यह प्रतीति होती है कि काव्य का जीवनाधायक तत्व रसध्वनि ही है। [क्षेमेन्द्र की 'औचित्यविचारचर्चा' औचित्य सम्प्रदाय का एकमात्र ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के तृतीय उद्योत में औचित्य सम्बन्धी सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन किया गया है। उनका कथन है कि औचित्य सिद्धान्त का एकमात्र आधार 'रस' ही है। शब्द तथा अर्थ के औचित्य का पर्यवसान भी 'रस' में ही हुआ करता है।] अतएव 'रसध्वनि' ही औचित्य की दृष्टि से भी अपेक्षित हैं। फिर यदि 'रसध्वनि' को काव्य का जीवनाधायक तत्व स्वीकार नहीं किया जायगा तो सर्वत्र औचित्य सम्बन्धी जो घोषणा की जाया करती है उसका मन्तव्य क्या होगा ?

'योऽर्थः' में यः [यत्] का अर्थ है कि वाच्यार्थ को विरोधी जन भी स्वीकार करते हैं। 'उस [अर्थ] के दो भेद होते हैं' इस वाक्य में 'उस' शब्द का अभिप्राय है—कि दो अंशों [भागों] के होने पर ही उसकी सत्ता सिद्ध होती है। जब रमणीय अर्थ को काव्य की आत्मा के रूप में मान लिया तब चारुत्व हेतु

होने के कारण 'ध्वनि' गुण एवं अलङ्कार से व्यतिरिक्त नहीं हुआ करती हैं' इस कथन में 'स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास' आ जाता है क्योंकि आत्मा स्वयं शरीर के सौन्दर्य में कारण नहीं हुआ करती है। यदि हम किसी प्रकार इसको स्वीकार भी कर लें कि आत्मा शरीर के सौन्दर्य का कारण होती है तो भी हेतु में व्यभिचार दोष तो आ ही जायगा। इसका कारण यह है कि जो स्वयं अलंकृत किये जाने योग्य है वह अलङ्कार कैसे हो जायगा ? जो स्वयं गुणी है वह गुण कैसे हो सकता है ? यदि 'प्रतीयमान-अर्थ' को ही 'अलङ्कार' अथवा 'गुण' स्वीकार कर लिया जायगा तो फिर अलङ्कार्य अथवा गुणी कौन कहलाएगा ? इस दृष्टि से भी 'वाच्य' अंश का त्याग किया गया है। अतएव यह कहा गया है कि 'वाच्य जो प्रसिद्ध है' ॥ २ ॥

ध्वन्यालोकः

तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः ।
बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः काव्यलक्ष्मविधायिभिः ।
ततो नेह प्रतन्यते ॥

केवलमनूद्यते पुनर्यथायोगमिति ।

उनमें जो वाच्य अर्थ प्रसिद्ध है उसकी व्याख्या अन्य काव्यतत्त्ववेत्ता आचार्यों द्वारा 'उपमा' इत्यादि भेदों के द्वारा नाना प्रकार से की गई है।

काव्य के लक्षणकारों के द्वारा।

उस कारण यहाँ उसका विस्तार नहीं किया जा रहा है ॥ ३ ॥

फिर उपयोग के अनुसार उसका अनुवाद मात्र किया जा रहा है।

[लोचनम्]

तत्रेति। द्व्यंशत्वे सत्यपीत्यर्थः। प्रसिद्ध इति। वनितावदनोद्यानेन्दूदयादिलौकिक एवेत्यर्थः। 'उपमादिभिः प्रकारैः स व्याकृतो बहुधेति' सङ्गतिः। अन्यैरिति कारिकाभागं काव्येत्यादिना व्याचष्टे। 'ततो नेह प्रतन्यते' इति विशेषप्रतिषेधेन शेषाभ्यनुज्ञेति दर्शयति—केवलमित्यादिना ॥ ३ ॥

तत्रेति—अर्थात् दो अंशों वाला होने पर भी। प्रसिद्ध इति—अर्थात् स्त्री का मुख, उद्यान, चन्द्रोदय आदि लौकिक उद्दीपन। 'उपमा' आदि प्रकारों के द्वारा उसकी बहुधा व्याख्या की गई है, यह सङ्गति है। 'अन्यैः' इस कारिकाभाग

की 'काव्यलक्षणविधायिभिः' इत्यादि के द्वारा व्याख्या की गई है। अतएव उसका यहाँ विस्तार नहीं करते हैं। इस भाँति विशेष के प्रतिषेध द्वारा शेष की अभ्यनुज्ञा [अनुवाद] दिखलाई जा रही है—'केवल०' इत्यादि के द्वारा ॥ ३ ॥

(आशुबोधिनी)

तृतीय कारिका के प्रारम्भ में आये हुए 'तत्र' शब्द का अर्थ है—'सहृदयजन द्वारा प्रशंसित अर्थ के दो भाग हैं। फिर भी वाच्यार्थ प्रसिद्ध है। 'प्रसिद्ध' शब्द का अर्थ है कि वाच्यार्थ स्त्रीमुखकमल, उद्यान, चन्द्रोदय आदि के रूप में लौकिक ही होता है। इस स्थल पर इसकी सङ्गति इस भाँति की जानी उचित है—उपमा इत्यादि प्रकारों के द्वारा उसकी अनेक प्रकार से व्याख्या की जा चुकी है। 'अन्यैः' पद कि जो प्रस्तुत कारिका में आया है, उसी की व्याख्या 'काव्य-लक्ष्यविधायिभिः' [काव्यलक्षणकारों द्वारा] के द्वारा की गई है। अतएव उसका यहाँ प्रतनन [विस्तार] नहीं किया जा रहा है। इस भाँति विशेष के प्रतिषेध द्वारा शेष का अनुवाद मात्र है। यह 'केवल०' इत्यादि के द्वारा दिखलाया गया है।

यहाँ 'प्रतनन' एवं 'अनुवाद' शब्दों को समझ लेना भी आवश्यक है। 'प्रतनन' का अर्थ है 'अज्ञात अर्थ का ज्ञापन'। 'अनुवाद से अभिप्राय है—'ज्ञात अर्थ का ज्ञापन'।

ध्वन्यालोकः

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥ ४ ॥

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वाच्यात् वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्। यत्तत्सहृदयसुप्रसिद्धं प्रसिद्धेभ्योऽलङ्कृतेभ्यः प्रतीतेभ्यो वाऽवयवेभ्यो व्यतिरिक्तत्वेन प्रकाशते लावण्यमिवाङ्गनासु। यथा ह्यङ्गनासु लावण्यं पृथङ्निर्वर्ण्यमानं निखिलावयवव्यतिरेकिकिमप्यन्यदेव सहृदयलोचनामृतं तत्त्वान्तरं तद्वदेव सोऽर्थः।

अर्थात् 'प्रतीयमान' कुछ और ही वस्तु है जो स्त्रियों के प्रसिद्ध [मुख, नेत्र, श्रोत्र आदि] अङ्गों से भिन्न [उनके] लावण्य के सदृश, महाकवियों की सूक्तियों में [वाच्यार्थ से] पृथक् ही भासित होता है।

महाकवियों की वाणियों में वाच्यार्थ से पृथक् प्रतीयमान कुछ अन्य ही वस्तु है। जो प्रतीयमान अर्थ सहृदयजनों में अत्यन्त प्रसिद्ध है तथा प्रसिद्ध अलंकारों एवं प्रतीत होने वाले अवयवों [शब्द और अर्थ] से उसी भाँति भिन्न है कि जिस भाँति अंगनाओं में प्रसिद्ध अलंकारों [आभूषणों] एवं प्रतीत होने वाले शारीरिक [मुख, नेत्र, श्रोत्र आदि] अंगों से सर्वथा पृथक् 'लावण्य' की प्रतीति हुआ करती है। जिस भाँति अङ्गनाओं में लावण्य [सौन्दर्य] पृथकरूप से दृष्टिगोचर होनेवाले सम्पूर्ण अवयवों से भिन्न प्रतीतियोग्य होकर सहृदयजनों के नेत्रों के लिये अमृत-सदृश कुछ और ही तत्व बन जाया करता है, उसी भाँति यह [प्रतीयमान] अर्थ है।

[लोचनम्]

अन्यदेव वस्त्विति। पुनः शब्दो वाच्याद्विशेषद्योतकः। तद्व्यतिरिक्तं सारभूतं चेत्यर्थः। महाकवीनामिति। बहुवचनमशेषविषयव्यापकत्वमाह। एतदभिधास्यमानप्रतीयमानानुप्राणितकाव्यनिर्माणनिपुणप्रतिभाभाजनत्वेनैव महाकविव्यपदेशो भवतीति भावः। यदेवंविधमस्ति तद्भाति। न ह्यत्यन्तासतो भानमुपपन्नम्। रजताद्यपि नात्यन्तमसद्भाति। अनेन सत्त्वप्रयुक्तं तावद्भानमिति भानात्सत्त्वमवगम्यते। तेन यद्भाति तदस्ति तथेत्युक्तं भवति। तेनायं प्रयोगार्थः— प्रसिद्धं वाच्यं धर्मि, प्रतीयमानेन व्यतिरिक्तेन तद्वत्। तथा भासमानत्वात् लावण्योपेताङ्गनावत्। प्रसिद्धशब्दस्य सर्वप्रतीतत्वमलङ्कृतत्वं चार्थः। यत्तदिति सर्वनामसमुदायश्चमत्कारसारताप्रकटीकरणार्थमव्यपदेश्यमन्योन्यसंवलनाकृतं चाव्यतिरेकभ्रमं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्दर्शयति। एतच्च किमपीत्याविना व्याचष्टे। लावण्यं हि नामावयवसंस्थानाभिव्यङ्ग्यमवयवव्यतिरिक्तं धर्मान्तरमेव। न चावयवानामेव निर्दोषता वा भूषणयोगो वा लावण्यम्, पृथङ् निर्वर्ण्यमानकाणादिदोषशून्यशरीरावयवयोगिन्यामप्यलङ्कृतायामपि लावण्यशून्येयमिति, अतथाभूतायामपि कस्याञ्चिल्लावण्यामृतचन्द्रिकेयमिति सहृदयानां व्यवहारात्।

दूसरी ही वस्तु''''। 'पुनः' शब्द यहाँ वाच्य से विशेष का बोधक है। अर्थात् [प्रतीयमान अर्थ] उस वाच्य से व्यतिरिक्त भी तथा सारभूत भी है। 'महाकवीनाम्' [महाकवियों की] इसमें प्रयुक्त बहुवचन सम्पूर्ण विषयों में [प्रतीयमान अर्थ की] व्यापकता को बतलाता है। कहने का अभिप्राय यह है

कि जिसका विवेचन आगे किया जायगा उस प्रतीयमान अर्थ से अनुप्राणित काव्य के निर्माण में निपुण प्रतिभा का भाजन होने के कारण ही 'महाकवि' यह व्यपदेश [नाम संज्ञा] प्राप्त हुआ करता है। जिस कारण वह [प्रतीयमान] अर्थ इस भाँति का [व्यतिरिक्त एवं सारभूत] होता है उस कारण सुशोभित होता है। क्योंकि जो अत्यन्त असत् हुआ करता है उसका तो भान होना सिद्ध ही नहीं हुआ करता है। 'रजत' आदि भी अत्यन्त असत् होने पर भासित नहीं हुआ करते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भान सत्ता से प्रेरित होने पर ही हुआ करता है। अतएव भान से [प्रतीयमान] का सत्त्व [अस्तित्व होना] ज्ञात होता है। इससे यह कहा हुआ हो जाता है कि जिसकी प्रतीति हुआ करती है वह उस प्रकार का होता अवश्य है। इससे प्रयोग रूप अर्थ यह होगा कि प्रसिद्ध जो वाच्य धर्मी है वह अपने से व्यतिरिक्त प्रतीयमान से युक्त होता है क्योंकि वह उसी भाँति भासित हुआ करता है जैसे लावण्य से युक्त किसी अङ्गना का अङ्ग। 'प्रसिद्ध' शब्द का अर्थ है—'सबको प्रतीत होना' तथा 'अलंकृत होना'। 'यत्तत्' [जो, वह] यह दो सर्वनामों का समुदाय [प्रतीयमान अर्थ के] चमत्कार का सार होना प्रकट करने की दृष्टि से व्यपदेश [नामकरण] की अशक्यता एवं परस्पर मिश्रण से उत्पन्न [वाच्य और व्यङ्ग्य तथा अङ्गना (स्त्री) का अङ्ग और लावण्य] दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में अव्यतिरेक [अभेद] के भ्रम को दिखलाता है। और 'कुछ' इत्यादि शब्दों के द्वारा इसकी व्याख्या की गई है। 'लावण्य' तो वह धर्मविशेष ही है कि जो अवयवों के संघटन [संस्थान] द्वारा अभिव्यक्त होने वाला होते हुए होने पर भी अवयवों से भिन्न रहा करता है। अवयवों की निर्दोषता ही अथवा अवयवों का भूषणों से युक्त होना 'लावण्य' नहीं है क्योंकि पृथक्रूप में दिखलाई पड़नेवाले काणत्व आदि दोषों से रहित शारीरिक अंगों वाली तथा आभूषणों से सुसज्जित होने पर भी 'यह लावण्यशून्य है' ऐसा तथा जो उस प्रकार की नहीं है उस किसी स्त्री में 'यह लावण्यरूपी अमृत की चन्द्रिका है' ऐसा सहृदयों का व्यवहार होता है।

प्रस्तुत चतुर्थ कारिका में प्रतीयमान वस्तु के अस्तित्व का प्रतिपादन एक दृष्टान्त द्वारा किया गया है। जिस भाँति कामिनियों के शरीर का अथवा शारीरिक अङ्गों का लावण्य उनके मुख, आँख, नाक, कान आदि शारीरिक अंगों

से अपृथक्भूत रहते हुए भी उनसे भिन्न तथा कुछ विशिष्ट चमत्कार की वस्तु-सा प्रतीत हुआ करता है, इसी भाँति प्रतीयमान अर्थ भी महाकवियों की वाणियों में वाच्यार्थ से पृथक्भूत होते हुए भी उससे भिन्न रूप में ही भासित हुआ करता है।

प्रस्तुत कारिका में 'पुनः' शब्द का प्रयोग वाच्यार्थ से प्रतीयमान अर्थ की विशेषता को प्रकट करता है। तात्पर्य यह है कि 'प्रतीयमान अर्थ [अथवा व्यङ्ग्यार्थ] वाच्यार्थ से भिन्न भी है और सारभूत भी। 'महाकवि' तथा 'वाणी' इन दोनों शब्दों में प्रयुक्त बहुवचन का प्रयोग विषय की व्यापकता का ही द्योतक है। भाव यह है कि प्रतीयमान अर्थ महाकवियों की वाणियों में सर्वत्र विद्यमान रहा करता है। 'महाकवि' की संज्ञा उन्हीं को प्राप्त हुआ करती है कि जिनको भगवान् की अनुकम्पा से ऐसी 'प्रतिभा' प्राप्त हुई हो कि वे आगे बतलाये जाने वाले प्रतीयमान अर्थ से अनुप्राणित काव्य-रचना करने मे निपुण हों। 'विभाति' शब्द बतलाता है कि जो इस प्रकार का हुआ करता है उसी की शोभा हुआ करती है। पूर्णरूप से असत् पदार्थ का तो भान हुआ ही नहीं करता है। शुक्ति [सीप] में भी रजत [चाँदी] का भान तभी हुआ करता है जब कि उसकी पृथक् सत्ता विद्यमान रहा करती है। अविद्यमान वन्ध्यापुत्र अथवा आकाशपुष्प का तो भान कभी हुआ ही नहीं करता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिसके अस्तित्व का भान हुआ करता है, उसी के भान से सत्ता सिद्ध हुआ करती है। इस भाँति अनुमान इस रूप में बनेगा—प्रसिद्ध वाच्य [पक्ष], स्वव्यतिरिक्त प्रतीयमान से युक्त हुआ करता है [साध्य], क्योंकि उसका भान होता है [हेतु] जैसे—लावण्य से युक्त कामिनियों के अङ्ग [उदाहरण]। प्रसिद्ध शब्द का अर्थ है–' 'सभी को प्रतीत होना तथा अलंकृत होना।'

'लावण्य' को केवल देखकर ही समझा जा सकता है उसे प्रकट करने हेतु किसी भी शब्द में सामर्थ्य नहीं है। इसी के लिए आचार्य आनन्दवर्धन ने तो सर्वनामों 'यत्-तत्' का प्रयोग किया है। और वृत्ति में 'किमपि' [कुछ] के द्वारा उसकी व्याख्या की। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ग्रन्थकार को दो बातें अभिप्रेत हैं। प्रथम तो यह कि जिस भाँति 'लावण्य' को किसी भी शब्द के माध्यम से व्यक्त नहीं किया जा सकता है [अर्थात् उसका व्यपदेश नाम संज्ञा] नहीं किया जा सकता है। उसी भाँति प्रतीयमान भी वस्तुतः अव्यपदेश्य तत्त्व है।

यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यहाँ उक्त बात मात्र 'रसध्वनि' की दृष्टि से ही कही गई है।

दूसरी बात यह है कि जिस भाँति कामिनी के अङ्ग तथा लावण्य में लोगों को अभेद-सा प्रतीत होने लगा करता है उसी भाँति वाच्य और प्रतीयमान में भी लोगों को अभेद की प्रतीति होने लगा करती है और वे दोनों को एक समझने लगा करते हैं। इन दोनों बातों में 'प्रतीयमान' को 'अव्यपदेश्य' कहने का लाभ यही है कि प्रतीयमान अर्थ 'लावण्य' की ही भाँति एक चमत्कार सारतत्व है, उसकी अनुभूति ही की जा सकती है।

[लोचनम्]

ननु लावण्यं तावद्व्यतिरिक्तं प्रथितम्। प्रतीयमानं किं तदित्येव न जानीमः, दूरे तु व्यतिरेकप्रथेति। तथाभासमानत्वमसिद्धो हेतुरित्याशङ्क्य सह्यर्थ इत्यादिना स्वरूपं तस्याभिधत्ते। सर्वेषु चेत्यादिना च व्यतिरेकप्रथां साधयिष्यति। तत्र प्रतीयमानस्य तावद् द्वौ भेदौ—लौकिकः, काव्यव्यापारैकगोचरश्चेति। लौकिको यः स्वशब्दवाच्यतां कदाचिदधिशेते, स च विधिनिषेधाद्यनेकप्रकारो वस्तु शब्देनोच्यते। सोऽपि द्विविधः—यः पूर्वं क्वापि वाक्यार्थेऽलङ्कारभावमुपमादिरूपयतान्वभूत्, इदानीं त्वनलङ्काररूप एवान्यत्र गुणीभावाभावात्, स पूर्वप्रत्यभिज्ञानबलादलङ्कारध्वनिरिति व्यपदिश्यते ब्राह्मणश्रमणन्यायेन। तद्रूपताभावेन तूपलक्षितं वस्तुमात्रमुपलक्ष्यते। मात्रग्रहणेन हि रूपान्तरं निराकृतम्। यस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्दवाच्यो न लौकिकव्यवहारपतितः, किं तु शब्दसमर्प्यमाणहृदयसंवादसुन्दरविभावानुभावसमुचितप्राग्विनिविष्टरत्यादिवासनानुरागसुकुमारस्वसंविदानन्दचर्वणाव्यापाररसनीयरूपो रसः। स काव्यव्यापारैकगोचरो रसध्वनिरिति, स च ध्वनिरेवेति, स एव मुख्यतयात्मेति।

'लावण्य' तो अङ्गों से व्यतिरिक्त [पृथक्] रूप में प्रसिद्ध है किन्तु वह 'प्रतीयमान' क्या है? यही नहीं जानते हैं। व्यतिरेक [भेद] की प्रसिद्धि तो दूर की बात रही। उस प्रकार से भासमान होना रूप हेतु तो प्रसिद्ध है। यह शङ्का करके 'स हि अर्थः' इत्यादि के द्वारा उस [प्रतीयमान] अर्थ का स्वरूप कहते हैं। 'सर्वेषु च' [और सब उनके प्रकारों में] इत्यादि के द्वारा व्यतिरेक की स्थिति को सिद्ध करेंगे। उनमें प्रतीयमान के दो भेद हैं—(१) लौकिक,

(२) काव्यव्यापारैकगोचर। लौकिक तो वह है कि जो कभी स्वशब्दवाच्य होने की दशा को प्राप्त करता है। वह विधि-निषेध आदि की दृष्टि से अनेक प्रकार का होता है तथा 'वस्तु' शब्द द्वारा कहा जाया करता है। वह भी दो प्रकार का होता है—जो पहले [वाच्य की अवस्था] किसी वाक्यार्थ में उपमादिरूप से अलङ्कारभाव को प्राप्त हुआ, इस समय [व्यङ्ग्य होने की दशा में] अलङ्काररूप नहीं ही है, क्योंकि अन्यत्र [वाक्यार्थ में] जो उसका गुणीभाव हो जाता था, वह नहीं होता। वह पहले की पहिचान के बल पर 'अलङ्कारध्वनि' के नाम से पुकारा जाया करता है, जैसे ब्राह्मणसन्यासी। उस [अलङ्कार] रूप के अभाव से उपलक्षित वह 'वस्तु मात्र' कहलाता है। 'वस्तु' के साथ 'मात्र' का ग्रहण करने के द्वारा दूसरे [अलङ्कार] रूप का निराकरण किया गया है। जो स्वप्न में भी स्वशब्द वाच्य नहीं होता था लौकिक के अन्तर्गत ही आता है किन्तु शब्द के द्वारा समर्पित किये जाने वाले तथा सहृदयों के हृदय से मेल खाने के कारण सुन्दर प्रतीत होने वाले विभाव और अनुभाव के अनुरूप हृदय में पहले से ही रहने वाली रति आदि वासनाओं के अनुराग [उद्बोधन] के द्वारा सुकोमल एवं सहृदय की संवित् [मन] का, आनन्दमय चर्वणाव्यापार के द्वारा आस्वादन के योग्य होता है जिसे 'रस' कहते हैं। काव्य के व्यापार का एक मात्र गोचर 'रसध्वनि' है। और वह 'ध्वनि' ही [ध्वनि मात्र] है, वही मुख्यरूप से 'आत्मा' है।

(आशुबोधिनी)

यद्यपि 'लावण्य' नामक शारीरिक धर्म शरीर के अंगों में निवास करनेवाला ही हुआ करता है किन्तु वह शारीरिक अङ्गों से भिन्न कोई दूसरा ही धर्म है जिसे हम किसी अङ्ग में सन्निविष्ट नहीं कर सकते हैं। इसी भाँति 'प्रतीयमान' अर्थ की प्रतीति भी वाच्यार्थ के माध्यम द्वारा ही हुआ करती है। वाच्यार्थ की प्रतीति होने के अनन्तर ही प्रतीयमान अर्थ का बोध हुआ करता है। फिर भी यह प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न ही हुआ करता है।

अच्छा, तो हम यह मानते हैं कि 'लावण्य' नामक धर्म अङ्ग संस्थान से पृथक्, प्रसिद्ध वस्तु है किन्तु 'प्रतीयमान' क्या वस्तु है? यह हमें ज्ञात नहीं। जब हम उसके बारे में जानते ही नहीं है। तब वाच्यार्थ से उसके पृथक् होने की

बात तो दूर की ही बात है। अतएव भासमानत्व हेतु स्वरूप से ही असिद्ध है तथा उसके प्रतीयमान के अस्तित्व को सिद्ध किया जा सकना भी संभव नहीं है। इसी बात का उत्तर देने के लिये 'प्रतीयमान' अर्थ को तीन प्रकार का बतलाया गया है तथा सभी प्रकारों में वह वाच्यार्थ से भिन्न है यह दिखलाया गया है। प्रतीयमान अर्थ की पृथकता सिद्ध करने की दृष्टि से ऐसा कहा गया है।

'प्रतीयमान' अर्थ के दो भेद होते हैं—(१) लौकिक और (२) काव्यव्यापारमात्रगोचर। इनमें से प्रथम लौकिक प्रतीयमान वह है जो कि कभी स्वशब्दवाच्यता की स्थिति को प्राप्त किया करता है। इस लौकिक प्रतीयमान के भी दो भेद हुआ करते हैं—(१) जो पहले किसी वाक्य के अर्थ में 'उपमा' आदि के रूप में अलङ्कार होने का अनुभव कर चुका हो, किन्तु वर्तमान में किसी के प्रति गौण न होने के कारण अपनी अलङ्काररूपता का त्याग कर चुका हो। चूंकि यह पहले अलङ्कार था, अतएव उसे अलङ्कार ध्वनि का नाम दिया जाता है। जैसे कोई ब्राह्मण, सन्यासी हो जाय तो उसका ब्राह्मणत्व तो समाप्त हो जायगा; किन्तु वह अपनी भूतपूर्व गति के आधार पर ब्राह्मणसन्यासी ही कहा जाया करता है। उसी प्रकार से उक्त अलङ्कार को भी भूतपूर्व गति के आधार पर 'अलङ्कारध्वनि' नाम से ही कहा जाया करता है। (२) वह है जो कि पहले कभी अलङ्काररूपता को प्राप्त न हुआ हो। इसे 'वस्तुमात्रध्वनि' नाम से कहा जाता है। 'मात्र' शब्द द्वारा द्वितीय भेद 'अलङ्कारध्वनि' का निराकरण हो जाया करता है। इस भाँति प्रतीयमान के प्रथम भेद [लौकिक] की व्याख्या हो गई। कुछ 'प्रतीयमान अर्थ' इस प्रकार के भी हुआ करते हैं जो कि स्वप्न में भी स्वशब्दवाच्य नहीं हो सकते हैं तथा न कभी लोकव्यवहार में ही आ सकते हैं किन्तु उनका स्वरूप 'आनन्द' प्रदायक अवश्य हुआ करता है। मानवमात्र के हृदय में लौकिक अनुभूतियों के आधार पर 'रति' इत्यादि भाव पहले से ही विद्यमान रहा करते हैं। जब हम किसी काव्य के शब्दों का श्रवण करते हैं अथवा अभिनय देखा करते हैं तो उनके द्वारा सम्बन्धित विभावों तथा अनुभावों की भी अनुभूति होने लगा करती है। हृदय की अनुकूलता के कारण ये सुरम्य प्रतीत होने लगा करते हैं। इस प्रकार की परिस्थिति में काव्य के सहृदय अध्येता व्यक्ति को अथवा अभिनय में विद्यमान सहृदय दर्शक व्यक्ति के अंतःकरण में एक प्रकार के आनन्द की अनुभूति होने लगा करती है। यही 'आनन्द' रस

नाम से कहा जाया करता है। यही है काव्यव्यापारमात्रगोचर 'रसध्वनि'। इसी को 'ध्वनि' नाम से पुकारा जाता है। इसीकी प्रमुखता के कारण इसे 'काव्य की आत्मा' कहा जाता है। आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार वस्तुतः यही है 'काव्य की आत्मा'।

ध्वन्यालोकः

स ह्यर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रमलंकाररसादयश्चेत्यनेकप्रभेदप्रभिन्नो दर्शयिष्यते। सर्वेषु च तेषु प्रकारेषु तस्य वाच्यादन्यत्वम्।

यह प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ की सामर्थ्य से प्रक्षिप्त होकर वस्तुमात्र, अलङ्कार और रस इत्यादि के अनेक भेद-प्रभेदों में विभक्त हो जाया करता है, यह आगे दिखलाया जायगा। इन सभी प्रकार के भेदों अथवा प्रकारों में वह [प्रतीयमान अर्थ] वाच्य से भिन्न ही हुआ करता है।

[लोचनम्]

यदूचे भट्टनायकेन—'अंशत्वं न रूपता इति। तद्वस्त्वलङ्कारध्वन्योरेव यदि नामोपालम्भः, रसध्वनिस्तु तेनैवात्मतयाङ्गीकृतः। रसचर्वणात्मनस्तृतीयस्यांशस्याभिधाभावनांशद्वयोत्तीर्णत्वेन निर्णयात्, वस्त्वलङ्कारध्वन्यो रसध्वनिपर्यन्तत्वमेवेति वयमेव वक्ष्यामस्तत्र तत्रेत्यास्तां तावत्।

जो कि भट्टनायक ने यह कहा है कि [ध्वनि] अंश होती है, रूप नहीं। यदि यह उनका उपालम्भ वस्तु और अलङ्कारध्वनियों के लिये ही है तब तो कोई बात नहीं; क्योंकि इस स्थिति में रसध्वनि को तो उन्होंने भी काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार कर ही लिया। जैसा कि इस चर्वणारूप तृतीय अंश अभिधा तथा भावनारूप दो अंशों से अतिरिक्त [पृथक् परे] होने के रूप में निर्णय किया जा चुका है। वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि का पर्यवसान [अन्त] रसध्वनि में हो जाता है, इस विषय में हम ही उन-उन स्थलों में कहेंगे। बस, अब इस विषय में अधिक कहने की क्या आवश्यकता ?

(आशुबोधिनी)

भट्टनायक द्वारा जो यह कह गया है कि—

"ध्वनिर्नामापरो योऽपि व्यापारो व्यञ्जनात्मकः।
तस्य सिद्धेऽपि भेदे स्यात्कार्येऽशत्वं न रूपता॥"

अर्थात् ध्वनि नामक जो दूसरा व्यञ्जनारूप व्यापार है उसका [वाच्य से] भेद सिद्ध हो जाने पर भी काव्य में उसका अंशत्व ही होगा, रूपता अथवा अंशित्व [आत्मा होना] नहीं।

भट्टनायक का कथन है कि 'ध्वनि काव्य का अंश होती है, उसका स्वरूप नहीं।' उनके इस कथन से वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि की अंशरूपता का प्रतिपादन करना ही अभिप्राय प्रतीत होता है। 'रसध्वनि' को तो वे स्वयं ही काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार करते हैं क्योंकि उन्होंने स्वयं ही यह निर्णय कर दिया है कि रसचर्वणात्मक तृतीय अंश उनके द्वारा स्वीकृत अभिधा और भावना नामक दो अंशों का अतिक्रमण कर स्थित होता है। आगे चलकर हम भी इस बात को सिद्ध करेंगे कि वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनियों का पर्यवसान रसध्वनि में होता है। अतएव अब इस विषय पर अधिक चर्चा करने से क्या लाभ ?

ध्वन्यालोकः

तथा ह्याद्यस्तावत्प्रभेदो वाच्याद् दूरं विभेदवान्। स हि कदाचिद्वाच्ये विधिरूपे प्रतिषेधरूपः। यथा—

जैसे कि प्रथम [वस्तुध्वनि] भेद वाच्यार्थ से अत्यधिक भिन्न है। क्योंकि कहीं वाच्यार्थ के विधिरूप होने पर भी वह [प्रतीयमान अर्थ] निषेधरूप होता है। जैसे—

भम धम्मिअ वीसत्थो सो सुणओ अज्ज मारिओ देण।
गोलाणइकच्छकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण॥
[भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदावरीनदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन॥]

अर्थात् हे धार्मिक ! अब आप विश्वस्त होकर घूमिये। [क्योंकि] गोदावरी नदी के किनारे कुञ्ज में निवास करने वाले मदमत्त [अथवा उद्धत] सिंह ने आज उस कुत्ते को मार डाला है।

[लोचनम्]

वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तमिति भेदत्रयव्यापकं सामान्यलक्षणम्। यद्यपि हि ध्वननं शब्दस्यैव व्यापारः, तथाप्यर्थसामर्थ्यस्य सहकारिणः सर्वत्रानपायाद्वाच्यसामर्थ्या-

क्षिप्तत्वम् । शब्दशक्तिमूलानुरणनव्यङ्ग्येऽप्यर्थसामर्थ्यादेव प्रतीयमानावगतिः, शब्दशक्तिः केवलमवान्तरसहकारिणीति वक्ष्यामः । दूरं विभेदवानिति । विधिनिषेधौ विरुद्धाविति न कस्यचिदपि विमतिः । एतदर्थं प्रथमं तावेवोदाहरति—

'भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन ।
गोदावरीनदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ॥'

वाच्य की सामर्थ्य से आक्षिप्त यह [वस्तुध्वनि, अलङ्कारध्वनि और रसध्वनि] तीनों भेदों में व्याप्त रहने वाला सामान्य लक्षण है । यद्यपि ध्वनन, शब्द का ही व्यापार है, फिर भी सहकारी अर्थसामर्थ्य के सर्वत्र विद्यमान होने के कारण वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तत्व तो है ही । शब्दशक्ति तो मात्र अवान्तर सहकारिणी ही हुआ करती है, यह कहेंगे । 'बहुत दूर तक भेद रखने वाला ।' विधि और निषेध परस्पर विरुद्ध हुआ करते हैं, इसमें किसी की भी असहमति नहीं है । इस विषय से सम्बन्धित अर्थ का उदाहरण दे रहे हैं—'भ्रम धार्मिक' इत्यादि—

'हे धार्मिक ! गोदावरी नदी के किनारे कुञ्ज में निवास करने वाले उस उन्मत्त सिंह के द्वारा वह कुत्ता आज मार डाला गया है, अतएव अब आप विश्वस्त होकर घूमिये ।'

(आशुबोधिनी)

'वाच्यार्थ' की सामर्थ्य से आक्षिप्त होना [प्रतीयमान अर्थों से सम्बन्धित] तीनों [वस्तुध्वनि, अलङ्कार ध्वनि और रसध्वनि] भेदों में समानरूप से लागू होता है । यद्यपि ध्वनित करना शब्द का ही व्यापार है फिर भी सहकारिणी अर्थ-सामर्थ्य की सत्ता तो सर्वत्र विद्यमान रहा करती है । अतएव सभी स्थलों पर 'वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तत्व' विद्यमान रहा करता है । आगे चलकर यह स्पष्ट किया जायेगा कि शब्दशक्तिमूलक-संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य में भी अर्थशक्ति के द्वारा ही प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति हुआ करती है । शब्द-शक्ति तो मात्र अवान्तर सहकारिणी ही हुआ करती है ।

'विधि और निषेध परस्पर विरुद्ध हुआ करते हैं' इस विषय में किसी की भी असहमति नहीं है अर्थात् यह सभी मानते हैं । अतएव सर्वप्रथम इन्हीं दोनों से सम्बन्धित 'वस्तुध्वनि' का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं । इसमें यह दिखलाया जा

रहा है कि यदि वाच्यार्थ विधिपरक है तो प्रतीयमान अर्थनिषेधपरक। देखिये—'भ्रम धार्मिक' इत्यादि—

'हे धार्मिक! अब तुम विश्वस्त होकर यहाँ भ्रमण किया करो [क्योंकि] गोदावरी नदी के किनारे स्थित कुञ्ज में निवास करने वाले उस मदोद्धत सिंह ने उस कुत्ते को आज ही मार डाला है।'

[लोचनम्]

कस्याश्चित्सङ्केतस्थानं जीवितसर्वस्वायमानं धार्मिकसञ्चरणान्तरायदोषात्तदवलुप्यमानपल्लवकुसुमादिविच्छायीकरणाच्च परित्रातुमियमुक्तिः। तत्र स्वतः सिद्धमपि भ्रमणं श्वभयेनापोदितमिति प्रतिप्रसवात्मको निषेधाभावरूपः, न तु नियोगः प्रैषादिरूपोऽत्र विधिः, अतिसर्गप्राप्तकालयोर्ह्ययं लोट्। तत्र भावतद्भावयोर्विरोधाद् द्वयोस्तावन्न युगपद्वाच्यता, न क्रमेण, विरम्य व्यापाराभावात्। 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत्' इत्यादिनाभिधाव्यापारस्य विरम्य व्यापारासंभवाभिधानात्।

किसी नायिका के प्राणों के सर्वस्वरूप में स्थित सङ्केतस्थल के धार्मिक के संचरणरूप अन्तराय [विघ्न] के दोष तथा उसके द्वारा तोड़े जाते हुए फूल-पत्तों से छाया एवं शोभारहित कर देने के कार्य से रक्षा करने हेतु यह उक्ति है। वहाँ धार्मिक का स्वतःसिद्ध भ्रमण कुत्ते के भय से प्रतिषिद्ध कर दिये जाने से यहाँ विधि प्रतिप्रसवरूप है अर्थात् निषेधाभावरूप है, न कि प्रैषादिरूप नियोग है। 'भ्रम' पद सम्बन्धी जो यह लोट् लकार है वह अतिसर्ग [इच्छानुकूल प्रवृत्त होने] और प्राप्तकाल के अर्थ में हुआ है। भाव एवं उसके अभाव में पारस्परिक विरोध होने के कारण दोनों की युगपत् [एकसमय में अथवा एक साथ] वाच्यता नहीं है। क्रमशः भी नहीं, क्योंकि विराम हो जाने के अनन्तर व्यापार नहीं हुआ करता है। जैसा कि [विशेषण में अपनी शक्ति खो देने के पश्चात्] 'अभिधा विशेष्य तक नहीं पहुँचती है' इत्यादि के द्वारा अभिधा व्यापार का रुक कर कार्य करना असंभव कहा गया है।

(आशुबोधिनी)

कोइ पुंश्चली एवं प्रगल्भा नायिका अपने प्रियतम से गोदावरी के किनारे स्थित कुञ्जों के मध्य निर्मित सङ्केतस्थान पर मिला करती है। उस स्थान की

रम्यता के कारण कोई धार्मिक सन्यासी सन्ध्योपासन अथवा भ्रमण के लिये वहाँ आकर विघ्न तो उपस्थित करने ही लगे, साथ ही वहाँ के पुष्प एवं पत्तों को तोड़-तोड़कर उस स्थान को नष्ट करने लगे। उससे उस नायिका के कार्यों में विघ्न पड़ने लगा। उसने सोचा कि कोई ऐसा उपाय किया जाय कि जिससे यह धार्मिक यहाँ न आया करे। वह धार्मिक व्यक्ति वहाँ रहनेवाले एक कुत्ते से भयभीत रहा करता था। अतएव वह धार्मिक को सम्बोधित करती हुई कह रही है—हे धार्मिक सन्यासिन्! वह कुत्ता, जो कि आपको प्रतिदिन तंग किया करता था, उसे आज ही गोदावरी नदी के किनारे कुञ्ज में निवास करने वाले मदोद्धत सिंह ने मार डाला है। अभिप्राय यह है कि प्रतिदिन आपके भ्रमण में बाधा डालने वाले कुत्ते के मर जाने से आपके मार्ग की वह बाधा तो अब समाप्त हो गई है। अतएव अब आप निश्चिन्त एवं निर्भय होकर भ्रमण किया करें। वह पुंश्चली नायिका भलीभाँति जानती है कि धार्मिक तो कुत्ते से ही भयभीत रहा करते हैं। जब उन्हें यह ज्ञात होगा कि उसे सिंह ने मार डाला है और वह सिंह यहीं समीप के कुंज में निवास करता है तो निश्चित रूप से यह धार्मिक व्यक्ति भूल कर भी इस ओर आने का साहस नहीं करेगा। अतएव वह धार्मिक व्यक्ति को निश्चिन्त होकर वहाँ भ्रमण करने का निमन्त्रण दे रही है।

अतएव यहाँ वाच्यार्थ तो यह है कि अब तुम निश्चिन्त एवं निर्भय होकर यहाँ भ्रमण कर सकते हो, अब तुमको कुत्ते का कोई भय नहीं रहा। किन्तु इससे जो प्रतीयमान अर्थ आक्षिप्त हो रहा है, वह है कि—अभी तक तो यहाँ पर कुत्ता ही रहा करता था, अब यहाँ पर दुर्दान्त सिंह भी रहने लगा है, वह किसी दिन तुमको मार न डाले। अतएव भविष्य में आप भूलकर भी इधर न आइयेगा। इस भाँति उक्त श्लोक से निकलने वाला वाच्यार्थ तो विधिपरक है किन्तु उससे जो प्रतीयमान अर्थ [वस्तुध्वनि] निकल रहा है वह निषेधकारक है।

प्रस्तुत श्लोक में 'धार्मिक' पद धार्मिक की भीरुता का, 'दृप्त' पद सिंह की भीषणता का तथा 'वासिना' पद सिंह की वहाँ निरन्तर विद्यमानता का सूचक है।

लिङ् एवं लेट् लकार सम्बन्धी प्रत्यय तथा तव्यत् प्रत्यय 'विधि-प्रत्यय कहलाते हैं। विधिप्रत्ययान्त पदों का श्रवण करने से यह प्रतीत हुआ करता है कि 'अयं मां प्रवर्तयति'। विधिप्रत्ययान्त पदों के श्रवण करने से यह प्रतीति होती है कि प्रयोक्ता व्यक्ति मुझे किसी विशेष कार्य में प्रवृत्त कर रहा है। अतएव विधि-

प्रत्यय का सामान्य अर्थ 'प्रवर्तना' ही हुआ करता है। यह प्रवर्तना वक्ता का अभिप्रायरूप है।

मीमांसकों के द्वारा विध्यर्थ के सम्बन्ध में विशेषरूप से विचार किया गया है। उनके सिद्धान्तानुसार 'वेद' अपौरुषेय हैं। वेद में प्रयुक्त हुए 'स्वर्गकामो यजेत' आदि विधिप्रत्यय द्वारा जिस प्रवर्त्तना का बोध हुआ करता है वह शब्दनिष्ठ व्यापार होने के कारण 'शाब्दी भावना' कही जाती है। लौकिक वाक्यों में तो प्रवर्त्तकत्व पुरुषनिष्ठ हुआ करता है तथा अभिप्रायविशेष में रहा करता है किन्तु वैदिक-वाक्यों का वक्ता पुरुष नहीं है। अतएव प्रवर्त्तकत्व व्यापार केवल शब्द-निष्ठ रहा करता है। अतएव इसे 'शाब्दी भावना' कहा जाता है। 'पुरुषप्रवृत्यनु-कूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः शाब्दी भावना।' उस वाक्य का श्रवणकर फल के उद्देश्य से पुरुष की जो प्रवृत्ति हुआ करती है उसे 'आर्थी भावना कहा जाया करता है—'प्रयोजनेच्छाजनितक्रियाविषयो व्यापार आर्थी भावना।' साधारण-रूप से 'विधि' शब्द का अर्थ होता है 'प्रवर्तक होना' अथवा 'भावना आदि रूप होना।' किन्तु यह अर्थ 'क्वचिद् वाच्ये विधिरूपे प्रतिषेधरूपो यथा' में सङ्गत नहीं होगा। अतएव इस स्थल पर 'विधि' का अर्थ प्रतिप्रसव अथवा प्रतिषेध-निवर्त्तन ही लिया गया है। 'भ्रम' पद में जो लोट् लकार हुआ है वह 'प्रैषाति-सर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च' इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार अतिसर्ग [कामचार, स्वेच्छाविहार] अथवा प्राप्तकाल अर्थ में हुआ है, प्रैष [प्रमाणान्तरप्रमितेऽर्थे पुरुषनिष्ठा प्रनर्तना प्रैषः] अर्थ में नहीं।

'भ्रम धार्मिक···'इत्यादि उदाहरण में 'घूमो' इस विधिपरक अर्थ के पश्चात् ही 'मत घूमो' यह निषेधपरक अर्थ की प्रतीति भी हो रही है। ये दोनों विधि-निषेधपरक अर्थ परस्पर एक-दूसरे के सर्वथा विरुद्ध हैं, एक ही समय में वाच्य हो रहे हैं। यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि अभिधा शक्ति द्वारा जब एक विधि-परक अर्थ निकल चुका तब उसकी प्रवृत्ति पुनः निषेधपरक अर्थ में नहीं होगी, ऐसा नियम है। शब्द के सङ्केतित अर्थ का कथन करने में जो व्यापार हुआ करता है उसे 'अभिधा' कहते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकला कि निषेधपरक अर्थ तो संकेतित अर्थ है नहीं। अतएव इस निषेधपरक अर्थ के बोध के लिये किसी दूसरी शक्ति की कल्पना करनी होगी। वह शक्ति व्यञ्जना ही हो सकती है। इससे जो अर्थ निकलेगा वह 'व्यङ्ग्यार्थ' होगा।

[लोचनम्]

ननु तात्पर्याशक्तिरपर्यवसिता विवक्षया दृप्तधार्मिकतदादिपदार्थानन्वयरूप-मुख्यार्थबाधबलेन विरोधनिमित्तया विपरीतलक्षणया च वाक्यार्थीभूतनिषेध-प्रतीतिमभिहितान्वयदृशा करोतीति शब्दशक्तिमूल एव सोऽर्थः। एवमनेनोक्त-मिति हि व्यवहारः, तन्न वाच्यातिरिक्तोऽन्योऽर्थं इति।

[शङ्का] इस स्थल पर [भ्रमण की विधि में] तात्पर्य-शक्ति विवक्षा [कथन करने की इच्छा] के रूप में पर्यवसित नहीं हुई है [अभिप्राय यह है कि वक्ता जो कुछ भी कहना चाहता है उस अर्थ की पूर्ति नहीं हुई है।] विवक्षा होने से 'दृप्त' [मतवाला], 'धार्मिक' तथा 'तत्' [वह] इत्यादि पदों के अर्थों का अन्वय न लग सकना रूप मुख्य अर्थ के बाध के बल से विरोध के निमित्त वाली विपरीतलक्षणा के द्वारा अभिहितान्वयवाद की दृष्टि से वाक्यार्थीभूत निषेध की प्रतीति को उत्पन्न करती है। अतएव यह अर्थ शब्दशक्तिमूलक ही है। इस भाँति 'इसने कहा' ऐसा व्यवहार होता है। अतः वाच्यार्थ से भिन्न अन्य कोई अर्थ नहीं होता है।

(आशुबोधिनी)

अभिहितान्वयवादी मीमांसकों का कहना है कि वाक्यार्थ वही है जिसमें कि वक्ता का तात्पर्य निहित हो। इस भाँति 'तात्पर्य 'शक्ति के द्वारा वे लोग वाक्यार्थ का बोध किया करते हैं तथा पदार्थ-बोध के लिये 'अभिधा' शक्ति का। पुंश्चली नायिका का तात्पर्य भ्रमण के निषेध में है अर्थात् 'भ्रमणनिषेध' ही वाक्यार्थ है। यहाँ मुख्यार्थ का बाध 'दृप्त', 'धार्मिक' और 'तत्' इन तीन शब्दों के प्रयोग द्वारा हो रहा है। 'दृप्त' शब्द का अर्थ है 'मतवाला' अथवा 'उद्धत'। अभिप्राय यह है कि वह सिंह बड़ा ही भयानक है। 'धार्मिक' का अर्थ है 'एक महात्मा व्यक्ति'। महात्मा व्यक्ति में इतनी शक्ति कहाँ कि वह सिंह का सामना कर सके। 'तत्' [उस] सर्वनाम यह बतलाता है कि उस सिंह के यहाँ विद्यमान होने में कोई सन्देह नहीं है। उसका होना सर्वत्र प्रसिद्ध है। श्रवण-परम्परा से आपने भी सुना ही होगा। इन शब्दों के प्रयोग से भ्रमण-विधान में विरोध उत्पन्न होता है। इस भाँति यहाँ मुख्य अर्थ का बाध हो रहा है। इस आधार पर यहाँ विपरीतलक्षणा आ उपस्थित होती है। और वह तात्पर्यशक्ति की, जो भ्रमण-विधि में पर्यवसित

नहीं हो रही थी, सहायक बनती है और इस भाँति वह भ्रमण-निषेधरूप अर्थ की प्रतीति कराती है। अतएव यह निषेधपरक अर्थ शब्दशक्ति द्वारा ही निकलता है। 'तात्पर्यशक्ति' भी अभिधा के ही आश्रित रहा करती है। अतः भ्रमणनिषेध-रूप अर्थ अभिधामूलक ही है। इसी कारण व्यवहार में भी कहा जाता है कि 'उसने ऐसा कहा'। यह किसी के द्वारा नहीं कहा जाया करता है कि उसने ऐसा ध्वनित किया। अतएव भ्रमण-निषेधपरक अर्थ वाच्यार्थ ही है, उससे भिन्न अर्थ नहीं।

[लोचनम्]

नैतत्; त्रयो ह्यत्र व्यापाराः संवेद्यन्ते। पदार्थेषु सामान्यात्मस्वभिधा-व्यापारः, समयापेक्षयार्थावगमनशक्तिर्ह्यभिधा। समयश्च तावत्येव, न विशेषांशे, आनन्त्याद्व्यभिचाराच्चैकस्य। ततो विशेषरूपे वाक्यार्थे तात्पर्यशक्तिः परस्परान्विते, 'सामान्यान्यन्यथासिद्धेर्विशेषं गमयन्ति हि' इति न्यायात्। तत्र च द्वितीयकक्ष्यायां 'भ्रमे'ति विध्यतिरिक्तं न किञ्चित्प्रतीयते, अन्वयमात्रस्यैव प्रतिपन्नत्वात्। न हि 'गङ्गायां घोषः', 'सिंहो बटुः' इत्यत्र यथान्वय एव बुभूषन् प्रतिहन्यते, योग्यताविरहात्, तथा तव भ्रमणनिषेद्धा स श्वा सिंहेन हतः, तदिदानीं भ्रमणनिषेधकारणवैकल्याद् भ्रमणं तवोचितमित्यन्वयस्य काचित्क्षतिः। अत एव मुख्यार्थबाधा नात्र शङ्क्येति न विपरीतलक्षणाया अवसरः।

[समाधान] ऐसा नहीं है। क्योंकि यहाँ पर तीन व्यापार जाने जाते हैं। सामान्यरूप पदार्थों में अभिधा-व्यापार हुआ करता है क्योंकि समय अर्थात् सङ्केत की अपेक्षा से अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति को 'अभिधा' कहते हैं। संकेत उतने ही अंश में हुआ करता है, न कि विशेष अंश में, क्योंकि उससे आनन्त्य दोष होगा तथा एक का व्यभिचार दोष भी। इस कारण परस्पर अन्वित विशेषरूप वाक्यार्थ में तात्पर्यशक्ति हुआ करती है। क्योंकि यह न्याय है कि—विशेष के बिना सामान्य की सिद्धि न होने के कारण सामान्य विशेष का बोधन कराते हैं। उस दूसरी कक्ष्या में 'भ्रमण करो' इस विधि के अतिरिक्त अन्य कुछ प्रतीत नहीं होता। [क्योंकि] द्वितीय कक्ष्या में, अन्वयमात्र की ही प्रतीति हुआ करती है। 'गङ्गायां घोषः' तथा 'सिंहो बटुः' इन स्थलों में जिस

भाँति अन्वय ही होना चाहता हुआ, योग्यता के अभाव के कारण [शब्दों में अन्वित होने की योग्यता के अभाव के कारण] प्रतिहत हो जाया करता है, उसी भाँति तुम्हारे भ्रमण का निषेध करने वाला वह कुत्ता सिंह के द्वारा मार डाला गया; अतएव इस समय भ्रमणनिषेध के कारण के अभाव में तुम्हारा भ्रमण उचित है, इस अन्वय में किसी प्रकार की कोई क्षति [बाधा] नहीं है। अतः यहाँ मुख्य अर्थ के बाध की आशङ्का नहीं करना चाहिये। इस भाँति इस स्थल पर विपरीत लक्षणा का अवसर है ही नहीं।

(आशुबोधिनी)

['तात्पर्यवृत्ति' के सम्बन्ध में मीमांसकों के दो मत हैं-(१) अभिहितान्वय-वाद और (२) अन्विताभिधानवाद। इनमें प्रथम मत है कुमारिलभट्ट और उनके अनुयायियों का। द्वितीय मत है प्रभाकरगुरु और उनके अनुयायियों का। 'अभिहितान्वयवाद' का सिद्धान्त यह है कि वाक्यार्थज्ञान तथा वाक्यार्थपूर्ति में तीन हेतु हुआ करते हैं-(१) आकांक्षा, (२) योग्यता और (३) सन्निधि। इन तीनों से युक्त जब कुछ शब्द परस्पर अन्वित होकर एक प्रकार के विशिष्ट अर्थ का द्योतन किया करते हैं तब उस शब्दसमूह को 'वाक्य' कहा जाया करता है। ऐसे वाक्य में दो प्रकार के अर्थ होते हैं-(१) पदार्थ और (२) वाक्यार्थ। पदार्थ की प्रतीति होती है अभिधा-वृत्ति द्वारा और वाक्यार्थ की प्रतीति हुआ करती है तात्पर्यवृत्ति के द्वारा। इस भाँति अभिहितान्वयवादियों के मत में अभिधा एवं तात्पर्य ये दो वृत्तियाँ वाक्यार्थबोध में कारण हुआ करती हैं। वाक्यार्थ जब पर्यवसित हो जाया करता है तब एक तृतीयवृत्ति स्वीकार की जाया करती है। इसी का नाम है—'लक्षणा'। वाक्यार्थबोध के पश्चात् जब तात्पर्यानुपपत्ति के कारण वाच्यार्थ का बोध हो जाया करता है तब उससे सम्बन्धित एक अन्य अर्थ को ले लिया जाया करता है। इस तृतीयवृत्ति को ही 'लक्षणा' कहा जाता है।]

इस प्रकार अभिहितान्वयवाद अभिधा, तात्पर्य एवं लक्षणा इन सभी से युक्त है। अभिधावृत्ति द्वारा पदार्थबोध होता है और तात्पर्यवृत्ति द्वारा अन्वयरूप वाक्यार्थबोध। किन्तु वाक्यार्थबोध के आकांक्षा आदि कारणों के अभाव में लक्षणा से काम लेना पड़ा करता है। जैसे 'गंगायां घोषः', 'सिंहो बटुः' इत्यादि वाक्यों में शब्दों अथवा पदों का अर्थ तो हो जाता है किन्तु तात्पर्यवृत्ति की दृष्टि से जब

इनका संयोग करने लगते हैं तब तुरन्त ही ज्ञात हो जाता है कि इनमें योग्यता का अभाव है। ऐसे स्थानों पर अन्वय भी नहीं हो पाता। किन्तु यह बात 'भ्रम धार्मिक...' इत्यादि उदाहरण में नहीं घटती है। यहाँ शब्दों अथवा पदों में मिलने की योग्यता का अभाव नहीं है। इसी कारण यहाँ मुख्यार्थ बाध भी नहीं होता है। ऐसी स्थिति में विपरीतलक्षणा का अवसर भी प्राप्त नहीं होता है।

[लोचनम्]

भवतु वाऽसौ। तथापि द्वितीयस्थानसंक्रान्ता तावदसौ न भवति। तथा हि—मुख्यार्थबाधायां लक्षणायाः प्रक्लृप्तिः। बाधा च विरोधप्रतीतिरेव। न चाऽत्र पदार्थानां स्वात्मनि विरोधः। परस्परं विरोध इति चेत्—सोऽयं तर्ह्यन्वये विरोधः प्रत्येयः। न चाप्रतिपन्नेऽन्वये विरोधप्रतीतिः, प्रतिपत्तिश्चान्वयस्य नाभिधाशक्त्या, तस्याः पदार्थप्रतिपत्युपक्षीणाया विरम्याव्यापारात् इति तात्पर्यशक्त्यैवान्वयप्रतिपत्तिः।

अथवा वह [लक्षणा] हो। तब भी वह दूसरे स्थान पर संक्रान्त नहीं हो सकती। जैसे कि—मुख्य अर्थ का बाध होने पर लक्षणा की कल्पना की जाया करती है और विरोध की प्रतीति का होना ही बाधा है। इस स्थल पर पदार्थों का अपने आपमें कोई विरोध नहीं है। यदि परस्पर विरोध है तो वह विरोध अन्वय में प्रतीत होना चाहिये। जब तक अन्वय प्रतिपन्न नहीं हो जाता तब तक विरोध की प्रतीति हो ही न सकेगी। और अन्वय की प्रतीति अभिधाशक्ति द्वारा नहीं होगी क्योंकि पदार्थ की प्रतिपत्ति [ज्ञान] हो जाने पर वह उपक्षीण [नष्ट] हो जाती है, फिर उस [अभिधा] का रुककर व्यापार [दोबारा कार्य] नहीं हो सकता। इस भाँति तात्पर्य-शक्ति से ही अन्वय की प्रतिपत्ति हुआ करती है।

(आशुबोधिनी)

अथवा यह किसी प्रकार मान भी लिया जाय कि यहाँ 'लक्षणा' का अवसर है तो भी निषेधपरक अर्थ तात्पर्यवृत्ति द्वारा जाना जाने योग्य नहीं हो सकता। क्योंकि लक्षणा की कल्पना नहीं की जा सकती है कि जहाँ मुख्यार्थबाध हो। 'बाध' भी नहीं हुआ करता है कि जहाँ विरोध की प्रतीति हो। यह प्रतीति दो रूपों में हो सकती है—(१) शब्दों अथवा पदों का पारस्परिक विरोध तथा

(२)अन्वय का विरोध। 'प्रस्तुत उद्धरण में—'कुत्ते को सिंह ने मार डाला, आप स्वतन्त्रतापूर्वक भ्रमण करें'—में किसी प्रकार का संशय किया जाना संभव ही नहीं अतएव 'अन्वय' में ही विरोध स्वीकार करना होगा। अन्वय में बिरोध की प्रतीति तब तक संभव नहीं जब तक कि अन्वय प्रतिपन्न न हो जाय। अन्वय-सम्बन्धी ज्ञान अभिधावृत्ति द्वारा हो ही नहीं सकता क्योंकि अभिधावृत्ति तो पदार्थ को उत्पन्न कर उपक्षीण हो जाती है। साथ ही वह रुक-रुककर अपना कार्य कर नहीं सकती। ऐसी स्थिति में 'तात्पर्यवृत्ति' द्वारा ही अन्वय की प्रतीति करनी होगी। [तात्पर्यशक्ति भी अन्वय की प्रतीति अर्थात् वाक्यार्थ का ज्ञान करने में ही समाप्त हो जाती है। अतएव 'भ्रमण-निषेध' रूप लक्ष्यीभूत अर्थ इसकी सीमा से परे हो जायगा।]

[लोचनम्]

नन्वेवं 'अङ्गुल्यग्रे करिवरशतम्' इत्यत्राप्यन्वयप्रतीतिः स्यात्। किं न भवत्यन्वयप्रतीतिः दशदाडिमादिवाक्यवत्, किन्तु प्रमाणान्तरेण सोऽन्वयः प्रत्यक्षादिना बाधितः प्रतिपन्नोऽपि शुक्तिकायां रजतमिवेति तदवगमकारिणो वाक्यस्याप्रामाण्यम्। 'सिंहो माणवकः' इत्यत्र द्वितीयकक्ष्यानिविष्टतात्पर्यशक्तिसमर्पितान्वयबाधकोल्लासानन्तरमभिधातात्पर्यशक्तिद्वयव्यतिरिक्ता तावत् तृतीयैव शक्तिस्तद्बाधकविधुरीकरणनिपुणा लक्षणाभिधाना समुल्लसति।

[शङ्का] इस भाँति तो 'अङ्गुलि के अग्रभाग में सैकड़ों हाथी' इस वाक्य में भी अन्वय की प्रतीति हो जायगी? [समाधान] तब क्या 'दशदाडिमादि' [महाभाष्य के] वाक्य की ही भाँति अन्वय की प्रतीति नहीं होगी? किन्तु ज्ञान हुआ भी वह अन्वय 'शुक्ति में रजत' के सदृश दूसरे प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा बाधित हो जाता है। अतएव उसके ज्ञान कराने वाले वाक्य की प्रामाणिकता जाती रहती है। 'सिंहो माणवकः' में द्वितीय कक्ष्या में रहनेवाली तात्पर्य-शक्ति के द्वारा समर्पित अन्वय के बाध के उल्लसित [अर्थात् प्रतीतिगोचर] होने पर अभिधा और तात्पर्य इन दोनों शक्तियों से व्यतिरिक्त 'लक्षणा' नाम की तृतीय शक्ति ही, जो कि बाधक को व्यर्थ कर देने में निपुण है, समुल्लसित [प्रवृत्त] होती है।

(आशुबोधिनी)

उपरिवर्णित बाधित स्थल में भी आप तात्पर्यशक्ति द्वारा ही अन्वयप्रतीति को स्वीकार कर रहे हैं; अतएव 'अङ्गुल्यग्रे करिवरशतम्' में भी आपको उसी स्थिति को स्वीकार करना होगा। इस शङ्का का समाधान यह है कि जब आकांक्षायुक्त पदार्थोपस्थिति विद्यमान रहा करती है तब अन्वय-प्रतीति न होने का कोई कारण होता ही नहीं है। निराकांक्ष पदों में अवश्य अन्वय की प्रतीति नहीं हुआ करती है। जैसे महाभाष्य के 'दशदाडिमानि, षडश्वाः' इत्यादि उदाहरणों में अन्वय प्रतिपन्न नहीं होता [महाभाष्य १-२-४५]। महाभाष्य के उक्त उदाहरणों में निराकांक्ष पदों का सङ्कलन है, अतएव इनमें अन्वय प्रतिपन्न नहीं होगा। किन्तु प्रस्तुत स्थान पर इस प्रकार का पदों का सङ्कलन नहीं है। अतएव अन्वय तो हो ही जायेगा। किन्तु जिस भाँति शुक्ति में रजतज्ञान हो जाने पर भी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा उसका बाध हो जाया करता है उसी भाँति 'अङ्गुल्यग्रे करिवरशतम्' इत्यादि वाक्य अपने ज्ञात होने के पश्चात् उत्पन्न हुए बाध-ज्ञान से विशिष्ट हो जाने के कारण प्रमाण नहीं हो सकते। अब यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि ऐसी स्थिति में तो 'सिंहो माणवकः' इत्यादि वाक्य भी प्रामाणिक न हो सकेंगे क्योंकि अन्वय का ज्ञान हो जाने के अनन्तर इनका भी बाध हो जायेगा। इसका समाधान यह है कि 'सिंहो माणवकः' [बालक शेर है] इस वाक्य में पहले पदार्थोपस्थिति होगी, पुनः द्वितीय कक्ष्या में तात्पर्यवृत्ति द्वारा अन्वय का बोध होगा। तदनन्तर अन्वय का बाध सामने आयेगा। इस स्थिति में उस बाधकता को व्यर्थ कर देने में समर्थ 'लक्षणा' नामक तृतीयवृत्ति उल्लसित होगी जो उक्त वाक्य की अप्रामाणिकता का निराकरण कर देगी।

[लोचनम्]

नन्वेवं 'सिंहो बटुः' इत्यत्रापि काव्यरूपता स्यात्। ध्वननलक्षणस्यात्मनोऽत्रापि समनन्तरं वक्ष्यमाणतया भावात्। ननु घटेऽपि जीवव्यवहारः स्यात्; आत्मनो विभुत्वेन तत्रापि भावात्। शरीरस्य खलु विशिष्टाधिष्ठानयुक्तस्य सत्यात्मनि जीवव्यवहारः, न यस्य कस्यचिदिति चेत् गुणालङ्कारौचित्यसुन्दरशब्दार्थं शरीरस्य सति ध्वननाख्यात्मनि काव्यरूपताव्यवहारः। न चात्मनोऽसारता काचिदिति च समानम्। न चैवं भक्तिरेव ध्वनिः, भक्तिर्हि लक्षणा-

व्यापारस्तृतीयकक्ष्यानिवेशी। चतुर्थ्यां तु कक्ष्यायां ध्वननव्यापारः। तथा हि–त्रितयसन्निधौ लक्षणा प्रवर्त्तत इति तावद्भवन्त एव वदन्ति। तत्र मुख्यार्थबाधा तावत्प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरमूला। निमित्तं च यदभिधीयते सामीप्यादि तदपि प्रमाणान्तरावगम्यमेव।

[शङ्का–] इस भाँति 'सिंहो वटुः' [सिंह ब्रह्मचारी] में भी काव्यरूपता आ जायेगी क्योंकि शीघ्र ही कही जाने वाली होने के कारण यहाँ भी ध्वननरूप आत्मा की स्थिति है ही। [समाधान–] तब तो घड़े में भी जीव का व्यवहार होने लगेगा, क्योंकि आत्मा के विभु [सर्वव्यापक] होने के कारण आत्मा का अस्तित्व वहाँ पर भी है ही। यदि आप कहें कि जब शरीर विशिष्ट प्रकार के [इन्द्रिय, मन इत्यादि] अधिष्ठानों से युक्त हुआ करता है और उसमें आत्म-तत्व रहा करता है तभी 'जीव' का व्यवहार हुआ करता है जिस किसी के लिये नहीं, तो [काव्य के विषय में भी] गुण और अलङ्कार के औचित्य से सुन्दर प्रतीत होने वाले शब्द और अर्थरूप शरीर के ध्वनन रूप आत्मा के होने पर काव्यरूपता का व्यवहार हुआ करता है। आत्मा की कोई असारता नहीं होती, यह तो दोनों में समान है। इस भाँति 'भक्ति' ही ध्वनि है, ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि 'भक्ति' रूप लक्षणा-व्यापार तृतीय कक्ष्या में हुआ करता है। ध्वनन-व्यापार तो चतुर्थ कक्ष्या में हुआ करता है। जैसा कि तीनों (१) मुख्यार्थ-बाध, (२) मुख्यार्थयोग, (३) प्रयोजन के निकट होने पर लक्षणाव्यापार की प्रवृत्ति हुआ करती है—यह तो आप ही कहते हैं। वहाँ मुख्यार्थ का बाध प्रत्यक्ष आदि दूसरे प्रमाणों द्वारा ही हुआ करता है। तथा जो सामीप्य आदि निमित्त कहे जाते हैं वे भी दूसरे प्रमाणों द्वारा ही बोध्य हुआ करते हैं।

(आशुबोधिनी)

[शङ्का] जब 'ध्वनन' को ही काव्य की आत्मा स्वीकार कर लिया जायगा तो फिर 'सिंहो वटुः' इस स्थल पर भी काव्य का व्यवहार होने लगेगा क्योंकि 'प्रयोजन' जो प्रतीयमान होने को है वह यहाँ पर भी है। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रयोजनवती लक्षणा में प्रयोजन की प्रतिपत्ति हेतु व्यञ्जनावृत्ति को तो आप मानते ही हैं। 'बालक शेर है' इस वाक्य में भी बालक के शौर्य आदि रूप प्रयोजन का ज्ञान व्यंजनावृत्ति द्वारा ही होना है। अतएव 'ध्वनन' रूप आत्मा

की विद्यमानता में 'सिंहो वटुः' यह वाक्य भी 'काव्य' की श्रेणी में क्यों नहीं गिना जायेगा ?

[समाधान–] 'आत्मा' को 'विभु' अर्थात् सर्वव्यावक माना गया है। अतएव उसकी विद्यमानता घट में भी है। ऐसी स्थिति में 'घट' में भी 'जीव' व्यवहार होना चाहिये। किन्तु 'घट' में 'जीव' व्यवहार नहीं हुआ करता है। इसी प्रकार 'सिंहो वटुः' इस वाक्य में भी 'ध्वनन' व्यापार के होते हुए होने पर भी 'काव्य' का व्यवहार नहीं होगा। इसका उत्तर आप यह दे सकते हैं कि मन तथा इन्द्रियों के अधिष्ठान से युक्त शरीर में आत्मा की विद्यमानता होने पर ही 'जीव' का व्यवहार हुआ करता है। तब हम भी यह कह सकते हैं कि गुणों तथा अलंकारों के औचित्य के साथ सुन्दर शब्द और अर्थरूप शरीर जब 'ध्वनन'-रूप आत्मा से युक्त हुआ करता है तभी वहाँ 'काव्य' व्यवहार हुआ करता है। प्रस्तुत उदाहरण द्वारा यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जिस भाँति 'घट' में व्यापक आत्मा के विद्यमान होने पर भी चेतनाशून्य होने के कारण आत्मा की प्रसारता नहीं स्वीकार की जाया करती है उसी भाँति उक्त स्थल पर भी 'ध्वनन' व्यापार की विद्यमानता होने पर भी 'काव्यत्व' के अभाव के कारण आत्मा की असारता को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है। अतएव यह दोनों में समान है।

दूसरे यह कि 'भक्ति' ही ध्वनि है, यह पक्ष भी गलत है क्योंकि भक्ति लक्षणाव्यापार है तथा यह व्यापार तृतीय कक्ष्या में होता है। जबकि ध्वनन-व्यापार चतुर्थ कक्ष्या में हुआ करता है। अतएव ध्वननव्यापार और लक्षणा-व्यापार [भक्ति] एक नहीं हो सकते हैं।

सभी लक्षणावादी यह स्वीकार करते हैं कि लक्षणा में निम्नलिखित तीन बातों का होना आवश्यक है—(१) मुख्यार्थबाध, (२) मुख्यार्थ सम्बन्ध तथा (३) रूढि और प्रयोजन में से किसी एक का होना। जैसे—'गंगायां घोषः' [गंगा में आभीरों की बस्ती] में 'गङ्गा' शब्द का अर्थ है 'प्रवाह'। प्रवाह में किसी वस्ती का होना सम्भव ही नहीं है। अतः मुख्य अर्थ का बाध हो जायगा और (२) मुख्य अर्थ से सम्बन्धित दूसरा अर्थ 'तट' ले लिया जाता है। 'गंगातट' शब्द के स्थान पर 'गंगा' शब्द का प्रयोग किये जाने से 'गंगागत' शीतलत्व, पावनत्व तथा सेवनीयत्व की प्रतीति होती है। इस स्थल पर शीतलत्व आदि की

प्रतीति ही लक्षणा का प्रयोजन है क्योंकि यह अर्थ 'गंगा' शब्द से निकल सकना सम्भव नहीं है।

अब यह देखना है कि उपर्युक्त तीनों बातों की प्रतीति में कौन-कौन से प्रमाण हैं-(१) मुख्यार्थबाध तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों पर ही आधारित है। गंगा के जल-प्रवाह में बस्ती का बन सकना प्रत्यक्ष प्रमाण से ही बाधित है। (२) मुख्यार्थ-सम्बन्ध—समीपता, सदृशता आदि कई प्रकार के हो सकते हैं। यह भी प्रत्यक्ष आदि किसी प्रमाण द्वारा सिद्ध हो सकते हैं। प्रयोजनवती लक्षणा द्वारा प्रयोजन की सिद्धि हो जाती है।' गंगा में आभीरों की बस्ती' में 'अतिपवित्रता, अतिशीतलता आदि प्रयोजनों की सिद्धि हो जाती है।

अतएव इन प्रयोजनों की सिद्धि भी 'शब्दव्यापार' पर ही आधारित है।

[लोचनम्]

यत्त्विदं घोषस्यातिपवित्रत्वशीतलत्वसेव्यत्वादिकं प्रयोजनमशब्दान्तरवाच्यं प्रमाणान्तराप्रतिपन्नम्, बटोर्वा पराक्रमातिशयशालित्वं तत्र शब्दस्य न तावन्न व्यापारः। तथा हि—तत्सामीप्यात्तद्धर्मत्वमनुमानमनैकान्तिकम्, सिंहशब्दवाच्यत्वं च बटोरसिद्धम्। अथ यत्र यत्रैवंशब्दप्रयोगस्तत्र तत्र तद्धर्मयोग इत्यनुमानम्, तस्यापि व्याप्तिग्रहकाले मौलिकं प्रमाणान्तरं वाच्यम्, न चास्ति। न च स्मृतिरियम्, अननुभूते तदयोगात्, नियमाप्रतिपत्तेर्वक्तुरेतद्विवक्षितमित्यध्यवसायाभावप्रसङ्गाच्चेत्यस्ति तावदत्र शब्दस्यैव व्यापारः। व्यापारश्च नाभिधात्मा, समयाभावात्। न तात्पर्यात्मा, तस्यान्वयप्रतीतावेव परिक्षयात्, न लक्षणात्मा, उक्तादेव हेतोः स्खलद्गतित्वाभावात्। तत्रापि हि स्खलद्गतित्वे पुनर्मुख्यार्थबाधानिमित्तं प्रयोजनमित्यनवस्था स्यात्। अत एव यत्केनचिल्लक्षितलक्षणेति नाम कृतं तद्व्यसनमात्रम्। तस्यादभिधातात्पर्यलक्षणाव्यतिरिक्तश्चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वननद्योतनव्यञ्जनप्रत्यायनावगमनादिसोदरव्यपदेशनिरूपितोऽभ्युपगन्तव्यः। तद्वक्ष्यति—

जो यह कि घोष का अतिपवित्र होना, अतिशीतल होना, अतिसेवनीय होना आदि प्रयोजन, लाक्षणिक शब्द से अतिरिक्त अन्य शब्दों द्वारा न कहा जाने योग्य तथा शब्द से अतिरिक्त अन्य प्रमाणों द्वारा प्रतिपन्न न होनेवाला है अथवा 'वटु' का अतिपराक्रमशाली होना [प्रयोजन] है, उसमें शब्द का कोई अन्य व्यापार

नहीं होता है, ऐसा नहीं है। जैसा कि—['गंगायां घोषः' इस स्थल पर उसके समीप होने रूप हेतु से उसके धर्मत्व का अनुमान अनैकान्तिक [नामक हेत्वाभाव से युक्त] है और 'वटु' का सिंह शब्द होना रूप हेतु 'प्रसिद्ध' [स्वरूपासिद्ध] है। अब यदि अनुमान [सम्बन्धी व्याप्ति] का रूप यह बना लिया जाय कि जहाँ-जहाँ इस प्रकार के शब्द का प्रयोग है वहाँ-वहाँ उसके धर्म का योग है, तो उसके भी व्याप्तिग्रहणकाल में कोई अन्य मौलिक प्रमाण की आवश्यकता पड़ेगी, किन्तु वह है नहीं। न यह 'स्मृति' है क्योंकि जिसका अनुभव नहीं किया गया उसमें उसका होना सम्भव नहीं है तथा किसी नियम का ज्ञान न होने के कारण 'वक्ता को यही विवक्षित है' इस अध्यवसाय [निश्चय] का अभाव-प्रसङ्ग है। अतएव यहाँ शब्द का ही व्यापार है [ऐसा स्वीकार करना होगा]। 'अभिधा' नामक व्यापार तो हो नहीं सकता क्योंकि 'समय' [सङ्केत] का अभाव है। तात्पर्यरूप व्यापार भी नहीं है क्योंकि वह अन्वय [सम्बन्ध] का बोध होने पर ही उसका परिक्षय हो जाता है। लक्षणारूप व्यापार भी नहीं हो सकता है क्योंकि कथित कारणों से ही 'स्खलद्गति' न होने के कारण [अर्थात् बाध न होने के कारण]। यदि 'तीर' आदि अर्थ में ही स्खलद्गति होना स्वीकार करते हैं तो मुख्यार्थबाध और निमित्तरूप प्रयोजन होने के कारण अनवस्था हो जायगी। अतएव जो किसी के द्वारा [लक्षित 'तीर' आदि में पुनः 'पावनत्व' आदि प्रयोजन को लक्षित करने की दृष्टि से] लक्षितलक्षणा यह नाम रखा है तो वह व्यसनमात्र ही है। अतएव अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा से व्यतिरिक्त यह चौथा व्यापार है जिसे ध्वनन, द्योतन, व्यंजन, प्रत्यायन, अवगमन आदि सहोदरों अर्थात् पर्याय-वाची शब्दों के नाम से निरूपित किया गया है, स्वीकार किये जाने योग्य है। जैसाकि कहेंगे—

(आशुबोधिनी)

प्रस्तुत विषय यह है कि 'गंगायां घोषः' में 'घोष' का अतिपवित्र होना, अतिशीतल होना, अतिसेवनीय होना आदि जो प्रयोजन हैं अथवा 'वटु' का अतिशय पराक्रमशाली होना रूप जो प्रयोजन हैं, उनकी सिद्धि किसी अन्य प्रमाण द्वारा होना सम्भव नहीं है। अतएव प्रयोजन सर्वथा शब्द के व्यापार का विषय है। इसी दृष्टि से आचार्य द्वारा कहा गया है कि 'शब्द के व्यापार का विषय

नहीं है, ऐसा नहीं है। निष्कर्ष यह निकला कि प्रयोजन शब्द व्यापार का ही विषय है। ऐसा होने में दो प्रमुख कारण हैं (१) प्रयोजन 'अशब्दान्तरवाच्य' है अर्थात् लाक्षणिक शब्द ही [जैसे—गंगा, सिंह आदि शब्द ही] प्रयोजन का प्रतिपादन करने में समर्थ हैं। दूसरा कारण है कि प्रयोजन की सिद्धि शब्द के अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाण द्वारा नहीं होती है। इसी दृष्टि से आगे 'अनुमान' और 'स्मृति' की आशङ्का करके उसका निराकरण किया गया है। साथ ही शब्द व्यापारों में अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा का निराकरण कर इन शब्द-व्यापारों के अतिरिक्त चतुर्थ 'ध्वनन' नामक व्यापार को स्वीकार किया गया है।

'गंगायां घोषः' तथा 'सिंहो वटुः' इन स्थानों पर प्रतीत होने वाले प्रयोजन को अनुमान का विषय नहीं माना जा सकता है क्योंकि प्रथम स्थान में 'व्यभिचार' दोष है तथा द्वितीय में 'असिद्ध' नामक दोष। प्रथम स्थान में अनुमान का रूप यह बनेगा—' तीरं गंगागतातिपवित्रत्वादिधर्मवत् गंगासामीप्यात्' अर्थात् जो वस्तु गंगा के समीप होती है वह गंगा के सदृश ही पवित्र आदि होती है, गंगा के प्रायः सभी गुण उसमें संक्रान्त हो जाया करते हैं। जैसे—मुनि लोग। ये लोग गंगा के समीप रहते हैं और पवित्र हुआ करते हैं। किन्तु सिर की खोपड़ियाँ जो किनारे पर पड़ी रहा करती हैं वे भी तो गंगा के समीप हैं किन्तु वे पवित्र नहीं हुआ करती हैं। अतएव गंगा की समीपता को हेतु मानकर 'अतिपवित्रत्व' आदि को सिद्ध करना व्यभिचार नामक दोष से युक्त है। इसी को 'अनैकान्तिक' नाम से कहा जाता है।

द्वितीय स्थान पर 'सिंहो वटुः' में अनुमान यह बनेगा—'वटुः सिंहधर्मवान् सिंहशब्दवाच्यत्वात् सम्प्रतिपन्नसिंहवत्'। अर्थात् ब्रह्मचारी सिंहधर्मवाला है, सिंहशब्दवाच्य होने से। जो जो सिंह शब्द हुआ करते हैं वे-वे सिंहधर्मवाले भी हुआ करते हैं, जैसे वास्तविक सिंह। उसी भाँति ब्रह्मचारी भी है। अतएव यह भी सिंहधर्मवाला है। अनुमान की इस प्रक्रिया में 'स्वरूपासिद्ध' नामक हेत्वाभास है। इस अनुमान में पक्ष है 'वटु' तथा हेतु है— सिंहशब्द वाच्य होना। अनुमान सम्बन्धी प्रक्रिया में 'हेतु' का पक्ष' में रहना प्रत्यक्ष आदि अन्य प्रमाणों द्वारा सिद्ध होना चाहिये। किन्तु उपर्युक्त वाक्य में हेतु का पक्ष में रहना प्रत्यक्षरूप

में असिद्ध है। अतएव यह अनुमान ठीक नहीं है। ऐसी स्थिति में 'प्रयोजन' को अनुमान प्रमाण का विषय नहीं बनाया जा सकता है।

यह 'स्मृति' भी नहीं है। अर्थात् गंगागत शैत्य-पावनत्व इत्यादि सम्बन्धी प्रयोजन को 'स्मृति' भी नहीं कहा जा सकता है। तात्पर्य यह है कि 'प्रयोजन' स्मृति का भी विषय नही है क्योंकि स्मृति उसी की हुआ करती है कि जो जिसका पहले कभी अनुभव हो चुका हो। इस स्थल पर ऐसा कोई पहले का अनुभव नहीं है कि जिसके आधार पर स्मृति की जा सके। परिणामस्वरूप जब यह अनुमान का विषय नहीं और स्मृति का भी नहीं, तो यही मानना होगा कि यहाँ पर शब्द का ही व्यापार है।

शब्द का यह व्यापार न अभिधा है, न तात्पर्य है और न लक्षणा ही। अभिधावृत्ति अथवा व्यापार द्वारा प्रयोजन की सिद्धि हो ही नही सकती है क्योंकि अभिधा वहीं पर प्रयुक्त हुआ करती है कि जहाँ पर संकेतग्रह हो चुका हो, शैत्य पावनत्व इत्यादि धर्मों में संकेतग्रह होता ही नहीं है। अतएव ये धर्म अभिधावृत्ति द्वारा निसृत नहीं हो सकते हैं। तात्पर्यावृत्ति द्वारा भी सम्भव नहीं, क्योंकि उसका कार्य अन्वय अथवा पारस्परिक सम्बन्ध की प्रतीति होते ही समाप्त हो जाया करता है। लक्षणा द्वारा भी प्रयोजन की सिद्धि हो सकना सम्भव नहीं है क्योंकि लक्षणा के लिये पूर्ववर्णित तीनों बातों का होना आवश्यक है। (१) मुख्यार्थबाध— जिस भाँति 'वस्ती' के साथ अन्वय होने पर गंगाशब्द के 'प्रवाह' अर्थ का बाध हो जाता है, उसी भाँति 'गंगातट पर वस्ती' इस अर्थ का भी बाध हो जाय तब तो लक्षणा का अवसर आ सकता है। किन्तु इस प्रकार की कोई बाधा लक्ष्यार्थ में उपस्थित नहीं होती है। इस भाँति प्रथम बात तो समाप्त हो गई। अब आयी दूसरी बात—मुख्यार्थ-सम्बन्ध। प्रथम तो यह कि 'तट' मुख्यार्थ है ही नहीं। दूसरे यह कि उसका शैत्य इत्यादि के साथ लक्षणा के लिए गिनाये गये सम्बन्धों में से कोई सम्बन्ध भी नहीं है। अतएव यह भी सम्भव नहीं। तीसरी बात है रूढ़ि अथवा प्रयोजन में से किसी एक का होना। रूढ़ि तो यहाँ पर है ही नहीं। प्रयोजन भी नहीं है। ऐसी स्थिति में प्रयोजन की सिद्धि के लिये यदि कोई अन्य प्रयोजन स्वीकार किया जायगा तो उस स्थिति में यहाँ अनवस्था दोष आ जायगा जो मूल को ही नष्ट कर देगा।

परिणामस्वरूप 'प्रयोजन' की सिद्धि न तो अनुमान से और न स्मृति से तथा न अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा वृत्तियों में से किसी से सम्भव है। ऐसी स्थिति में एक चतुर्थ वृत्ति अथवा शब्दव्यापार मानना ही होगा जिसे ध्वनन, द्योतन, व्यंजन, प्रत्यायन, अवगमन आदि पर्यायवाचियों में से किसी भी नाम से कहा जा सकता है। जब 'ध्वनन' नामक यह वृत्ति शेष तीनों वृत्तियों को दबाकर प्रधान पद पर आ जाती है तब इसी को 'ध्वनि' नाम से पुकारा जाया करता है। यही 'ध्वनि' काव्य की आत्मा है।

लक्षणावृत्ति द्वारा 'प्रयोजन' की सिद्धि न हो सकने सम्बन्धी बात आगे चलकर 'मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य' इत्यादि कारिका की व्याख्या में विस्तार के साथ स्पष्ट की जायेगी।

[लोचनम्]

'मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्यार्थदर्शनम्।
यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः ॥' इति ॥

तेन समयापेक्षा वाच्यावगमनशक्तिरभिधाशक्तिः। तदन्यथानुपपत्तिसहायार्थावबोधनशक्तिस्तात्पर्यशक्तिः। मुख्यार्थबाधादिसहकार्यपेक्षार्थप्रतिभासनशक्तिर्लक्षणाशक्तिः। तच्छक्तित्रयोपजनितार्थावगममूलजाततत्प्रतिभासपवित्रितप्रतिपत्तृप्रतिभासहायार्थद्योतनशक्तिर्ध्वननव्यापारः; स च प्राग्वृत्तं व्यापारत्रयं न्यक्कुर्वन् प्रधानभूतः काव्यात्मेत्याशयेन निषेधप्रमुखतया च प्रयोजनविषयोऽपि निषेधविषय इत्युक्तम्। अभ्युपगममात्रेण चैतदुक्तम्; न त्वत्र लक्षणा अत्यन्ततिरस्कारान्यसंक्रमणयोरभावात्। न ह्यर्थशक्तिमूलेऽस्या व्यापारः। सहकारिभेदाच्च शक्तिभेद स्पष्ट एव, यथा तस्यैव शब्दस्य व्याप्तिस्मृत्यादिसहकृतस्य विवक्षावगतावनुमापकत्वव्यापारः। एवमभिहितान्वयवादिनामियदनपह्नवनीयम्।

'मुख्यवृत्ति [अभिधा-व्यापार] का परित्यागकर गुणवृत्ति [लक्षणारूप व्यापार] से अमुख्य-अर्थ का दर्शन [ज्ञान] जिस [प्रयोजनरूप] फल को लक्ष्य करके किया करते हैं उसमें शब्द की गति स्खलित नहीं हुआ करती है।'

इस भाँति समय अर्थात् सङ्केत की अपेक्षा रखनेवाली, वाच्य-अर्थ का ज्ञान कराने वाली शक्ति को 'अभिधाशक्ति' कहा जाता है। उसके [अभिधा के]

अन्यथा [विना] जिसकी अनुपपत्तिरूप सहायवाली, अर्थ का ज्ञान करानेवाली शक्ति 'तात्पर्य' नामक शक्ति है। मुख्यार्थबाध आदि तीन सहकारियों की अपेक्षा रखते हुए अर्थ के प्रतिपादन की शक्ति 'लक्षणा' नामक शक्ति है। इन तीनों शक्तियों से उत्पन्न अर्थबोधरूप मूल से उत्पन्न हुई, उन [अभिधेय आदि अर्थों] के प्रतिभास से [अर्थात् निरन्तर प्रतीति से] पवित्र की हुई प्रतिपत्ता [सहृदय] की प्रतिभा की सहायता से अर्थ के द्योतन की शक्ति को 'ध्वनन व्यापार' कहते हैं। और वह पहले प्रवृत्त हुए तीनों व्यापारों को तिरस्कृत [दबाता] करता हुआ प्रधान होकर काव्य की आत्मा हुआ करता है, इस आशय से [वृत्तिकार ने ही ध्वनि-व्यापार को] निषेध के प्रमुख होने के कारण प्रयोजन विषयक होने पर भी 'निषेधविषयक' कहा है। अभ्युपगम [विरोधी के असत्य पक्ष की स्वीकृति] मात्र से ऐसा कहा गया है कि यहाँ लक्षणा नहीं है क्योंकि यहाँ पर वाच्यार्थ का न तो अत्यन्त तिरस्कार ही हुआ है और न अन्यसंक्रमण ही। इस लक्षणा का व्यापार अर्थशक्तिमूलक ध्वनि में नही होता है, सहकारी के भेद के कारण शक्तिभेद होता है जो कि स्पष्ट ही है। जैसे—उसी शब्द के सहकारी व्याप्ति, स्मृति इत्यादि हों और उनके द्वारा वक्ता की इच्छा का ज्ञान हो, तब अनुमापकत्व व्यापार होगा। इस भाँति यह ध्वनन-व्यापार का अस्तित्व अभिहितान्वयवादियों के लिये निराकरण किये जाने योग्य नहीं है।

(आशुबोधिनी)

'जिस प्रयोजनरूप फल के उद्देश्य से मुख्यवृत्ति अर्थात् 'अभिधा' वृत्ति का परित्याग गुणवृत्ति अर्थात् लक्षणा-व्यापार अथवा वृत्ति द्वारा अमुख्य अर्थ का दर्शन (ज्ञान) किया जाया करता है, उसमें शब्द की गति स्खलित नहीं हुआ करती है।'

इसी विषय को काव्यप्रकाशकार मम्मट ने काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास में निम्नलिखितरूप में स्पष्ट किया है—

'नाभिधा समयाभावात् हेत्वाभावान्न लक्षणा।
लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो।
न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः।
एवमनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी ॥'

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर शब्द के व्यापार चार प्रकार के हुए-- (१) वाच्य-अर्थ का बोध कराने वाली संकेतग्रह की अपेक्षा रखनेवाली वृत्ति को 'अभिधा वृत्ति' नाम से कहा जाता है। (२) अभिधा-वृत्ति के द्वारा संकेतित अर्थ को प्रकट कर दिये जाने के अनन्तरअ न्वयरूप कुछ इस प्रकार का भाग शेष रह जाता है जिसकी सिद्धि अभिधा द्वारा हो सकना सम्भव नहीं हुआ करता है। अतएव वाक्य के अर्थ की पूर्ति में सहायक होकर जो वृत्ति अर्थ का बोध कराने में कारण हुआ करती है उसे 'तात्पर्यवृत्ति' नाम से पुकारा जाया करता है। (३) मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थसम्बन्ध तथा रूढ़ि और प्रयोजन में से किसी एक का होना--इन तीन प्रकार के सहयोगियों की अपेक्षा रखते हुए जो वृत्ति किसी अन्य सम्बन्धित अर्थ का बोध कराती है उसे लक्षणा नामक वृत्ति कहा जाता है। (४) अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा—इन तीनों वृत्तियों द्वारा जिस अर्थ का बोध हुआ करता है उसी से पुनः एक अन्य अर्थ की भी प्रतीति होने लगा करती है। जिस वृत्ति अथवा व्यापार द्वारा उस अर्थ की प्रतीति हुआ करती है उसी का नाम है ध्वनन-वृत्ति। उस वृत्ति के द्वारा ध्वन्यमान अर्थ का ज्ञान उसी सहृदय ज्ञाता को हो पाता है कि जिसकी प्रतिभा काव्यार्थ के पुनः पुनः अनुसंधान से पवित्र हो चुकी होती है। पुनः यही वृत्ति जब शेष तीनों वृत्तियों को दबाकर प्रधानवृत्ति के पद को प्राप्त कर लिया करती है तब इसी को 'ध्वनि' नाम से पुकारा जाया करता है। ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा जाता है।

अब यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि लक्षणावृत्ति के लक्षण के आधार पर 'भ्रम धार्मिक······सिंहेन' इस उद्धरण में भ्रमण का निषेध लक्ष्यार्थ है तथा संकेतस्थल की रक्षा आदि उस लक्षणा के प्रयोजन कि जिनका ज्ञान व्यञ्जना द्वारा हुआ करता है। ऐसी स्थिति में आलोककार द्वारा यह क्यों कह दिया गया कि निषेधपरक अर्थ का ज्ञान व्यञ्जनावृत्ति द्वारा होता है?

इसका समाधान यह है कि उक्त उदाहरण में निषेधपरक अर्थ मुख्यार्थ है तथा उसीके आधार पर संकेतस्थल की रक्षा प्रकट होती है। इसी दृष्टि से कथन किया गया है। यह समाधान लक्षणा की दृष्टि को ध्यान में रखकर दिया गया है। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि उक्त स्थल पर लक्षणा का प्रयोग होता ही नहीं है क्योंकि लक्षणा के आवश्यक अंग यहाँ उपलब्ध होते ही नहीं है। उक्त

स्थल पर न तो मुख्यार्थ का अत्यन्त तिरस्कार ही होता है और न उसका दूसरे अर्थ में संक्रमण ही। इस स्थल पर तो 'अर्थशक्तिमूलक ध्वनि' है जिसमें लक्षणा का माना जाना संभव ही नहीं है।

इसके अतिरिक्त यह भी एक बात है कि प्रत्येक प्रकार के ज्ञान में कुछ सहकारी कारण अवश्य हुआ करते हैं। जैसे प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का माना गया है–(१) निर्विकल्पक ज्ञान, (२) सविकल्पक ज्ञान। इन दोनों ही प्रकार के प्रत्यक्ष सम्बन्धी ज्ञानों में वैशेषिकदर्शनाभिमत षट् प्रकार के इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष सहकारी हेतु हुआ करते हैं। इसी भाँति अनुप्रमाण द्वारा प्राप्त ज्ञान में भी व्याप्ति, स्मृति, पक्षधर्मताज्ञान तथा परापर्श कारण हुआ करते हैं। इसी भाँति शब्द, उपमान आदि प्रमाणों के भी सहकारी कारण हुआ करते हैं। 'लक्षणा' में मुख्यार्थ-बाध इत्यादि ही सहकारी हेतु हैं। व्यञ्जना में वक्ता, बोद्धव्य इत्यादि सहकारी हुआ करते हैं। इस भाँति सहकारियों के पार्थक्य के कारण वृत्तियों में भी भेद का होना आवश्यक हुआ करता है। ऐसी स्थिति में अभिहितान्वयवादियों की दृष्टि से ध्वनन अथवा व्यञ्जना नामक व्यापार का निराकरण किया जाना संभव नहीं है।

[लोचनम्]

योऽप्यन्विताभिधानवादी 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति हृदये गृहीत्वा शरवदभिधाव्यापारमेव दीर्घदीर्घमिच्छति तस्य यदि दीर्घो व्यापारस्तदेकोऽसाविति कुतः? भिन्नविषयत्वात्। अथानेकोऽसौ तद्विषयसहकारिभेदादसजातीय एव युक्तः। सजातीये च कार्ये विरम्य व्यापारः। शब्दकर्मबुद्ध्यादीनां पदार्थविद्भिः निषिद्धः। असजातीये चास्मन्नय एव।

'शब्द का जिसमें व्यापार होता है, वही शब्द का अर्थ होता है', इस बात को हृदय में रखकर अन्विताभिधानवादी बाण की तरह एक अभिधा नामक व्यापार को ही दीर्घ-दीर्घ स्वीकार करता है। उसका यह 'अभिधा' नामक व्यापार यदि एक ही है तो वह कैसे? विषय के भिन्न होने से व्यापार का भिन्न भी होना आवश्यक है। यदि वह व्यापार अनेक है तो विषय तथा सहकारी की भिन्नता से असजातीय ही है, ऐसा मानना उचित होगा। सजातीय कार्य में तो पदार्थविद् विद्वानों ने शब्द, बुद्धि तथा कर्म का विराम हो जाने के अनन्तर पुनः व्यापार होने का

निषेध किया है। और यदि [व्यापार को] असजातीय मानते हैं तब तो हमारा नय [मत अथवा पक्ष] ही है।

(आशुबोधिनी)

'अन्विताभिधानवाद' सम्बन्धी मत भट्ट लोल्लट के अनुयायियों का है। इनका कथन है :—'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' तथा 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः' अर्थात् शब्दशक्ति सम्बन्धी अभिधा नामक यह व्यापार ही बाण के सदृश अधिक-अधिक हो जाता है। जिस भाँति अतिशयशक्तिसम्पन्न व्यक्ति द्वारा छोड़ा गया बाण स्वकीय वेग नामक व्यापार द्वारा अपने विपक्षी के कवच को भी काटता है, उसके मर्मस्थल को भी भेदता है तथा उसके प्राणों का भी हरण किया करता है, उसी भाँति महाकवि द्वारा प्रयुक्त शब्द भी 'अभिधा' नामक व्यापार द्वारा ही पद के अर्थ को भी स्पष्ट करता है, अन्वय सम्बन्धी ज्ञान को भी कराता है तथा व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति भी। कहने का अभिप्राय यह है कि किसी एक अर्थ का ज्ञान करने के पश्चात् शब्दशक्ति का उस समय तक विराम नहीं हुआ करता है जब तक कि वक्ता द्वारा अभिप्रेत अर्थ की प्रतीति श्रोता को नहीं हो जाया करती है। और इस भाँति शब्द का वास्तविक अर्थ वही हुआ करता है जो कि वक्ता का तात्पर्य रहा हो।

इसके सम्बन्ध में लोचनकार का कथन है कि यदि शब्द का ही दीर्घ, दीर्घतर व्यापार होता रहा करता है तो उन सभी व्यापारों का एक ही व्यापार के नाम से किस भाँति कथन किया जा सकता है? क्योंकि सभी प्रकार के व्यापारों के विषय भी तो बदलते जायेंगे। इस भाँति विषय भी भिन्न होंगे और उनके सहकारी भी। अभिधाव्यापार का सहकारी होता है संकेतग्रह। लक्षणा के सहकारी मुख्यार्थबाध आदि हुआ करते हैं और व्यंजना नामक व्यापार के सहकारी वक्ता के कथन सम्बन्धी वैशिष्ट्य होंगे। उक्त स्थिति में हुए सभी व्यापार असजातीय ही होंगे। क्योंकि जिस व्यापार द्वारा विधिरूप अर्थ का बोध होगा उसीसे निषेधपरक अर्थ का किया जाना संभव नहीं है जैसा कि पदार्थतत्ववेत्ता विद्वानों द्वारा यह सुनिश्चित नियम बना दिया गया है कि शब्द, बुद्धि तथा कार्यों का सजातीय कार्य में विराम हो होकर व्यापार कभी भी नहीं हुआ करता है। अतएव यह स्वीकार करना ही होगा कि व्यापार अनेक हैं। साथ ही विषयों तथा

सहकारियों के भेद से उसे असजातीय ही स्वीकार करना होगा। फिर ऐसी स्थिति में तो हमारा सिद्धान्त ही स्थिर हो जाता है कि शब्द की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियाँ हैं जिन्हें अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना नाम से कहा जाता है।

[लोचनम्]

अथ योऽसौ चतुर्थकक्ष्यानिविष्टोऽर्थः, स एव झटितिवाक्येनाभिधीयत इत्येवंविधं दीर्घदीर्घत्वं विवक्षितम् तर्हि तत्र संकेताकरणात्कथं साक्षात्प्रतिपत्तिः ? निमित्तेषु सङ्केतः नैमित्तिकस्त्वसावर्थस्सङ्केतानपेक्ष एवेति चेत् पश्यत श्रोत्रियस्योक्तिकौशलम्। यो ह्यसौ पर्यन्तकक्षाभाग्यर्थः प्रथमं प्रतीतिपथमवतीर्णः, तस्य पश्चात्तनाः पदार्थावगमाः निमित्तमात्रं गच्छन्तीति नूनं मीमांसकस्य प्रपौत्रं प्रति नैमित्तिकत्वमभिमतम्।

अर्थात् यदि यह कहें कि यह जो चतुर्थ कक्ष्या में रहने वाला अर्थ है वह भी झट से [शीघ्रता के साथ] वाक्य के द्वारा कह दिया जाता है, इस प्रकार का दीर्घ-दीर्घत्व विवक्षित है तब वहाँ पर सङ्केत न करने के कारण किस भाँति उसकी साक्षात् प्रतिपत्ति हो सकती है ? यदि आप यह स्वीकार करें कि संकेत तो निमित्तों में हुआ करता है, अर्थ नैमित्तिक होता है, अतएव वह संकेत की अपेक्षा ही नहीं रखा करता है, तब तो इस श्रोत्रिय की उक्तिकुशलता [कथनचातुर्य] को तो देखो। जो कि यह अर्थ [व्यंग्यार्थ] सबसे अन्तिम कक्ष्या में रहने वाला है, वह पहले ही प्रतीति के मार्ग में अवतीर्ण हो जाया करता है, तदनन्तर पदार्थों का ज्ञान निमित्तभाव को प्राप्त किया करता है तब तो निस्सन्देह ऐसा ही है कि मीमांसक को प्रपौत्र के प्रति नैमित्तिकत्व ही स्वीकृत है।

(आशुबोधिनी)

इस स्थल पर दीर्घ-दीर्घतर व्यापार का अभिप्राय यह है कि अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा के पश्चात् जो यह चतुर्थ कक्ष्या में निविष्ट प्रतीयमान अर्थ अथवा व्यङ्ग्यार्थ होता है उसी की प्रतीति वाक्य के द्वारा एकदम हो जाया करती है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि अभिधा व्यापार द्वारा उसीकी प्रतीति हुआ करती है जिसमें कि संकेतग्रह हुआ हो। जब प्रतीयमान अर्थ [व्यङ्ग्यार्थ] में संकेतग्रहण हुआ ही नहीं है तब अभिधा व्यापार द्वारा उसकी प्रतीति ही किस भाँति होगी ?

इसके समाधान में उनका कथन है कि वाक्य के श्रवणमात्र से ही अन्तिम, अर्थ [प्रतीयमान अर्थ उथवा व्यङ्ग्यार्थ] प्रतीति के योग्य हो जाया करता है। उस व्यङ्ग्यार्थ में निमित्त होता है मुख्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ नैमित्तिक होता है। जब एकाएक व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो जाती है तो उसके पश्चात् विशेष ध्यान देने पर मुख्यार्थ की भी प्रतीति हो जाती है। संकेतग्रह मुख्यार्थ में ही हुआ करता है और वह व्यङ्ग्यार्थ में निमित्त होता है। इसी के आधार पर नैमित्तिक का भी ज्ञान हो जाया करता है। इस भाँति इसमें संकेतग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं होती है।

इस स्थल पर आश्चर्य की बात यह है कि चतुर्थ कक्ष्या में विद्यमान रहने वाला अर्थ अपने कारणभूत मुख्यार्थ [पदार्थ ज्ञान] से पहले ही उत्पन्न हो रहा है। यह बात तो वैसी ही होती कि मीमांसक के उत्पन्न होने से पूर्व उनके प्रपौत्र का उत्पन्न हो जाना।

[लोचनम्]

अथोच्यते—पूर्वं तत्र सङ्केतग्रहणसंस्कृतस्य तथा प्रतिपत्तिर्भवतीत्यमुया वस्तुस्थित्या निमित्तत्वं पदार्थानाम्, तर्हि तदनुसरणोपयोगि न किंचिदप्युक्तं स्यात्। न चापि प्राक् पदार्थेषु सङ्केतग्रहणं वृत्तम्, अन्वितानामेव सदा प्रयोगात्। आवापोद्वापाभ्यां तथाभाव इति चेत्—सङ्केतः पदार्थमात्रः इत्यभ्युपगमे पाश्चात्त्यैव विशेषप्रतीतिः।

अथोच्यते—दृष्ट्वैव झटिति तात्पर्यप्रतिपत्तिः किमत्रकुर्म इति। तदिदं वयमपि न नाङ्गीकुर्मः। यद्वक्ष्यामः—

तद्वत्सचेतसां योऽर्थो वाक्यार्थविमुखात्मनाम्।
बुद्धौ तत्त्वावभासिन्यां झटित्येवावभासते॥ इति॥

किन्तु सातिशयानुशीलनाभ्यासात्तत्र सम्भाव्यमानोऽपि क्रमः सजातीयतद्विकल्पपरम्परानुदयादभ्यस्तविषयव्याप्तिसमयस्मृतिक्रमवन्न संवेद्यत इति।

यदि ऐसा कहा जाता है कि–वहाँ पहले ही संकेतग्रह से संस्कृत [व्यक्ति के] हो जाने पर उस भाँति की अन्तिम अर्थ की प्रतीति हो जाया करती है, इस वस्तुस्थिति को मान लेने पर पदार्थों का निमित्तत्व बन जाता है। तो फिर उस पार्यन्तिक अर्थ के अनुसरण में उपयोग में आने वाला कुछ भी कथित नहीं

होगा। दूसरे यह कि पहले पदार्थों में सङ्केतग्रह भी नहीं हुआ है क्योंकि सर्वदा अन्वितों का ही प्रयोग हुआ करता है। यदि यह कहा जाय कि आवाप और उद्वाप के द्वारा उस प्रकार का [पदार्थों का संङ्केतग्रह] हो जाया करता है तब तो सङ्केत पदार्थमात्र में ही स्वीकार कर लेने पर विशेष [वाक्यार्थ] का ज्ञान बाद में ही होगा।

यदि कहते हैं कि–शीघ्र ही तात्पर्य [पार्यन्तिक-अर्थ] की प्रतीति देखी गई है तो इस बारे में हम क्या करें? तो इस बात को तो हम भी स्वीकार नहीं करते हैं, ऐसी बात नहीं है। क्योंकि हम कहेंगे—

'उस भाँति वाच्यार्थ से विमुख स्वभाव वाले सहृदय व्यक्तियों की तत्त्वावभासिनी बुद्धि में वह अर्थ [पार्यन्तिक अर्थ] शीघ्र ही अवभासित हो जाया करता है।'

किन्तु अत्यधिक अनुशीलन के [अभ्यास के] कारण [सहृदय जनों का] अभ्यास इतना अधिक हो जाया करता है कि वहाँ सम्भाव्यमान भी क्रम सजातीय उन [पदार्थ सम्बन्धी] विकल्पों की परम्परा के उदित न होने के कारण पहले से ही अभ्यस्त विषयवाले व्याप्ति-स्मृति तथा समय [सङ्केत] की स्मृति के क्रमों के सदृश ज्ञात नहीं हुआ करता है।

(आशुबोधिनी)

अन्विताभिधानवादी मीमांसक पुनः कहता है कि पदार्थों के निमित्त होने के बारे में आपने जो कथन किया है वह तो पहले ही पदार्थों में संकेतग्रह को स्वीकार कर लेने पर स्वयं ही स्पष्ट हो जाता है। अतएव चतुर्थ कक्ष्या में उपस्थित होने वाला अर्थ पहले संकेतग्रह से युक्त होकर ही उत्पन्न हुआ करता है। ऐसा स्वीकार कर लिये जाने पर पदार्थों का निमित्तत्व स्वतः ही हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि पहले संकेतग्रह द्वारा पदार्थों का ज्ञान हो और तदनन्तर चतुर्थ कक्ष्या में स्थित अर्थ का ज्ञान हो। किन्तु आपका कहना तो यह है कि संकेतग्रह तो पहले ही हो चुका होता है। बुद्धि पहले से ही संकेतग्रहण कर चुकी होती है पश्चात् वाक्य के श्रवणमात्र से ही व्यङ्ग्यार्थबोध हो जाया करता है। वस्तुस्थिति तो यह हुई कि व्यङ्ग्यार्थ का ज्ञान होने में संकेतग्रह तो हुआ नहीं, फिर अभिधा-वृत्ति द्वारा उसकी प्रतीति का होना किस भाँति संभव

होगा ? दूसरी बात यह भी है कि आपकी दृष्टि में संकेतग्रह का पहले हो सकना संभव ही नहीं है क्योंकि आप तो अन्वित [अन्वय से युक्त] में ही शक्ति को स्वीकार करते हैं। यदि आप यह स्वीकार करें कि संकेतग्रह अन्वित पदार्थों में ही होता है तो ऐसी अवस्था में भी विशिष्ट अर्थ का ज्ञान बाद में ही होगा। ऐसी दशा में आपको भी अभिहितान्वयवादियों की ही तरह तात्पर्यवृत्ति आदि की कल्पना करनी होगी। फिर आपका अन्विताविधानवादसम्बन्धी सिद्धान्त स्वतः ही गलत हो जायेगा।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में 'अन्विताभिधानवाद' को कुछ स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है। 'अभिहितान्वयवाद में पहले अभिधावृत्ति द्वारा पदार्थों का ज्ञान, तदनन्तर तात्पर्य शक्ति द्वारा अन्वयरूप वाक्यार्थ का ज्ञान है। 'अन्विताभिधानवाद' में उक्त ज्ञान पूर्णतया त्याज्य है। इस सिद्धान्त के अनुसार अभिधावृत्ति द्वारा अन्वित पदार्थ का ही ज्ञान हुआ करता है। तात्पर्य यह है कि जो वाक्यार्थ है वही वाच्यार्थ होता है। इस सिद्धान्त में अन्वयरूप अंश के निमित्त किसी अन्य शक्ति अथवा वृत्ति की आवश्यकता नहीं हुआ करती है। जैसे-'गामानय' इस वाक्य में 'गो' शब्द का कोई अर्थ नहीं है। यहाँ गौ का ज्ञान 'आनयन' क्रिया से अन्वित होकर तथा 'आनयन' की प्रतीति 'गौ' से अन्वित होकर ही हुआ करती है। यह सिद्धान्त प्रभाकार के नाम से प्रसिद्ध है। इन्होंने व्यवहार को संकेतग्रह का प्रमुख साधन माना है। जैसे कोई अधिक वृद्ध व्यक्ति अपने से कमवृद्ध को आदेश देकर कहे कि 'गामानय' तो वह दूसरा व्यक्ति 'गौ' को लाकर उपस्थित कर दिया करता है। समीप में बैठा हुआ बच्चा दोनों के कथन और कार्य का निरीक्षण करता है। इस भाँति बालक 'गामानय' इस सम्पूर्ण वाक्य के ज्ञान को समझ लिया करता है। पुनः बड़े व्यक्ति द्वारा यह कहे जाने पर कि 'गां बधान' 'अश्वमानय' [गौको बाँध दो और घोड़े को लाओ]। इस कथन का श्रवण कर बालक 'गां' और 'आनय' इन दोनों पदों के अर्थों को पृथक् रूप से जान लेता है। इसीका नाम है आवाप+उद्वाप [आवापोद्वाप] आवाप=ग्रहण, उद्वाप=त्याग। इसी के द्वारा संकेतग्रह हुआ करता है। इस पर आचार्य अभिनवगुप्त का कहना है कि आप भी यही स्वीकार करते हैं कि संकेत पदार्थमात्र में ही होगा और तदनन्तर वाक्यार्थ रूप विशेष की प्रतीति बाद में ही होगी, पहले नहीं।

अतएव 'दीर्घं दीर्घतर व्यापार' सम्वन्धी पक्षकी सिद्धि किसी भी भाँति होना संभव नहीं है।

[लोचनम्]

निमित्तनैमित्तिकभावश्चावश्याश्रयणीयः, अन्यथा गौणलाक्षणिकयोर्मुख्याद्भेदः, 'श्रुतिलिङ्गादिप्रमाणषट्कस्य पारदौर्बल्यम्', इत्यादि क्रियाविघातः, निमित्ततावैचित्र्येणैवास्याः समर्थितत्वात्। निमित्ततावैचित्र्ये चाभ्युपगते किमकिमपरमस्मास्वसूयया।

अर्थात् निमित्त और नैमित्तिक का आश्रय तो अवश्य ही लिया जाना चाहिये, अन्यथा गौण तथा लाक्षणिक-अर्थों का मुख्य अर्थ से भेद [मुख्य-अमुख्यरूप भेद सिद्ध नहीं होता], एवं मीमांसाशास्त्र में वर्णित श्रुति, लिङ्ग आदि छः प्रमाणों का क्रमशः दौर्बल्य है, इत्यादि प्रक्रिया का विघात होगा क्योंकि निमित्तता से ही इसका समर्थन किया जा चुका हैं। जब कि निमित्तताप्रयुक्त वैचित्र्य को आप स्वीकार कर लेते हैं तो फिर हमारे प्रति असूया [डाह] करने से क्या लाभ? [कहने का अभिप्राय यह है कि फिर तो ,आपने हमारी बात मान ही ली।]

(अशुबोधिनी)

इससे पहले जो विवेचन प्रस्तुत किया गया है उससे यह स्पष्ट हो ही गया होगा कि अभिधा तथा व्यञ्जना वृत्तियों में निमित्त नैमित्तिक भाव रहा करता है। इन दोनों वृत्तियों में 'अभिधा' निमित्त हुआ करती है और 'ब्यंजना' नैमित्तिक। इन दोनों [निमित्त और नैमित्तिकों का] तादात्म्य होना संभव नहीं है। अतएव हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि ये दोनों परस्पर एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न हुआ करती हैं। ऐसी स्थिति में यह भी निश्चय हो जाता है कि 'निमित्तनैमित्तिक भाव का स्वीकार किया जाना परमावश्यक है, अन्एथा निम्नलिखित की सङ्गति नहीं बैठ सकेगी।

(१) यदि उक्त भाव को नहीं माना जायगा तो गौण और मुख्य अर्थो में भी भेद सिद्ध न हो सकेगा। मुख्य अर्थ का बाध होने पर ही 'लक्षण' वृत्ति से लक्ष्यार्थ निकला करता है। अतएव मुख्यार्थ निमित्त होगा और लक्ष्यार्थ नैमित्तिक

यदि निमित्तनैमित्तिकभाव को स्वीकार नहीं किया जायगा तो न तो मुख्यार्थ बाध ही होगा और न मुख्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ का भेद ही स्पष्ट हो सकेगा।

(२) यदि दीर्घ-दीर्घ रूप से प्रतीत होवे वाले अर्थों के तारतम्य में निमित्त नैमित्तिकभाव [अर्थात् कार्यकराणभाव] स्वीकार नहीं किया जायगा तो 'श्रुति-लिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' इस मीमांसा-सूत्र में महर्षि जैमिनि द्वारा जो 'श्रुति' की अपेक्षा 'लिङ्ग' इत्यादि के दौर्बल्य का उल्लेख किया है, इस विधान का भी विघात होगा क्योंकि उस स्थिति में श्रुति की ही भाँति लिंग आदि स्थलों में शब्द सुनने के पश्चात् प्रतीयमान सभी अर्थ अभिधा शक्ति द्वारा ही प्रतीत होंगे फिर लिंग आदि के दुर्बल होने का कारण ही न रह जायगा। उपर्युक्त जैमिनि सूत्र की सार्थकता निमित्ततावैचित्र्य के स्वीकार किये जाने पर हो सकेगी। फिर जब निमित्ततावैचित्र्य मान लिया जायगा तो व्यापार [वृत्ति वा शक्ति] का भिन्न होना भी आवश्यक होगा। स्थिति में 'दीर्घ-दीर्घ' रूप से प्रतीत होनेवाले सभी प्रकार के अर्थों में मात्र 'अभिधा वृत्ति' से ही कार्य न हो सकेगा, अन्य वृत्तियों को भी स्वीकार करना ही होगा।

उपर्युक्त जैमिनि सूत्र का अर्थ है—(१) श्रुति, (२) लिंग, (३) वाक्य, (४) प्रकरण, (५) स्थान और (६) समाख्या। इन—छओं में अर्थ की विप्रकृष्टता के कारण जिसकी अपेक्षा जो पर [बाद] में होगा उसकी अपेक्षा वह दुर्बल होगा, क्योंकि पूर्व की अपेक्षा पर [बाद वाला] विलम्ब से अर्थ का द्योतन करेगा।

(१) 'श्रुति'—'निरपेक्षो रवः श्रुतिः'—अर्थात् जो अपने द्वारा किसी के अंगत्वबोध के कार्य में किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता अथवा जो अपने अर्थ के बोध में किसी दूसरे शब्द की अपेक्षा न रखने वाला शब्द 'श्रुति' नाम से कहा जाता है।

(२) 'लिंग'—अर्थविशेषप्रकाशनसमर्थं लिंगम्—शब्द का वह सामर्थ्य कि जो किसी विशिष्ट अर्थ का द्योतन करता है 'लिंग' कहलाता है।

(३) 'वाक्य'—'परस्पराकांक्षावशात् क्वचिदेकस्मिन् अर्थे पर्यवसितानि पदानि वाक्यम्' अर्थात् परस्तर आकांक्षा के वश किसी एक अर्थ में पर्यवसित होने वाले पदसमूह का नाम 'वाक्य' है।

(४) प्रकरण—'लब्धवाक्यभावानां पदानां कार्यान्तरापेक्षावशात् वाक्यान्तरेण सम्बन्ध आकांक्षापर्यवसन्नं प्रकरणम्'—अर्थात् जब पदसमूह 'वाक्य' की स्थिति में होता है तब अन्य कार्य की अपेक्षा से अन्य वाक्य के सम्बन्ध में आकांक्षा को 'प्रकरण' कहते हैं।

(५) स्थान—'स्थानं क्रमः' स्थान का अर्थ है समान देश में होना। इसी को 'क्रम' कहा जाता है।

(६) समाख्या - योगबलम् अर्थात् यौगिकशक्ति।

इन ६ तत्वों के द्वारा किस मन्त्र का विनियोग किस स्थान पर किया जाय इसका निर्णय किया जाता है। यदि इनमें पारस्परिक विरोध होता है तो पूर्व की अपेक्षा पर [बाद का] दुर्बल माना जाया करता है क्योंकि पर [बाद में आये हुए] की उपस्थिति पहले वाले की अपेक्षा देर से हुआ करती है।

इस सूत्र की संगति अभिधा तथा व्यञ्जना वृत्तियों में निमित्त-नैमित्तिकभाव स्वीकार कर लेने पर ही बैठती है। यदि शब्द श्रुति के अनन्तर जितनी भी उपस्थिति हों सभी में मात्र अभिधा व्यापार को ही मान लिया जाय तो उपस्थिति में न तो पौर्वापर्य ही होगा और फिर ऐसी स्थिति में न एक की अपेक्षा दूसरा बलवान् ही कहा जा सकेगा। ऐसी स्थिति में उक्त जैमिनि सूत्र की संगति के लिए निमित्तनैमित्तिकभाव स्वीकार करना आवश्यक है। तब आपको भी निमित्तता-वैचित्र्य के आधार पर अनेक प्रकार के व्यापारों [वृत्तियों] की कल्पना करनी ही होगी फिर हमसे असूया [ईर्ष्या] करने से क्या लाभ ? आप विवशता-वश जिसे स्वीकार कर रहे हैं हम तो उसे पहले से ही स्वीकार किये बैठे हैं।

[लोचनम्]

येऽप्यविभक्तं स्फोटं वाक्यं तदर्थं च आहुः, तैरप्यविद्यापदपतितैः सर्वेयमनुसरणीया प्रक्रिया। तदुत्तीर्णत्वे तु सर्वं परमेश्वराद्वयं ब्रह्मेत्यस्मच्छास्त्रकारेण न विदितं तत्त्वालोकग्रन्थं विरचयतेत्यास्ताम्।

जो भी लोग अखण्ड अर्थात् अविभक्त वाक्य और उसके [अखण्ड] अविभक्त अर्थ को अखण्ड, स्फोट रूप बतलाते हैं वे भी जब अविद्या [व्यवहार] के मार्ग में आयेंगे तब उन्हें भी इस सम्पूर्ण प्रक्रिया का अनुसरण करना होगा। उस [अविद्या अथवा व्यवहार] की स्थिति को पार [उत्तीर्ण] कर लेने पर

अर्थात् व्यवहार मार्ग का परित्याग कर देने पर परमेश्वराद्वय [अद्वैत ब्रह्म] ही हो जाता है। इस बात को तत्त्वालोकग्रन्थ के रचयिता हमारे शास्त्रकार न जान पाये हों, ऐसी बात नहीं है। बस अब रुक जाइये अर्थात् अब अधिक कहने की कोई आवश्यकता नहीं है।

(आशुबोधिनी)

जिसकी दृष्टि में अखण्ड अर्थात् अविभक्त वाक्य ही वाचक है और अविभक्त अर्थ ही 'वाच्य' है, ऐसे सिद्धान्तवादी लोग भी जब व्यवहार-मार्ग में आते हैं तो उन्हें भी सम्पूर्ण प्रक्रिया का सहारा लेना होता है। किन्तु जो लोग व्यवहार-मार्ग का परित्याग केवल परमार्थ सत्ता को ही स्वीकार किया करते हैं उनके लिये तो सभी कुछ ब्रह्म ही है, इस बात को हमारे इस ग्रंथ के रचयिता आनन्दवर्धनाचार्य न जानते हों, ऐसी बात नहीं है।

ऐसे अविभक्त वाक्य तथा अविभक्त वाक्यार्थ को स्वीकार करने वाले दो ही सिद्धान्तवादी हैं-—एक तो हैं वैयाकरण और दूसरे हैं वेदान्ती।

वैयाकरणों के अनुसार वाक्य और वाक्यार्थ दोनों अखण्ड [अविभक्त] हुआ करते हैं। अकेला शब्द अनर्थक हुआ करता है। सम्पूर्ण अखण्ड [अविभक्त] वाक्य से सम्पूर्ण अखण्ड [अविभक्त] अर्थ का ज्ञान हुआ करता है। इनके मतानुसार शब्द के दो भाग हुआ करते हैं-(१) ध्वनि, (२) स्फोट। ध्वनि हम सभी को श्रवणगोचर हुआ करती है और उसका वाच्य स्फोट हुआ करता है। ध्वनि में भेद हुआ करता है, स्फोट में नहीं।

नागेशभट्ट के अनुसार लोक में वाक्यस्फोट मुख्य हुआ करता है क्योंकि वाक्य से ही अर्थ का ज्ञान हुआ करता है तथा वाक्य से ही अर्थ की समाप्ति भी होती है। जैसे-'पट' शब्द में 'प्, अ, ट्+अ' इन चारों अक्षरों का पृथक् पृथक् कोई अर्थ नहीं है। इस भाँति 'देवदत्तः जलं पिबति' इस वाक्य में पृथक्-पृथक् रूप में शब्दों का कोई अर्थ नहीं है। सम्पूर्ण अविभक्त वाक्य ही अर्थ का बोधक होता है। वाक्य के अभ्यन्तर विद्यमान शब्द सर्वथा अनर्थक ही हुआ करते हैं।

उनका यह भी कथन है कि प्रत्येक वाच्य प्रत्येक अर्थ का वाचक है। इस भाँति इनके मतानुसार अभिधा आदि व्यापारभेदों का स्वीकार किया जाना उचित नहीं है।

इसी भाँति वेदान्ती लोग भी अखण्ड वाक्य को अखण्ड परमात्मा का वाचक स्वीकार करते हैं। पद, पदार्थ-विभाग के बिना किये ही अखण्ड [अविभक्त] 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' इत्यादि वाक्य अखण्ड ब्रह्म का बोधक है। इस भाँति वाक्यगम्य अर्थ में वाक्य की ही शक्ति हुआ करती है। अतएव सभी अर्थ वाक्यगम्य ही हुआ करते हैं। ऐसी दशा में अभिधा आदि शक्तियों द्वारा अर्थ निकालना उचित नहीं है।

उपर्युक्त दोनों मतों के बारे में आचार्य का कहना है कि हम उपर्युक्त मतों को अस्वीकार नहीं करते हैं किन्तु जब व्यवहार का प्रसंग आता है तब तो किसी भी अखण्ड वाक्य का क्रिया-कारक-भेद द्वारा विभक्त किये बिना अर्थ का ज्ञान किसी को भी नहीं होगा, यहाँ तक कि स्वयं वैयाकरण को भी नहीं होगा। इसी प्रकार वेदान्ती भी अभिधा की दशा अथवा व्यावहारिक संसार में आकर व्यावहारिक सत्य को ही अंगीकार किया करते हैं। ऐसी दशा में उनको भी पद-पदार्थ विभाग को अवश्य स्वीकार करना होगा। हाँ, विद्या अथवा ज्ञान की स्थिति में उनका अखण्ड वाक्य एवं वाक्यार्थ हमें भी स्वीकार होगा क्योंकि ज्ञान की दशा में एक अद्वितीय परमात्मा को छोड़कर अन्य कुछ भी शेष नहीं रह जाता है। फिर क्या इस विषय से धन्यालोक के रचयिता आनन्दवर्धन परिचित नहीं हैं? अवश्य परिचित हैं। अतएव व्यवहार के क्षेत्र में उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तवादियों को हमारे द्वारा अभिमत अभिधा, व्यंजना आदि शक्तियों को स्वीकार करना ही होगा।

[लोचनम्]

यत्तु भट्टनायकेनोक्तम्—इह दृप्तसिंहादिपदप्रयोगे च धार्मिकपदप्रयोगे च भयानकरसावेशकृतैव निषेधावगतिः तदीयभीरुवीरत्वप्रकृतिनियमावगममन्तरेणैकान्ततो निषेधावगत्यभावादिति तन्न केवलार्थसामर्थ्यं निषेधावगतेर्निमित्तमिति। तत्रोच्यते—केनोक्तमेतत् 'वक्तृप्रतिपत्तृविशेषावगमविरहेण शब्दगतध्वननव्यापारविरहेण च निषेधावगतिः' इति। प्रतिपत्तृप्रतिभासहकारित्वं ह्यस्माभिर्द्योतनस्य प्राणत्वेनोक्तम्। भयानकरसावेशश्च न निवार्यते, तस्य भयमात्रोत्पत्त्यभ्युपगमात्। प्रतिपत्तुश्च रसावेशो रसाभिव्यक्त्यैव। रसश्च व्यङ्ग्य एव, तस्य च शब्दवाच्यत्वं तेनापि नोपगतमिति व्यङ्ग्यत्वमेव। प्रतिपत्तुरपि रसावेशो न नियतः, न ह्यसौ नियमेन भीरुधार्मिकसब्रह्मचारी सहृदयः।

जो कि भट्टनायक द्वारा कहा गया है कि—'भ्रम धार्मिक' इत्यादि स्थल में 'दृप्तसिंह' इत्यादि पद के प्रयोग और 'धार्मिक' पद के प्रयोग में भयानकरस के आवेश के द्वारा ही निषेध का ज्ञान होता है क्योंकि उनको [धार्मिक की तथा सिंह की क्रमशः] 'भीरुता' और 'वीरतारूप स्वभाव के नियम [अविनाभाव] के ज्ञान के बिना पूर्णतः निषेध का ज्ञान होना संभव नहीं है। अतएव मात्र अर्थ का सामर्थ्य ही निषेध के ज्ञान का निमित्त नहीं है।' इस [सम्बन्ध] में कहते हैं—यह कौन कह रहा है कि वक्ताविशेष तथा प्रतिपत्ताविशेष के ज्ञान के बिना और शब्दगत ध्वननव्यापार के बिना निषेध का ज्ञान होता है ? प्रतिपत्ता की प्रतिभा की [व्यङ्ग्यार्थावगति में] सहकारिता को तो हमने द्योतन [ध्वनन-व्यापार] के प्राण के रूप में कहा है। भयानक रस के आवेश का हम निवारण नहीं करते हैं क्योंकि हम उसे केवल भयमात्र की उत्पत्ति के रूप में मानते हैं। प्रतिपत्ता को रस का आवेश रस की अभिव्यक्ति के द्वारा ही होगा। और रस व्यङ्ग्य ही होता है क्योंकि रस के शब्दवाच्यत्व को तो किसीने भी स्वीकार नहीं किया है। अतः वह व्यङ्ग्य ही हुआ करता है। प्रतिपत्ता का रसावेश निश्चित नहीं है क्योंकि वह नियमतः सहृदय भीरु, धार्मिक सदृश ही नहीं है।

(आशुबोधिनी)

'भ्रम धार्मिक···' इत्यादि उदाहरण उद्धृत कर भट्टनायक ने लिखा है कि—इस स्थल पर सिंह के लिये 'उद्धत' विशेषण का प्रयोग किया गया है तथा 'धार्मिक' को 'धार्मिक' रूप सम्बोधन द्वारा सम्बोधित किया गया है। उपर्युक्त इन दोनों शब्दों [पदों] के आधार पर उक्त उद्धरण में भयानक रस की प्रतीति हो रही है तथा इसी से निषेध का ज्ञान भी होता है। किन्तु धार्मिक के डरपोक होने तथा सिंह की वीरता के ज्ञान के विना निषेधरूप अर्थ का ज्ञान होना संभव नहीं है। मात्र अर्थ के सामर्थ्य को ही निषेध की प्रतीति का कारण मान लेना सङ्गत प्रतीत नहीं होता है।

उनके इस कथन के खण्डन में लोचनकार का कहना है कि यह तो हम भी स्वीकार नहीं करते हैं कि वक्ता और प्रतिपत्ता के वैशिष्ट्य ज्ञान के विना तथा शब्दगत ध्वननव्यापार के बिना निषेधरूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो सकती है। हम तो रसास्वादन करनेवाले सहृदय व्यक्ति की प्रतिभा रूप विशेषता को व्यंजना

का प्राण स्वीकार करते हैं। दूसरी बात जो भट्टनायक द्वारा कही गई है वह यह है कि श्रोता सहृदय भयानक-रस से आविष्ट होकर 'भ्रम धार्मिक...' इत्यादि पद्य के निषेधरूप अर्थ का ज्ञान प्राप्त करता है। इस स्थल पर 'भयानक रस के आवेश से' हम यही अर्थ लेते हैं कि धार्मिक में केवल 'भय' नामक भाव की उत्पत्ति। क्योंकि रस का आवेश तो इसकी अभिव्यक्ति द्वारा ही होना संभव है। इस का आस्वादन तभी संभव है कि जब अध्येता अथवा श्रोता को उसकी अभिव्यक्ति हो। रस का शब्दवाच्य होना तो भट्टनायक भी नहीं मानते हैं। ऐसी स्थिति में यही स्वीकार्य होगा कि 'रस' सर्वथा व्यङ्ग्य ही हुआ करता है। अतएव 'दृप्तसिंह' आदि तथा 'धार्मिक' पद के प्रयोग द्वारा भट्टनायक द्वारा जो भयानक रस का आवेश कहा गया है वह मूलतः गलत है। इस स्थल पर यह भी ध्यान देने योग्य है कि धार्मिक के ही सदृश प्रतिपत्ता सहृदय व्यक्ति भी भीरु ही हो, वह तो वीरस्वभाव वाला भी हो सकता है। फिर उसमें भयानक रस का आवेश होना आवश्यक नहीं है। तब ऐसे सहृदय में निषेधरूप अर्थ का ज्ञान होना भी आवश्यक नहीं होगा। अतएव यह मानना होगा कि भयानक रस की अभिव्यक्ति से 'निषेध' का ज्ञान नहीं होता है।

[लोचनम्]

अथ तद्विशेषोऽपि सहकारी कल्प्यते, तर्हि वक्तृप्रतिपत्तृप्रतिभाप्राणितो ध्वननव्यापारः किं न सह्यते। किं च वस्तुध्वनिं दूषयता रसध्वनिस्तदनुग्राहकः समर्थ्यत इति सुष्ठुतरां ध्वनिध्वंसोऽयम्। यदाह—'क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः' इति। अथ रसस्यैवेयता प्राधान्यमुक्तम्; तत्को न सहते। अथ वस्तुमात्रध्वनेरेतदुदाहरणं न युक्तमित्युच्यते, तथापि काव्योदाहरणत्वाद् द्वावप्यत्र ध्वनी स्तः, को दोषः।

यदि उस प्रतिपत्ताविशेष की विशेषता भी सहकारी कल्पित कर ली जाती है तो वक्ता और प्रतिपत्ता की प्रतिभा से अनुप्राणित ध्वननव्यापार को ही क्यों नहीं सहन कर लिया जाता है? दूसरी बात यह है कि वस्तुध्वनि को तो दूषित करते हैं और 'रसध्वनि' जो कि उस [वस्तु ध्वनि] का ही अनुग्राहक है, का समर्थन करते हैं, तब तो यह ध्वनि का बहुत अच्छा ध्वंस हुआ जैसा कि कहा भी गया है—'देव का क्रोध भी वरदान के सदृश ही हुआ करता है।' इस

कथन से यदि रस की ही प्रधानता कही गई है तो इस बात को कौन सहन नहीं करता है ? 'यदि वस्तुमात्र ध्वनि का यह उदाहरण उचित नहीं है' ऐसा कहा जाता है, तो भी काव्य का उदाहरण होने के कारण यहां पर दोनों ही ध्वनियाँ हैं, इसमें क्या दोष है ?

(आशुबोधिनी)

ध्वननव्यापार' के खण्डन में भट्टनायक द्वारा जो यह कहा गया है कि प्रतिपत्ता अर्थात् बोद्धा को भयानकरस के आवेश के कारण ही यहाँ 'निषेध' का ज्ञान हो जाता है। इस सम्बन्ध में लोचनकार द्वारा यह कहा गया है कि ऐसा कोई नियम नहीं हो सकता है कि सहृदय प्रतिपत्ता [बोद्धा] उक्त पद्य का श्रवण कर भयनकरस से आविष्ट हो जाता है; क्योंकि प्रत्येक सहृदय व्यक्ति उस धार्मिक के सदृश भीरु नहीं हो सकता है, वह तो वीर प्रकृतिवाला भी हो सकता है। इसके उत्तर में भट्टनायक का कथन है कि यदि प्रतिपत्ता [बोद्धा] व्यक्ति की प्रतिभाविशेष अर्थात् भीरुता को भयानकरस के आवेश के होने में सहकारी कारण ही स्वीकार कर लिया जाय तब उस आधार पर तो उक्त नियम बनाया जा सकता है और उस भाँति का प्रत्येक प्रतिपत्ता भयानकरस सम्बन्धी आवेश 'निषेध' रूप अर्थ का ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

इसके उत्तर में लोचनकार का कहना है कि जब आप प्रतिपत्ता [बोद्धा] व्यक्ति की प्रतिभाविशेष तक को स्वीकार कर रहे हैं तब आप वक्ता, श्रोता तथा सहृदय व्यक्ति की प्रतिभा से अनुप्राणित ध्वननव्यापार को ही क्यों नहीं स्वीकार लेते हैं ? आश्चर्य तो इस पर हो रहा है कि आप वस्तुध्वनि को तो स्वीकार नहीं कर रहे हैं और उसकी सहायिका 'रसध्वनि' को आप स्वीकार कर रहे हैं जब कि रसध्वनि वस्तुध्वनि की अनुग्राहक है। यदि आप इस बात पर टिके हुए हैं कि यहाँ रसध्वनि की ही प्रधानता है तो इसमें भी हमारी कोई हानि नहीं है। इसके उत्तर में आप कह सकते हैं कि मुझे तो मात्र यही आपत्ति है कि उक्त उदाहरण एकमात्र वस्तुध्वनि का नहीं हो सकता है। इसके उत्तर में मैं यही कहूँगा कि इस स्थल पर दोनों ही ध्वनियाँ कही जा सकती हैं क्योंकि उक्त उदाहरण तो काव्य के उदाहरणरूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में दोनों ही ध्वनियों को स्वीकार कर लेने में क्या दोष ? यह तो आपकी

इच्छा पर आश्रित है कि आप उक्त उदाहरण को वस्तुध्वनि अथवा रसध्वनि किसी भी ध्वनि के उदाहरणरूप में प्रस्तुत करें।

[लोचनम्]

यदि तु रसानुवेधेन विना न तुष्यति, तद् भयानकरसानुवेधो नात्र सहृदयहृदयदर्पणमध्यास्ते; अपि तु उक्तनीत्या सम्भोगाभिलाषविभावसङ्केतस्थानोचितविशिष्टकाक्वाद्यनुभावशबलनोदितशृङ्गाररसानुवेधः। रसस्यालौकिकत्वात्तावन्मात्रादेव चानवगमात्प्रथमं निर्विवादसिद्धविविक्तविधिनिषेधप्रदर्शनाभिप्रायेण चैतद्वस्तुध्वनेरुदाहरणं दत्तम्।

यदि [सहृदय व्यक्ति] को रसानुवेध [रसावेश] के बिना सन्तोष न होता हो तो इस स्थिति में यही कहना उचित होगा कि सहृदय व्यक्ति के हृदयरूपी दर्पण में भयानकरस का आवेश प्रतिष्ठित नहीं है अपितु उक्त प्रकार से संभोग की इच्छा का उद्दीपनविभाव, जो कि सङ्केतस्थल है, के योग्य जो विशेष प्रकार के काकु आदि अनुभाव हैं, उनके शबलन [मिश्रण] से शृंगाररस का अनुवेध [आवेश] ही मानना उचित प्रतीत होता है। रस के अलौकिक होने के कारण केवल उतने से ही [रस] का अवगम संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में जिनका भेद निर्विवादरूप में सिद्ध है, उन विधि और निषेध के प्रदर्शन के अभिप्राय से यह वस्तुध्वनि का उदाहरण दे दिया है।

(आशुबोधिनी)

यदि आप रसानुवेध [रसावेश] के बिना सन्तुष्ट हों तो भी उक्त उदाहरण [भ्रम धार्मिक······इत्यादि] में सहृदय व्यक्तियों के हृदयरूपी दर्पण में भयानक रस का आवेश स्थापित नहीं होता है। अपितु संभोग की इच्छा को प्रकट करने वाला संकेत स्थल ही यहाँ पर उद्दीपन विभाव है तथा उसी के अनुरूप जो विशिष्ट प्रकार की काकु आदि कण्ठध्वनि है, 'अनुभाव' है। अतएव इनके एकत्र सम्मिश्रण से पुष्टि को प्राप्त होकर 'रति' नामक स्थायी भाव ही शृङ्गार रस के रूप में उदित होकर रसास्वादन में कारण बनता है। चूंकि रस अलौकिक होता है, इस कारण केवल प्रयुक्त शब्दों के आधार पर उसका अवगमन होना भी संभव नहीं है। अतएव प्रस्तुत पद्य को रस के उदाहरण के रूप में उद्धृत नहीं किया गया है। पहले से ही जिनका भेद निर्विवादरूप से सिद्ध है ऐसे विधि और

निषेध के प्रदर्शन की दृष्टि से इसे 'वस्तुध्वनि' के उदाहरण के रूप में रखा गया है।

[लोचनम्]

यस्तु ध्वनिव्याख्यानोद्यतस्तात्पर्यशक्तिमेव विवक्षासूचकत्वमेव वा ध्वननमवोचत् स नास्माकं हृदयमावर्जयति। यदाहुः—'भिन्नरुचिर्हि लोकः' इति। तदेतदग्रे यथायथं प्रतनिष्याम इत्यास्तां तावत्। भ्रमेति। अतिसृष्टोऽसि प्राप्तस्ते भ्रमणकालः। धार्मिकेति। कुसुमाद्युपकरणार्थं युक्तं ते भ्रमणम्। विस्रब्ध इति शङ्काकारणवैकल्यात्। स इति यस्ते भयप्रकम्पामङ्गलतिकामकृत। अद्येति। दिष्टया वर्धस इत्यर्थः। मारित इति पुनरस्यानुत्थानम्। तेनेति। यः पूर्वं कर्णोपकर्णिकया त्वयाप्याकर्णितो गोदावरीकच्छगहने प्रतिवसतीति। पूर्वमेव हि तद्रक्षायै तत्तयोपश्रावितोऽसौ; स चाधुना तु दृप्तत्वात्ततो गहनान्निस्सरतीति प्रसिद्धगोदावरीतीरपरिसरानुसरणमपि तावत्कथाशेषीभूतं का कथा तल्लतागहनप्रवेशशङ्कयेति भावः।

जिसने 'ध्वनि' का व्याख्यान करने हेतु उद्यत होकर, तात्पर्य-शक्ति को ही अथवा विवक्षा के सूचकत्व [अनुमापकत्व] को ही 'ध्वनन' नामक व्यापार कहा है वह हमारे हृदय को आकृष्ट नहीं करता है। जैसा कि कहा भी है कि 'संसार भिन्न रुचियों वाला हुआ करता है।' तो इसे आगे यथास्थान विस्तार के साथ कहेंगे। अतएव इस विषय को यहीं समाप्त करते हैं। घूमो—तुम अतिसृष्ट हो [तुम्हारी इच्छा पर निर्भर है—घूमो अथवा न घूमो]। तुम्हारे घूमने का यह समय है। धार्मिक [बाबा जी] पुष्प आदि साधनों के लिये तुम्हारा घूमना उचित है। विश्वास के साथ—क्योंकि सन्देह करने का अब कोई कारण नहीं रह गया है। वह—अर्थात् जिसने तुम्हारे शारीरिक अङ्गों को भय से कम्पायमान कर दिया था। आज—अर्थात् आज भाग्य से वृद्धि को प्राप्त हो रहे हो, मार डाला गया—अब पुनः वह नहीं आवेगा। उस [सिंह] ने, जिसके बारे में तुमने भी श्रुतिपरम्परा से सुन रखा है कि गोदावरी के घने कच्छ में निवास करता है। उस व्यभिचारिणी ने पहले से ही उस सङ्केत-स्थान की रक्षा के लिए गोदावरी के घने कच्छ में उस दुर्दान्त सिंह के रहने का वृत्तान्त धार्मिक को सुना रखा था। [पहले तो वह सिंह कच्छ के अन्दर ही रहा करता था] किन्तु अब तो वह

दृप्त [मत्त–पागलसदृश] हो जाने के कारण उस कच्छ से बाहर भी निकल आता है। अतः प्रसिद्ध गोदावरी नदी के तट की भूमि के आस-पास तुम्हारा घूमना भी कथा-शेष मात्र रह गया है। फिर उस लतागहन में प्रवेश करने की शङ्का को तो बात ही क्या ?

(आशुबोधिनी)

ध्वनि की व्याख्या करते हुए किसी ने कहा है कि 'तात्पर्यशक्ति ही ध्वनि शब्दवाच्य है अथवा वक्ता के अभीष्ट अर्थ के अनुमान लगाने को 'ध्वनि' नाम से कहा जाता है। 'यह व्याख्या मुझे अपनी ओर आकर्षित नहीं करती है [अर्थात् मुझे रुचिकर प्रतीत नहीं होती है।] जैसा कि कालिदास ने कहा भी है—'लोगों की रुचियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की हुआ करती हैं।' इस सबकी व्याख्या आगे क्रमशः विस्तारपूर्वक की जायेगी।

'घूमो' [भ्रम] का वाच्यार्थ है—अब तुम्हारे स्वच्छन्दता के साथ विचरण करने का समय आ गया है, यह तुम्हारी इच्छा पर निर्भर करता है कि तुम घूमो अथवा न घूमो। प्रतीयमान अर्थ [व्यङ्ग्यार्थ] यह है कि तुमको यहाँ पर भ्रमणार्थ नहीं आना चाहिये। 'धार्मिक' शब्द का वाच्यार्थ है—'धर्म का आचरण करने वाले।' अर्थात् पुष्प आदि पूजा के साधनों के लिये तुमको यहाँ आना ही है। प्रतीयमान अर्थ [व्यङ्ग्यार्थ] है—तुम धर्म का आचरण करते हो, अतएव तुमको इस प्रकार के भय का सामना करना उचित नहीं है। विश्वास के साथ–तुम्हारे भय का कारण कुत्ता था, वह मारा जा चुका है। अतएव विश्वस्त होकर तुम विचरण करो। प्रतीयमान अर्थ [व्यङ्ग्यार्थ] होगा कि–अभी तक तो तुमको कुत्ते का ही डर था, अब तो शेर आ गया है अतः विश्वस्त रहना उचित नहीं है। सः='वह' का वाच्यार्थ है—वह कुत्ता कि जिसके कारण आप का शरीर कंपन करने लगा करता था। प्रतीयमान अर्थ [व्यङ्ग्यार्थ] है—तुम तुच्छ कुत्ते का ही सामना नहीं कर पाते थे। तब अब शेर का सामना किस भाँति कर सकोगे। अद्य='आज' का वाच्यार्थ है—आज तो आप बड़े भाग्य-शाली हैं क्योंकि आपके भय का कारण दूर हो चुका है। प्रतीयमान अर्थ [व्यङ्ग्यार्थ] होगा—शेर द्वारा कुत्ते को आज ही मार डाला गया है, वह शेर अभी यहीं है। कहीं दूर नही गया है। 'मारितः'=मार डाला गया। इसका

व्यङ्ग्यार्थ है—शेर तो अपने भोजन की खोज में यहाँ आता ही है। अब यहाँ नहीं आयेगा, यह नहीं कहा जा सकता। तेन=उस सिंह ने। इसका व्यङ्ग्यार्थ होगा कि उस स्वैरिणी [व्यभिचारिणी] ने अपनी सखी द्वारा तुम्हारे पास पहले ही यह सूचना भिजवा दी थी कि यहाँ गहनकुञ्ज में सिंह निवास करता है अब तो वह स्वयं कह रही है कि तुम यह तो सुन ही चुके हो कि सिंह यहीं कुंज में ही निवास करता है। इस समय वह इतना चपल हो गया है कि अपने शिकार हेतु दिन में बाहर घूमा करता है। ऐसी स्थिति में तुम्हारा लता वन में प्रवेश करना भी उचित नहीं है। इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'भ्रम धार्मिक···' इत्यादि उदाहरण में वाच्यार्थ विधिसूचक है तथा व्यङ्ग्यार्थ निषेध-सूचक।

ध्वन्यालोकः

क्वचिद्वाच्ये प्रतिषेधरूपे विधिरूपो यथा—

अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअसअं पलोएहि।
मा पहिअ रत्तिअन्धअ सेज्जाए मह णिमज्जहिसि॥

अर्थात् कहीं कहीं वाच्यार्थ प्रतिषेधरूप में होता है और प्रतियमान अर्थ [व्यङ्ग्यार्थ] विधिरूप में। जैसे—

इस स्थान पर मेरी सास गाढ़ निद्रा में सोती हैं, स्थान पर मैं सोती हूँ। तुम दिन में ही देख लो। रात्रि के समय अन्धे अर्थात् रतौंधी नामक रोग के रोगी हे पथिक! कहीं हम लोगों की चारापाई पर न आ गिरना।

[लोचनम्]

अत्ता इति।

श्वश्रूरत्र शेते [अथवा निमज्जति] अत्राहं दिवसकं प्रलोकय।
मा पथिक रात्र्यन्ध शय्यायामावयोः शयिष्ठाः॥

मह इति निपातोऽनेकार्थवृत्तिरत्रावयोरित्यर्थे न तु ममेति। एवं हि विशेष-वचनमेव शङ्काकारि भवेदिति प्रच्छन्नाभ्युपगमो न स्यात्। कांचित्प्रोषितपतिकां तरुणीमवलोक्य प्रवृद्धमदनाङ्कुरः संपन्नः पान्थोऽनेन निषेधद्वारेण तयाभ्युपगत इति निषेधाभावोऽत्र विधिः। न तु निमन्त्रणरूपोऽप्रवृत्तप्रवर्तनास्वभावः

सौभाग्याभिमानखण्डनाप्रसङ्गात् । अत एव रात्र्यन्धेति समुचितसमयसम्भाव्यमानविकाराकुलितत्वं ध्वनितम् । भावतदभावयोश्च साक्षाद्विरोधाद्वाच्याद् व्यङ्ग्यस्य स्फुटमेवान्यत्वम् ।

[प्राकृतगाथा में-] 'मह' यह निपात अनेकार्थवृत्ति है किन्तु यहाँ पर 'हमारी' [अर्थात् मेरी तथा मेरी सास की] इस अर्थ में प्रयुक्त है, 'मेरी' इस अर्थ में नहीं । यदि 'मम' यह अर्थ लिया जाय तो यह विशिष्ट वचन श्वश्रू [सास] को शङ्कित कर देने वाला हो जायगा । [साथ ही] नायिका द्वारा किया गया पथिक का प्रच्छन्न अभ्युपगम [छिपे हुए रूप में शयन करने की स्वीकृति] नहीं बन सकेगा । किसी प्रोषितपतिका [जिसका पति परदेश गया हुआ है] तरुणी को देखकर कोई राहगीर विशेषरूप से कामासक्त हो गया । तब इस निषेध के रूप में उस तरुणी ने उसे शयन के निमित्त अपनी स्वीकृति दे दी । इस भाँति इस स्थल पर निषेधाभावरूप विधि है, अप्रवृत्त में प्रवर्तन-स्वभाव का निमन्त्रणरूप विधि नहीं है क्योंकि उस स्थिति में तो नायिका के सौभाग्य के अभिमान के खण्डित हो जाने का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा । अत-एव 'रात्र्यन्ध' शब्द का प्रयोग कर उचित समय पर सम्भावित होनेवाले विकारों से उसका आकुलित होना ध्वनित होता है । भाव तथा अभाव इन दोनों में स्पष्ट रूप से विरोध होने के कारण वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ [प्रतीयमान अर्थ] का भिन्न होना स्पष्ट ही है ।

(आशुबोधिनी)

कोई राहगीर रात्रि में कहीं विश्राम करने का अभिलाषी है । एकाएक उसकी दृष्टि एक नवयुवती पर पड़ती है, जिसका पति परदेश गया हुआ है । पथिक की काम-पिपासा को युवती समझ लेती है और वह कहती है—'हे पथिक ! तुम दिन में ही भली-भाँति देख लो । यहाँ सासजी शयन करती हैं और यहाँ मैं सोती हूँ । रात्रि के समय रतौंधी नामक रोग से ग्रसित होकर तुम कहीं हम दोनों की खाट पर न गिर पड़ना ।'

इस स्थल पर 'मह' शब्द विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है । इसके दो प्रकार के रूप बनते हैं—(१) बहुवचनान्त रूप जो कि अव्यय है । इसका अर्थ होता है 'हम सब' अथवा 'हम दोनों' । (२) एकवचनान्त है तथा वह 'मम' का

छायारूप है। अर्थ है—'मेरी'। यदि युवती द्वारा एकवचन के अर्थ में इसका प्रयोग किया गया होता तो अर्थ होता—'मेरी चारपाई पर न आ जाना'। इस स्थिति में अन्य लोगों के द्वारा शंका की जा सकती थी। अतएव उसके द्वारा 'हम दोनों' के अर्थ में ही 'मह' इस अव्यय का प्रयोग किया गया। इस अर्थ में किसी प्रकार की आशंका का भय नहीं रहा।

यहाँ पर वाच्यार्थ निषेधरूप में है तथा प्रतीयमान अर्थ [व्यङ्ग्यार्थ] विधिरूप है। किन्तु विधि का अर्थ प्रवर्तना नहीं होगा। उसका अर्थ प्रतिप्रसव अर्थात् निषेध निवर्तनरूप ही लेना चाहिये। पथिक द्वारा किसी प्रोषितभर्तृका तरुणी को देखा गया। उसके अन्दर कामाग्नि उद्दीप्त होने लगी। उस तरुण ने उस पथिक को निषेध द्वारा उसकी ओर से निषेधनिवर्त्तनरूप स्वीकृति अथवा अनुमति प्रदान कर दी, अप्रवृत्त-प्रवर्त्तनरूप निमन्त्रण नहीं। अर्थात् तरुणी ने यहाँ अप्रवृत्त पथिक—पुरुष को निमन्त्रण द्वारा प्रवृत्त नहीं किया है। यदि ऐसा किया गया होता तब तो उसे अपने सौभाग्य का अभिमान ही न रह जाता। पथिक तो स्वयं ही नायिका से मिलने के लिये प्रवृत्त है, उत्सुक है। इसी दृष्टि से तरुणी ने उसे 'राश्यन्ध' [रतौंधी नामक रोग से पीड़ित अथवा रात का अन्धा] कहकर उसके सम्भाव्यमान विकारों के कारण आकुलता को प्रदर्शित किया है। यदि ऐसा न होता तो तरुणी को क्या पड़ी थी कि वह उसे राश्यन्ध कहकर पुकारती, वह तो किसी प्रकार पहुँचता, वह स्वयं ही मिल लेती। किन्तु इस प्रकार की स्थिति है ही नहीं। अतएव उस स्थल पर विधि शब्द निषेधाभाव-रूप अभ्युपगममात्र का ही द्योतक है। इस प्रकार विधि और निषेध में स्पष्ट रूप से विरोध होने के कारण यह भी स्पष्ट हो गया कि वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ परस्पर एक दूसरे से भिन्न हुआ करते हैं।

[लोचनम्]

यत्त्वाह भट्टनायकः—'अहमित्यभिनयविशेषेणात्मदशावेदनाच्छाब्दमेतदपी'ति तत्राहमिति शब्दस्य तावन्नायं साक्षादर्थः काक्वादिसहायस्य च तावति ध्वननमेव व्यापार इति ध्वनेर्भूषणमेतत्। अत्तेति प्रयत्नेनानिभृतसम्भोगपरिहारः। अथ यद्यपि भवान्मदनशरासारदीर्यमाणहृदय उपेक्षितुं न युक्तः, तथापि किं करोमि पापो दिवसकोऽयमनुचितत्वात्कुत्सितोऽयमित्यर्थः। प्राकृते पुंनपुंसकयो-

रनियमः । न च सर्वथा त्वामुपेक्षे यतोऽत्रैवाहं तत्प्रलोकय नान्यतोऽहं गच्छामि, तदन्योन्यवदनावलोकनविनोदेन दिनं तावदतिवाहयाव इत्यर्थः । प्रतिपन्नमात्रायां च रात्रावन्धीभूतो मदीयायां शय्यायां मा श्लिषः, अपि तु निभृतनिभृतमेवात्ता-भिधाननिकटकण्टकनिद्रान्वेषणपूर्वकमितीयदत्र ध्वन्यते ।

जो कि भट्टनायक ने कहा है—[गाथा में प्रयुक्त] 'अहं' इस पद द्वारा विशिष्ट प्रकार के अभिनय के द्वारा अपनी दशा के आवेदन करने के कारण यह [निषेध के द्वारा अभ्युपगमन—स्वीकृति] भी शब्द द्वारा कथन किये जाने योग्य ही है ।' यहाँ 'अहम्' इस शब्द का यह [अभिनय विशेषरूप से अभ्युपगमन] साक्षात् अर्थ तो है नहीं, काकु इत्यादि की सहायता से उस अर्थ में ध्वनन व्यापार ही होगा । इस भाँति यह ध्वनि का भूषण ही है [दूषण नहीं] [गाथा में] 'अत्ता' [श्वश्रू] के प्रयोग द्वारा प्रयत्नपूर्वक सम्भावित अपने अनिभृत [एकान्त] सम्भोग का परिहार है । यद्यपि तुम कामदेव के बाणों की वर्षा से विदीर्ण हृदय वाले किसी भाँति उपेक्षणीय नहीं तथापि क्या करूँ ? यह पापी तुच्छ दिन सम्भोग के लिए अनुचित होने के कारण बहुत खराब [कुत्सित] है, यह अर्थ हुआ । प्राकृत [भाषा] में पुलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग का कोई नियम नहीं है । अर्थात् मैं सर्वथा तुम्हारी उपेक्षा नहीं कर रही हूँ, क्योंकि देखो, मैं कहीं अन्यत्र नहीं जा रही हूँ । अतएव हम परस्पर एक दूसरे का मुख देखने रूप विनोद के द्वारा दिन बिता लें, यह अर्थ है । रात्रि के आते ही अन्धे होकर मेरी चारपाई का आलिङ्गन न करना, अपितु छिप-छिपकर यह जान लेना कि समीपस्थित सास नामक काँटा नींद में है, यह इतना ध्वनित होता है ।

(आशुबोधिनी)

भट्टनायक ने कहा है—'मैं यहाँ पर शयन करती हूँ ।' इस कथन में तरुणी द्वारा मैं शब्द का उच्चारण इस प्रकार की कण्ठध्वनि तथा चेष्टाओं द्वारा किया गया है कि उसी से उसकी सम्भोग सम्बन्धी अभिलाषा तथा प्रेरणा का ज्ञान उसी मैं शब्द द्वारा प्रकट हो जाता है । ऐसी स्थिति में इस स्थल पर 'अभिधा' शक्ति द्वारा ही विधिपरक अर्थ निकल आता है । फिर इसके निमित्त व्यञ्जना नामक व्यापार को मानने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है ।

भट्टनायक के उपर्युक्त कथन के उत्तर में यह कहना है कि 'अहम्' शब्द का

आप द्वारा किया गया अर्थ साक्षात् अर्थ तो है नहीं जिसे कि अभिधेय अर्थ कहा जा सके। काकु अथवा कण्ठध्वनि को तो हम भी व्यञ्जनावृत्ति का सहकारी स्वीकार करते हैं। काकु द्वारा अभिव्यक्त होने वाला अर्थ व्यञ्जनावृत्तिजन्य ही हुआ करता है। अतएव यह तो ध्वनि का भूषण ही हुआ, दूषण नहीं।

यहाँ पर 'श्वश्रू' [सास] शब्द के प्रयोग से यह स्पष्ट होता है कि सास की विद्यमानता में स्वन्त्रतापूर्वक विहार किया जाना संभव नहीं है। रात्रि में उसके सो जाने पर भी तुम्हें बड़ी सावधानी के साथ मेरे पास आना चाहिये। 'दिवसकम्' में 'क' प्रत्यय निन्दा अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। भाव यह कि यह पापी दिन शीघ्र ही समाप्त नहीं हो रहा है। अतएव यह निन्दा के योग्य है। तरुणी का कहना है कि हे पथिक! मैं जानती हूँ कि तुम्हारा हृदय काम के बाणों द्वारा विदीर्ण हो चुका है। ऐसी स्थिति में तुम्हारी उपेक्षा करना उचित नहीं है। फिर भी मैं क्या करूँ? यह दुष्ट दिन समाप्त नहीं हो रहा है। यहाँ प्रतीयमान अर्थ [व्यङ्ग्यार्थ] है :—मैं किसी भी प्रकार तुम्हारी उपेक्षा नहीं कर रही हूँ। मुझे यहीं सोना है। कहीं अन्यत्र जाना भी नहीं है। ऐसी दशा में जब तक रात्रि नहीं आती है तब तक हम दोनों एक दूसरे के मुखों को देखते हुए दिन को व्यतीत कर डालें। रात्रि हो जाने पर भी तुमको सास की ओर से बहुत सावधान होते हुए मेरे पास आना है। यह अवश्य समझ लेना कि सास जो गाढ निद्रा में लीन हो गई हैं, तभी मेरे समीप आना।

ध्वन्यालोकः

क्वचिद्वाच्ये विधिरूपेऽनुभयरूपो यथा—

वच्च मह व्विअ एक्केई होन्तु णीसासरोइअव्वाइं।
मा तुज्ज वि तीअ विणा दक्खिण्णहअस्स जाअन्तु॥

कहीं वाच्यार्थ विधिरूप होने पर [प्रतीयमान अर्थ व्यङ्ग्यार्थ] अनुभयरूप [विधि तथा निषेध दोनों से भिन्न] हुआ करता है। जैसे—

[आप] जाइए, मैं अकेली ही इन निश्वास और रुदन को भोगूं [यह अच्छा है।] कहीं दाक्षिण्य [मेरे प्रति भी समान अनुराग] के चक्कर में पड़कर, उस [अपनी प्रियतमा] के वियोग में तुमको भी यह सब न भोगना पड़े।

[लोचनम्]

व्रज ममैवैकस्या भवन्तु निश्वासरोदितव्यानि ।
मा तवापि तया विना दाक्षिण्यहतस्य जनिषत ॥

अत्र व्रजेति विधिः । न प्रमादादेव नायिकान्तरसंगमनं तव, अपितु गाढानुरागात्, येनान्यादृङ्मुखरागः गोत्रस्खलनादि च, केवलं पूर्वकृतानुपालनात्मना दाक्षिण्येनैकरूपत्वाभिमानेनैव त्वमत्र स्थितः, तत्सर्वथा शठोऽसीति गाढमन्युरूपोऽयं खण्डितनायिकाभिप्रायोऽत्र प्रतीयते । न चासौ व्रज्याभावरूपो निषेधः, नापि विध्यन्तरमेवान्यनिषेधाभावः ।

'तुम उसी मेरी सपत्नी [सौत] के समीप जाओ । मुझ अकेली के ही भाग्य में यह निश्वास और रुदन हों । उस [अपनी प्रियतमा] के विरह में तुमको भी क्यों दाक्षिण्य [समानुरागिता] के दण्ड के रूप में दीर्घ श्वासों के लेने तथा रोने सम्बन्धी कष्ट सहन करना पड़े ।

यहाँ पर, 'जाओ' यह विधि है । प्रमाद के कारण ही तुम्हारा दूसरी नायिका के साथ मिलन नहीं हुआ । अपितु गाढ़ अनुरागवश तुम उससे मिलते हो जिसके कारण दूसरे ही प्रकार का मुखराग तथा गोत्रस्खलन [अन्य नायिका के नाम का उच्चारण] आदि [दृष्टिगत] हो रहे हैं । केवल मेरे पालन का जो वचन तुम पहले दे चुके हो, उसी दाक्षिण्य के कारण जो एकरूपता का अभिमान तुमको है, उसी से तुम यहाँ पर स्थित हो । अतएव तुम सर्वथा शठ हो । इस प्रकार का यहाँ 'खण्डिता' नायिका का गाढ़मन्युरूप अभिप्राय प्रतीत होता है । न तो इस स्थल पर गमनाभाव रूप निषेध ही है और न तो कोई अन्य विधि [विध्यन्तर] निषेध का अभावरूप विधि ही है ।

(आशुबोधिनी)

इस तृतीय उदाहरण में वाच्यार्थ विधिपरक है और प्रतीयमान अर्थ [व्यंग्यार्थ] न विधिपरक ही है और न निषेधपरक ही ।

नायक नायिका के समीप में स्थित है । एकाएक नायक दूसरी अपनी प्रियतमा [सौत] का नाम ले बैठता है जिससे उसके मुख पर अनुराग की रेखा दृष्टिगोचर होने लगती है, साथ ही वह गहरी श्वास भी लेने लगता है । इस स्थिति को देखकर नायिका नायक से कहती है—'तुम उस ही अपनी प्रियतमा

के समीप जाओ, मुझे ही गहरी श्वासें लेना पड़े तथा रुदन करना पड़े। तुमको इस दाक्षिण्य का दण्ड भोगने की कोई आवश्यकता नहीं है।' अतएव वाच्यार्थ यह हुआ—'एकाकी मैं ही दुःखी रहूँ, तुम सुखी रहो। अतएव तुम अपनी उसी प्रियतमा के समीप जाओ'। इस स्थल पर प्रतीयमान अर्थ है—'वस्तुतः तुम्हारा वास्तविक प्रेम उस दूसरी नायिका [मेरी सौत] से ही है। मेरे प्रति तुम्हारा स्नेह वास्तविक नहीं है। तुम दाक्षिण्य के कारण ही मेरे समीप आते हो। अतएव तुम 'शठ' नायक हो'। इस भाँति यहाँ पर खण्डिता [पार्श्वमेति प्रियो यस्या अन्यसम्भोगचिह्नितः। सा खण्डितेति कथिता धीरैरीर्ष्यकिषायिता ॥ साहित्य द० ३।११७ ॥] नायिका का प्रगाढ़ मन्यु ही प्रतीयमान अर्थ [व्यंग्यार्थ] है। वह न तो गमनाभावरूप निषेध ही है और न अन्य निषेधाभावरूप विधि ही है। अतएव यहाँ प्रतीयमान अर्थ [व्यङ्ग्यार्थ] अनुभयरूप ही है।

ध्वन्यालोकः

क्वचिद्वाच्ये प्रतिषेधरूपेऽनुभयरूपो यथा—

दे आ पसिअ णिवत्तसु मुहससि जोह्लाविलुत्ततमणिवहे।
अहिसारिआणं विग्घं करोसि अण्णाणं वि हआसे॥

कहीं वाच्यार्थ प्रतिषेधरूप होने पर भी प्रतियमान अर्थ [व्यङ्ग्यार्थ] अनुभवरूप होता है। जैसे—

[मैं] प्रार्थना करता हूँ, मान जाओ, लौट आओ। क्योंकि तुम्हारे मुखरूपी चन्द्र की चन्द्रिका द्वारा अन्धकार-समूह नष्ट हो रहा है और इस प्रकार हे हताशे ! तुम अन्य अभिसारिकाओं के कार्य (अभिसार) में भी विघ्न उपस्थित कर रही हो।

[लोचनम्]

दे इति निपातः प्रार्थनायाम्। आ इति तावच्छब्दार्थे। तेनायमर्थः—
प्रार्थये तावत्प्रसीद निवर्तस्व मुखशशिज्योत्स्नाविलुप्ततमोनिवहे।
अभिसारिकाणां विघ्नं करोष्यन्यासामपि हताशे॥

अत्र व्यवसिताद्गमनान्निवर्तस्वेति प्रतीतेर्निषेधो वाच्यः। गृहागता नायिका गोत्रस्खलिताद्यपराधिनि नायके सति ततः प्रतिगन्तुं प्रवृत्ता, नायकेन चाटूप-

क्रमपूर्वकं निवर्त्यंते। न केवलं स्वात्मनो मम च निवृ॑त्तिविघ्नं करोषि, यावद-न्यासामपि; ततस्तव न कदाचन सुखलवलाभोऽपि भविष्यतीत्यत एव हताशासीति वल्लभाभिप्रायरूपश्चाटुविशेषो व्यङ्ग्यः।

यदि वा सख्योपदिश्यमानापि तदवधीरणया गच्छन्ती सख्योच्यते—न केवलमात्मनो विघ्नं करोषि, लाघवादबहुमानास्पदमात्मानं कुर्वती, अतएव हताशा, यावद्वदनचन्द्रिकाप्रकाशितमार्गतयान्यासामप्यभिसारिकाणां विघ्नं करोषीति सख्यभिप्रायरूपश्चाटुविशेषो व्यङ्ग्यः। अत्र तु व्याख्यानद्वयेऽपि व्यवसितात्प्रतीपगमनात्प्रियतमगृहगमनाय निवर्त्तस्वेति पुनरपि वाच्य एव विश्रान्तेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदस्य प्रेयोरसवदलङ्कारस्योदाहरणमिदं स्यात्, न ध्वनेः।

तेनायमत्र भावः काचिद्रभसात्प्रियतममभिसरन्ती तद्गृहाभिमुखमागच्छता तेनैव हृदयवल्लभेनैवमुपश्लोक्यतेऽप्रत्यभिज्ञानच्छलेन, अत एवात्मप्रत्यभिज्ञापनार्थमेव नर्मवचनं हताश इति। अन्यासाञ्च विघ्नं करोषि तव चेप्सितलाभो भविष्यतीति का प्रत्याशा। अत एव मदीयं वा गृहमागच्छ त्वदीयं वा गच्छावेत्युभयत्रापि तात्पर्यादनुभयरूपो वल्लभाभिप्रायश्चाट्वात्मा व्यङ्ग्य इत्यत्येव व्यतिष्ठते। अन्ये तु—'तटस्थानां सहृदयानामभिसारिकां प्रतीयमुक्तिः' इत्याहुः। तत्र हताशे इत्यामन्त्रणादि युक्तमयुक्तं वेति सहृदया एव प्रमाणम्।

'दे' यह निपात 'प्रार्थना' के अर्थ में प्रयुक्त है। 'आ' यह निपात 'तावत्' के अर्थ में प्रयुक्त है। अतएव अर्थ यह होगा—'प्रार्थना करता हूँ कि……… इत्यादि'।

यहाँ पर व्यवसित गमन से 'लौट जाओ' इस प्रतीति के कारण वाच्यार्थ निषेधपरक है। घर में नायिका के आ जाने पर नायक गोत्रस्खलन आदि अपराध कर बैठा। परिणामस्वरूप नायिका लौट जाने को तय्यार हो गई। तब नायक प्रशंसा की भाषा में चाटुकारितापूर्वक उसे रोकने का प्रयास करता है। (वह कहता है–) तुम केवल अपनी और मेरी शान्ति अथवा सुख में विघ्न नहीं डाल रही हो अपितु दूसरों की भी (शान्ति में विघ्न उपस्थित कर रही हो)। अतएव तुमको कभी भी सुखलेश की प्राप्ति नहीं होगी। अतएव हत अर्थात् नष्ट हुई आशावाली हो। इस भाँति यहाँ नायक का अभिप्रायरूप चाटु-विशेष प्रतीयमान-अर्थ अथवा व्यंग्यार्थ है।

अथवा सखी द्वारा उपदेश दिये जाने पर भी उसका अपमान कर जाती हुई नायिका के प्रति सखी कह रही है—तुम न केवल अपना ही विघ्न कर रही हो—इस भाँति की लघुता से स्वयं को बहुमानरहित बनाती हुई—अतएव हत आशा-वाली होती हुई, अपने मुखचन्द्र की चन्द्रिका से राजमार्ग को प्रकाशित करके अन्य अभिसारिकाओं के लिये भी विघ्न उपस्थित कर रही हो। यह सखी का अभिप्रायरूप चाटुविशेष व्यंग्यार्थ (प्रतीयमान-अर्थ) है।

उपर्युक्त दोनों व्याख्याओं में भी (नायिका द्वारा) व्यवसित प्रतीपगमन (अपने घर के प्रति जाना) तथा प्रियतम के गृह के गमन से 'निवृत्त हो' (लौट जाओ) यह जो वाच्यार्थ है, उसमें ही [सखीगत नायिकाविषयकभावरूप रति अथवा नायक के अभ्यन्तर विद्यमान नायिका सम्बन्धी रति के] विश्रान्त हो जाने के कारण 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' के भेद कि जिन्हें प्रेय और रसवत् अलङ्कार नाम से कहा जाता है, का ही यह उदाहरण होगा, ध्वनि का नहीं।

अतएव यहाँ पर यह भाव है—कोई नायिका शीघ्रता के साथ प्रियतम के घर की ओर अभिसरण करती हुई जा रही है, उसी समय उसके घर की ओर आता हुआ उसका प्रियतम [अप्रत्यभिज्ञात] नायिका को न पहिचानने के बहाने उसकी उक्त प्रकार से प्रशंसा करता है। इसी कारण अपने को पहिचानने की दृष्टि से 'हताशे' इस नर्मवचन का प्रयोग है। तुम दूसरी अभिसारिकाओं के गमन में विघ्न करती हो, तब क्या तुम्हारा अभिलषित लाभ हो सकेगा; इसकी क्या प्रत्याशा है। अतएव 'मेरे घर आओ' अथवा 'हम दोनों तुम्हारे घर चलें' इस प्रकार दोनों ओर ही तात्पर्य होने के कारण अनुभयरूप [विधि व निषेध दोनों से रहित] चाटुकारितारूप प्रिय का अभिप्राय ही व्यङ्ग्यार्थ रूप में अभिव्यक्त होता है। अन्य लोग तो यह कहते हैं कि यह तटस्थ सहृदयों की किसी अभि-सारिका के प्रति उक्ति है। इस उक्ति में 'हताशे' वह सम्बोधन उचित है अथवा नहीं? इसमें सहृदयजन ही प्रमाण हैं।

(आशुबोधिनी)

'दे' यह निपातसंज्ञक अव्यय है। इसका अर्थ होता है—'प्रार्थना। 'आ' यह 'तावत्' अर्थ में प्रयुक्त है। अर्थ होता है—नायक द्वारा नायिका से कहा जा रहा है कि मैं तुमसे प्रार्थना कर रहा हूँ कि तुम जाओ नहीं, क्योंकि तुम अपने

मुखचन्द्र से निकलनेवाली चन्द्रिका के प्रकाश से अन्य अभिसारिकाओं ['अभिसारिका' वह कहलाती है कि जो सायंकाल हो जाने पर रात्रि के प्रारम्भिक अन्धकार में अपने प्रिय से मिलने हेतु गमन किया करती है।] के गमनरूप कार्य में विघ्न उपस्थित करोगी तथा तुम्हारी भी आशा पूर्ण न हो सकेगी।

प्रस्तुत गाथा की व्याख्या लोचनकार ने वक्ता के भेद के आधार पर कई प्रकार से की है। ये व्याख्याएँ निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत की गई हैं—

(१) प्रथम व्याख्या के अनुसार नायिका नायक के घर पर पहुँच गई है तथा नायक के साथ प्रेमालाप आदि में व्यस्त है। इसी बीच नायक गोत्रस्खलन आदि अपराध कर बैठता है। नायिका उसके इस व्यवहार से असन्तुष्ट होकर लौट जाने के लिये उद्यत है। नायक चाटुक्रमपूर्वक उसे लौटाने के लिये प्रयास करता है। वह कहता है—तुम न केवल अपने व हमारे सुख में विघ्न उपस्थित कर रही हो अपितु अन्य अभिसारिकाओं के कार्य में भी विघ्न बनरही हो। ऐसी स्थिति में तुमको सुख की प्राप्ति किस भाँति हो सकेगी ? इस प्रकार इस स्थल पर प्रियतम द्वारा की जाने वाली चाटुकारिता व्यङ्ग्य है। 'हताशे' इस सम्बोधन के द्वारा भविष्य में पश्चात्ताप की बात कहकर नायिका को सावधान भी किया गया है।

(२) दूसरी व्याख्या के अनुसार नायिका की सखी द्वारा समझाये जाने पर भी उसकी बात को न मानकर अभिसारोद्यत नायिका के प्रति सखी का कहना है—लघुता के प्रदर्शन द्वारा तुम अपने को अनादर के योग्य बनाकर हे हताशे ! तुम न केवल अपनी मनोरथसिद्धि में ही विघ्न कर रही हो अपितु अपने मुखचन्द्र की चन्द्रिका से अन्धकार का नाश करके अन्य अभिसारिकाओं के कार्य में भी विघ्न डाल सकती हो। इस भाँति यहाँ सखी का चाटुकारितारूप अभिप्राय ही व्यङ्ग्य है।

प्रथम व्याख्या में यह दोष आता है कि नायिका को रोकना ही यहाँ वाच्यार्थ है। नायक का चाटुरूप अभिप्राय, जिसे व्यङ्ग्यार्थ कहा गया है, वह वाच्यार्थ का अङ्ग बन गई है। अतएव प्रस्तुत उदाहरण गुणीभूतव्यङ्ग्य का हो जाता है, न कि ध्वनि का। यदि नायक के प्रेम को व्यङ्ग्यमान लिया जाय तो भी वह रोकनारूप वाच्यार्थ का ही अङ्ग बनकर 'रसवत्' नामक अलङ्कार हो जायगा [जहाँ 'रस' अन्य का अङ्ग बन जाय वहाँ 'रसवत्' अलङ्कार होता है।]

दूसरी व्याख्या में भी उपर्युक्त दोष ही है। इसका अन्त भी 'लौट आओ' के वाच्यार्थ के साथ होकर इसे गुणीभूत व्यङ्ग्य बना देता है। साथ ही सखी का नायिका के प्रति अनुराग भी भावव्यंजना के अन्तर्गत आ जाता है तथा वह भी वाच्यार्थ का अङ्ग बनकर 'प्रेय' नामक अलङ्कार बन जाता है। ऐसी दशा में यह ध्वनि का उदाहरण नहीं बनता। अतएव इसकी तीसरी व्याख्या यह की गई है—

(३) अतिशीघ्रता के साथ नायक के घर की ओर अभिसरण करती हुई नायिका के प्रति, मार्ग में अचानक ही मिले हुए तथा नायिका के घर की ओर गमन करते हुए नायक का यह कथन है। यहाँ 'निवर्त्तस्व' [लौट चलो] यह वाच्यार्थ है। किन्तु यह लौट चलना नायक अथवा किसी के घर की ओर भी हो सकता है। अतएव 'तुम मेरे घर चलो' अथवा 'हम दोनों तुम्हारे घर ही चलें' यह तात्पर्य व्यङ्ग्यार्थ हो सकता है। यह व्यङ्ग्यार्थ न विधिरूप ही है और न निषेधरूप ही। अतएव यहाँ वाच्यार्थ प्रतिषेधरूप होने पर भी व्यङ्ग्यार्थ अनुभयरूप ही हुआ तथा वह वाच्यार्थ से भिन्न भी रहा।

(४) चतुर्थ व्याख्या के अनुसार प्रस्तुत उदाहरण में तटस्थ सहृदयों की किसी अभिसारिका के प्रति यह उक्ति है। किन्तु इस अर्थ में 'हताशे' इस सम्बोधन का औचित्य क्या होगा? इसका निर्णय तो सहृदयजन स्वयं ही कर सकते हैं। [उपर्युक्त चारों उदाहरणों में संबोध्यव्यक्ति के प्रति वाच्यार्थ और प्रतीयमान अर्थ [व्यङ्ग्यार्थ] का स्वरूपभेद ही प्रदर्शित किया गया है। अर्थात् चारों उदाहरणों में धार्मिक, पान्थ, प्रियतम तथा अभिसारिका ही क्रमशः वाच्य और व्यङ्ग्य दोनों के विषय रहे हैं। इस भाँति विषय की एकता होने पर भी वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ का स्वरूपभेद की दृष्टि से भेद दिखलाया गया है। आगे आने वाले उदाहरणों में यह दिखलाया जायगा कि विषयभेद से भी वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में भेद हो सकता है। विषय भेद से अभिप्राय यह है कि सभी श्रोताओं के प्रति वाच्यार्थ तो एक ही होगा किन्तु व्यङ्ग्यार्थ श्रोताओं की योग्यता के आधार पर बदलता रहेगा।

क्वचिद् वाच्याद्विभिन्नविषयत्वेन व्यवस्थापितो यथा—

कस्स वा ण होइ रोसो दट्ठूण पिआएँ सव्वणं अहरम्।
सभमरपाउमग्घाइणि वारिअवामे सहसु एह्लिम्॥

कहीं वाच्य से विभिन्न विषयरूप में व्यवस्थापित व्यङ्ग्य, जैसे—

अथवा प्रिया के व्रणयुक्त अधर को देखकर किसको क्रोध नहीं होता। मना करने पर भी न मानकर भौंरे से युक्त कमल को सूंघने वाली ! अब तू उसका फल भोग।

[लोचनम्]

एवं वाच्यव्यङ्ग्ययोर्धार्मिकपान्थप्रियतमाभिसारिकाविषयैक्येऽपि स्वरूपभेदाद्भेद इति प्रतिपादितम्। अधुना तु विषयभेदादपि व्यङ्गस्य वाच्याद्भेद इत्याह—क्वचिद्वाच्यादिति। व्यवस्थापित इति। विषयभेदोऽपि विचित्ररूपो व्यवतिष्ठमानः सहृदयैर्व्यवस्थापयितुं शक्यत इत्यर्थः।

कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम्।
सभ्रमरपद्माघ्राणशीले वारितवामे सहस्वेदानीम्॥

कस्य वेति। अनीर्ष्यालोरपि भवति रोषो दृष्ट्वैव अकृत्वापि कुतश्चिदेवापूर्वतया प्रियायाः सव्रणमधरमवलोक्य। सभ्रमरपद्माघ्राणशीले शीलं हि कथंचिदपि वारयितुं न शक्यम्। वारिते वारणायां, वामे तदनङ्गीकारिणि। सहस्वेदानीमुपालम्भपरम्परामित्यर्थः। अत्रायं भावः—काचिदविनीता कुतश्चित्खण्डिताधरा निश्चिततत्सविधसंनिधाने तद्भर्तरि तमनवलोकमानयेव कयाचिद्विदग्धसख्या तद्वाच्यतापरिहारायैवमुच्यते सहस्वेदानीमिति वाच्यमविनयवतीविषयम्। भर्तृविषयं तु—अपराधो नास्तीत्यावेद्यमानं व्यङ्ग्यम्। सहस्वेत्यपि च तद्विषयं व्यङ्ग्यम्। तस्यां च प्रियतमेन गाढमुपालभ्यमानायां तद्व्यलीकशङ्कितप्रातिवेशिकलोकविषयं चाविनयप्रच्छादनेन प्रत्यायनं व्यङ्ग्यम्। तत्सपत्न्यां च तदुपालम्भतदविनयप्रहृष्टायां सौभाग्यातिशयख्यापनं प्रियाया इति शब्दबलादिति सपत्नीविषयं व्यङ्ग्यम्। सपत्नीमध्ये।

इस भाँति उपर्युक्त [चारों] उदाहरणों में धार्मिक, पान्थ, प्रियतम और अभिसारिका के वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की विषयसम्बन्धी एकता होने पर भी स्वरूप के भेद से भेद है, यह प्रतिपादन किया गया। विषय के भेद से भी व्यंग्यार्थ का भेद हुआ करता है, अब यह बतला रहे हैं। कहीं पर·········व्यवस्थापित—। विचित्ररूप से रहनेवाला विषय का भेद भी सहृदयों के द्वारा व्यवस्थापित किया जा सकता है।

अथवा प्रिया के व्रण से युक्त……

ईर्ष्या से रहित व्यक्ति को भी देखकर ही क्रोध होता है। स्वयं न करके, कहीं से [किसी विशिष्ट कारण द्वारा देखे गये] प्रियतमा के व्रणयुक्त अधर को देखकर पहले कभी न देखी गई विशेषता के होने से क्रोध हो ही जाया करता है। भ्रमरसहित कमल को सूंघने के स्वभाववाली—। शील [स्वभाव] किसी प्रकार हटाया नहीं जा सकता है। वारित में, निवारण में वामा [उलटी] अर्थाए उस निवारण को स्वीकार न करने वाली। अब सहन करो [दुष्परिणाम को भोग] अर्थात् उलाहनों की परम्परा को सहन कर [अपने किये का फल भोग]। यहाँ अभिप्राय यह है कि कोई चतुर सखी किसी अविनीता नायिका से, जो कहीं से [जार आदि के द्वारा] अपना अधर खण्डित करा चुकी है, उसके पति को निश्चितरूप से समीपस्थ जानकर, उसे [अपने पति को] न देखती हुई-सी, पति के द्वारा उलाहना मिलने के परिहार के निमित्त [जिससे कि उसका पति खण्डित अधर देखकर उसे न डांटे] कहती है। 'सहन करो' [फल भोगो], यह वाच्यार्थ अविनीता नायिका के प्रति है। पति के प्रति तो 'इसका अपराध नहीं है,' इस भाँति निवेदन किया जाने वाला निरपराधत्व व्यङ्ग्यार्थ होता है। प्रियतम द्वारा अधिक उलाहना प्राप्त उस नायिका के होने पर पति का अप्रिय करने के कारण शंकित इधर-उधर [आस पास] के लोगों के प्रति नायिका के अविनय के प्रच्छादन के द्वारा नायिका के अपराधरहित होने सम्बन्धी ज्ञान का होना ही व्यंग्य है। उसकी सपत्नी [सौत] के प्रति, जो उसे उलाहना मिलने के कारण तथा उसके अविनय से प्रसन्न है, 'प्रियायाः' इस शब्द के बल पर नायिका के अत्यधिक सौभाग्य का ख्यापन व्यङ्ग्य है। 'सपत्नियों के मध्य इस प्रकार [अविनय के स्पष्ट प्रकट करने से] मैं गौरवरहित कर दी गई हूँ' इस प्रकार का क्षुद्रभाव अपने में रखना उचित नहीं है, अपितु यह बहुमान—गौरव की बात है। 'सहस्व' अर्थात् 'इस समय शोभित होओ' इस भाँति सखी के प्रति सौभाग्य का प्रख्यापन 'व्यङ्ग्य' है। 'आज तो इस छिपे हुये रूप में तुमसे प्रेम करने वाली तुम्हारी हृदयवल्लभा को इस भाँति बचा लिया गया है, पुनः इस भाँति स्पष्टरूप से दन्तक्षत न करना' इस प्रकार उस नायिका के चौर्य-कामुक के प्रति सम्बोधन किया जाना व्यङ्ग्य है। उदासीन, विदग्ध

लोगों के प्रति अपना यह वैदग्ध्य का ख्यापन कि 'मैंने इस भाँति इसे छिपा लिया' व्यङ्ग्य है। वह यह 'व्यवस्थापित' शब्द के द्वारा कहा गया है।

(आशुबोधिनी)

उपर्युक्त चारों उदाहरणों में एक ही विषय अर्थात् सम्बोधन किये जाने योग्य व्यक्ति के प्रति 'वाच्यार्थं और व्यङ्ग्यार्थ [प्रतीयमान-अर्थ] का स्वरूपभेद प्रदर्शित किया गया है। इन चारों में धार्मिक, पान्थ, प्रियतम तथा अभिसारिका ही विषय हैं। इन सभी उदाहरणों में चारों व्यक्ति ही क्रमशः पृथक्-पृथक् अर्थात् एक-एक ही व्यक्ति अभिधावृत्ति द्वारा वाच्यार्थ को और व्यंजनावृत्ति द्वारा यङ्ग्यार्थ को समझता है। अतएव इन सभी उदाहरणों में वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ का स्वरूपभेद स्पष्ट किया गया है। अब आगे यह दिखलाया जा रहा है कि विषय-भेद की दृष्टि से भी वाच्य और व्यङ्ग्य का भेद हुआ करता है। अभिप्राय यह है कि सभी श्रोताओं के प्रति वाच्यार्थ तो एक ही होगा किन्तु व्यङ्ग्यार्थ श्रोताओं की अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार बदलता जायेगा। इसी कारण मूल में लिखा गया है कि वाच्यार्थ से ही भिन्न-भिन्न विषयों के रूप में व्यवस्था की जासकती है। तात्पर्य यह है कि भिन्न-भिन्न प्रकार के अर्थ स्वयं ही व्यवस्थित होने की योग्यता रखा करते हैं। इसी कारण सहृदयजन उन्हें व्यवस्थापित कर सकने में समर्थं हुआ करते हैं। जैसे—

कोई नायिका अपने प्रियतम के अतिरिक्त किसी अन्य प्रेमी के साथ रमण करके वापिस आयी है। उसके प्रेमी ने उसके अधर को खण्डित कर दिया है। अतएव उसका अपराध प्रकट हो जाना स्वाभाविक ही है। उसका पति आ गया है, उस अधरक्षत को देखकर वह कुपित होता है। उस समय नायिका की सखी ने उसे निरपराध सिद्ध करने की दृष्टि से प्रस्तुत वचन कहे हैं जिसका व्यङ्ग्यार्थ उसके पति सुनने वाले पड़ोसियों, उसकी सौत, स्वयं नायिका, चौर्यकामुक व्यक्ति एवं तटस्थ विदग्ध जन के प्रति भिन्न-भिन्न रूपों में प्रतीत होता है। इन सभी को सुनाकर सखी कहती है—'कोई भी व्यक्ति कितना ही ईर्ष्यारहित क्यों न हो किन्तु यदि उसके द्वारा स्वयं अपनी प्रिया का अधर व्रणयुक्त नहीं किया गया हो तथा ऐसा व्रणयुक्त अपनी प्रिया का अधर उसे दिखलायी पड़ जाय तो उसे क्रोध होना स्वाभाविक ही है। तुम्हारा यह तो स्वभाव ही बन गया है कि तुम भ्रमर-

युक्त फूल को सूँघा करती हो, दुर्भाग्य से आज भ्रमर ने तुम्हारे अधर को काट लिया। तुम मना करने पर भी नहीं मानती हो, अब सहन करो।' 'सभ्रमरपद्माघ्राणशीले' में 'शील' का अर्थ है 'स्वभाव'। ऐसा स्वभाव कि जिसे टाला न जा सके। 'वारितवामे' का अर्थ है कि तुम तो मना करने पर भी नहीं मानती। इस उदाहरण में पुंश्चली नायिका अकेली ही वाच्यार्थ का विषय है तथा इसका व्यङ्ग्यार्थ भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के प्रति भिन्न-भिन्न प्रकार का है। (१) उसकी सखी नायक से यह कह रही है कि इसका अधर भ्रमर के काटने से व्रणयुक्त हुआ है। अतः तुमको अन्यथा सन्देह कर नायिका पर क्रोध नहीं करना चाहिए। (२) पड़ोसियों के प्रति सखी के उक्त कथन का यह व्यङ्ग्यार्थ होगा कि यदि इसका पति उसे उलाहना भी दे तो भी आप लोगों को इसका अविनय नहीं समझना चाहिये। भ्रमर द्वारा काटने को देखकर पति को क्रोध आ गया हैं। (३) पति द्वारा दिये गये उपालम्भ तथा नायिका के अपराध को देखकर जब सौतें प्रसन्न हो रही हैं तब उनके प्रति सखी के कथन का व्यङ्ग्यार्थ होगा—वस्तुतः नायिका नायक की ही प्रियतमा है। अधरक्षत को देखकर क्रोध का आ जाना स्वाभाविक ही है किन्तु तथ्य के ज्ञात हो जाने पर नायक का क्रोध स्वयं शान्त हो जायेगा। नायक के क्षणिक क्रोध को देखकर तुमको प्रसन्न नहीं होना चाहिए। 'प्रियायाः' पद ही उक्त व्यङ्ग्यार्थ का द्योतक है। (४) नायिका के प्रति सखी के कथन का व्यङ्ग्यार्थ है :—तुम यह न समझना कि सपत्नियों के मध्य तुम इस भाँति अपमानित कर दी गई हो अपितु 'सहस्व' अर्थात् अब उनके मध्य शोभा को प्राप्त करो। [प्राकृत भाषा में 'सहसु' का द्वितीय रूप 'शोभस्व' भी हो सकता है।] (५) चौर्यकामुक के प्रति व्यङ्ग्यार्थ होगा :—आज तो मैंने किसी प्रकार तेरी प्रच्छन्नानुरागिणी प्रियतमा को पति के क्रोध का पात्र नहीं बनने दिया। अब भविष्य में इस प्रकार से अधरक्षत मत करना। (६) समीपस्थ सहृदयजनों के प्रति सखी के कथन का व्यङ्ग्यार्थ यह होगा कि मैंने सफेद झूठ बोलकर किस भाँति वास्तविकता को छिपा दिया।

ध्वन्यालोकः

अन्ये चैवं प्रकाराः वाच्याद्विभेदिनः प्रतीयमानभेदाः सम्भवन्ति। तेषां दिङ्मात्रमेतत् प्रदर्शितम्। द्वितीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद्विभिन्नः सप्रपञ्च-

मग्रे दर्शयिष्यते।

तृतीयस्तु रसादिलक्षणः प्रभेदो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तः प्रकाशते, न तु साक्षाच्छब्दव्यापारविषय इति वाच्याद् विभिन्न एव। तथा हि वाच्यत्वं तस्य स्वशब्दनिवेदितत्वेन वा स्यात्, विभावादिप्रतिपादनमुखेन वा। पूर्वस्मिन् पक्षे स्वशब्दनिवेदितत्वाभावे रसादीनामप्रतीतिप्रसङ्गः। न च सर्वत्र तेषां स्वशब्दनिवेदितत्वम्। यत्राप्यस्ति तत् तत्रापि विशिष्टविभावादिप्रतिपादनमुखेनैवेषां प्रतीतिः। स्वशब्देन सा केवलमनूद्यते, न तु तत्कृता। विषयान्तरे तथा तस्या अदर्शनात्। न हि केवलं शृङ्गारादिशब्दमात्रभाजि विभावादि प्रतिपादनरहिते काव्ये मनागपि रसवत्त्वप्रतीतिरस्ति। यतश्च स्वाभिधानमन्तरेण केवलेभ्योऽपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीतिः। केवलाच्च स्वाभिधानादप्रतीतिः। तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यामभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तत्वमेव रसादीनाम्। न त्वभिधेयत्वं कथञ्चित्। इति तृतीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद् भिन्न एवेति स्थितम्। वाच्येन त्वस्य सहेव प्रतीतिरग्रे दर्शयिष्यते।

इस प्रकार वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीयमान [वस्तुध्वनि] के अन्य भी भेद हो सकते हैं। यहाँ पर तो उनका केवल दिग्दर्शनमात्र कराया है। दूसरा [अलंकारध्वनिरूप] भेद भी वाच्यार्थ से भिन्न होता है। इसका [विवेचन] आगे [द्वितीय उद्योग में] विस्तार के साथ दिखलायेंगे।

तीसरा [रसध्वनि] रस इत्यादि नाम वाला भेद तो वाच्य की सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर ही प्रकाशित होता है। वह साक्षात् शब्दव्यापार [अभिधा, लक्षणा, तात्पर्या नामक व्यापारों] का विषय नहीं होता। अतएव [रसादि ध्वनि भी] वाच्यार्थ से भिन्न [ही] होती है। क्योंकि [यदि उसको वाच्य माना जाय तो] उसकी वाच्यता [दो ही प्रकार से सम्भव है] या तो स्वशब्द [अर्थात् 'रस' आदि शब्द अथवा शृङ्गार आदि नामों] द्वारा निवेदित किये गये हों अथवा विभाव आदि के प्रतिपादन के द्वारा। [इन दोनों में से] प्रथम पक्ष में [जहाँ रसशब्द अथवा शृङ्गारादि शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है किन्तु 'विभाव' आदि का प्रतिपादन किया गया है वहाँ] स्वशब्द से निवेदित न होने पर रस आदि की प्रतीति हो ही

नहीं सकेगी। [अर्थात् रस आदि की अनुभूति नहीं हो सकेगी।] और सभी स्थलों पर स्वशब्द [रस आदि अथवा शृङ्गार आदि शब्दों] द्वारा उन [रस आदि] का प्रतिपादन भी नहीं किया जाता है। जहाँ कहीं भी रस आदि अथवा शृङ्गार आदि संज्ञा पदों का प्रयोग किया भी जाता है वहाँ भी विशेष विभाव आदि के प्रतिपादन द्वारा ही उन [रसादि] की प्रतीति हुआ करती है। रसादिरूप संज्ञा शब्दों द्वारा तो वह केवल अनूदित होती है। उनसे उत्पन्न नहीं हुआ करती है। क्योंकि अन्य स्थलों पर उस प्रकार से [विभाव आदि के अभाव में केवल संज्ञा शब्दों के प्रयोग द्वारा] वह [रस आदि की अनुभूति] दृष्टिगोचर नहीं हुआ करती है। विभाव आदि के प्रतिपादन से रहित केवल [रस अथवा शृङ्गार आदि शब्द के प्रयोग से युक्त काव्य में थोड़ी सी भी रसवत्ता प्रतीत नहीं हुआ करती है। चूंकि [रस आदि] संज्ञा शब्दों के विना केवल विशिष्ट विभाव आदि के द्वारा ही रस आदि की प्रतीति हुआ करती है तथा [विभाव आदि के बिना] मात्र रस इत्यादि संज्ञाशब्दों के द्वारा प्रतीति नहीं हुआ करती है, अतएव उक्त अन्वयव्यतिरेक के द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि रस इत्यादि सर्वदा वाच्य की सामर्थ्य से आक्षिप्त हुआ करते हैं, [रस इत्यादि] किसी भी दशा में वाच्य नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार [यह स्पष्ट हो गया] कि तृतीय [रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रशम, भावोदय, भावसन्धि, भाव-शबलता आदि रूप] भेद भी वाच्य से भिन्न ही है, यह निश्चित है। [वाच्य के साथ न होते हुए भी रस इत्यादि की प्रतीति] वाच्य के साथ होती हुई-सी [असंलक्ष्यक्रम] इसकी प्रतीति क्यों जान पड़ती है? यह आगे दिखलाया जायेगा।

[लोचनम्]

अग्र इति द्वितीयोद्योते असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः क्रमेणोद्योतितः परः' इति विवक्षितान्यपरवाच्यस्य द्वितीयप्रभेदवर्णनावसरे। यथा हि विधिनिषेधतदनु-भयात्मना रूपेण संकलय्य वस्तुध्वनिः संक्षेपेण सुवचः, तथा नालङ्कारध्वनिः, अलङ्काराणां भूयस्त्वात्। तत एवोक्तम्—सप्रपञ्चमिति।

तृतीयस्त्विति। तु शब्दो व्यतिरेके। वस्त्वलंकारावपि शब्दाभिधेयत्व-मध्यासाते तावत्। रसभावतदाभासतत्प्रशमाः पुनर्न कदाचिदभिधीयन्ते, अथ

चास्वाद्यमानताप्राणतया भान्ति । तत्र ध्वननव्यापारादृते नास्तिकल्पनान्तरम् । स्खलद्गतित्वाभावे मुख्यार्थबाधादेर्लक्षणानिबन्धनस्यानाशङ्कनीयत्वात् । औचित्येन प्रवृत्तौ चित्तवृत्तेरास्वाद्यत्वे स्थायिन्या रसो, व्यभिचारिण्या भावः, अनौचित्येन तदाभासः, रावणस्येव सीतायां रतेः । यद्यपि तत्र हास्यरसरूपतैव 'शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यः' इति वचनात् । तथापि पाश्चात्येयं सामाजिकानां स्थितिः, तन्मयीभवनदशायां तु रतेरेवास्वाद्यतेति शृङ्गारतैव भाति पौर्वापर्यविवेकावधारणेन 'दूराकर्षणमोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि याते श्रुतिम्' इत्यादौ । तदसौ शृङ्गाराभास एव । तदङ्गं भावाभासश्चित्तवृत्तेः प्रशम एव प्रक्रान्ताया हृदयमाह्लादयति यतो विशेषेण, ततएव तत्संगृहीतोऽपि पृथग्गणितोऽसौ । यथा—

एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्यतो-
रन्योन्यस्य हृदि स्थितेऽप्यनुनये संरक्षतोर्गौरवम् ।
दंपत्योः शनकैरपाङ्गवलनामिश्रीभवच्चक्षुषो-
र्भग्नो मानकलिः सहासरभसव्यावृत्तकण्ठग्रहम् ॥

इत्यत्रेर्ष्यारोषात्मनो मानस्य प्रशमः । न चायं रसादिरर्थः 'पुत्रस्ते जातः' इत्यतो यथा हर्षो जायते तथा । नापि लक्षणया । अपितु सहृदयस्य हृदयसंवादबलाद्विभावानुभावप्रतीतौ तन्मयीभावेनास्वाद्यमान एव रस्यमानतैकप्राणः सिद्धस्वभावसुखादिविलक्षणः परिस्फुरति । तदाह—प्रकाशत इति । तेन तत्र शब्दस्य ध्वननमेव व्यापारोऽर्थसहकृतस्येति । विभावाद्यर्थोऽपि न पुत्रजन्महर्षन्यायेन तां चित्तवृत्तिं जनयतीति जननातिरिक्तोऽर्थस्यापि व्यापारो ध्वननमेवोच्यते । स्वशब्देति । शृङ्गारादिना शब्देनाभिधाव्यापारवशादेव निवेदितत्वेन । विभावादीति । तात्पर्यशक्त्येत्यर्थः ।

आगे—अर्थात् द्वितीय उद्योत में 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः क्रमेणोद्योतितः परः' इस प्रकार 'विवक्षितान्यपरवाच्य' नामक दूसरे प्रभेद के वर्णन के अवसर पर जिस प्रकार विधि, निषेध तथा विधिनिषेधानुभयरूप प्रकार के द्वारा सङ्कलित करके 'वस्तुध्वनि' का संक्षेप में विवेचन किया जा सकता है उस प्रकार का विवेचन अलङ्कारध्वनि का नहीं हो सकता क्योंकि अलङ्कारों की संख्या बहुत अधिक है । उसी कारण कहा—विस्तार के साथ [आगे चलकर दिखलायेंगे ।]

तीसरा प्रभेद तो—'तु' [तो] शब्दव्यतिरेक के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

[तात्पर्य यह है कि–] वस्तु तथा अलङ्कार शब्द के द्वारा अभिधेय होते भी हैं किन्तु रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रशम कभी भी शब्द के द्वारा अभिहित नहीं हो सकते हैं। और केवल प्राणरूप में विद्यमान जो उनकी आस्वाद्यमानता है उसी के कारण वे प्रकाशित होते हैं। उसमें ध्वनन व्यापार को छोड़कर कोई दूसरी कल्पना नहीं है। शब्द की गति के स्खलित न होने के कारण मुख्यार्थबाध आदि लक्षणासम्बन्धी निबंधन की आशङ्का भी नहीं की जा सकती। औचित्य के साथ प्रवृत्ति के होने पर जब चित्तवृत्ति का आस्वाद हुआ करता है तब स्थायिनी चित्रवृत्ति से 'रस' होता है, व्यभिचारिणी के आस्वादनयोग्य होने पर 'भाव' एवं [स्थायिनी चित्तवृत्ति से] अनौचित्य के साथ प्रवृत्त होने पर रसाभास और भावाभास होते हैं। जैसे—रावण की सीताविषयक रति से [आस्वादनयोग्य होकर रसाभास हुआ है]। यद्यपि वहाँ हास्यरसविषयक रूपता ही है क्योंकि 'शृङ्गार से हास्य होता है,' ऐसा वचन है। तथापि यह सामाजिकों की बाद में होने वाली स्थिति है, तन्मय होने की स्थिति में तो रति की ही आस्वादनीयता होती है। इस भाँति 'दूर ही से आकर्षण करने वाले मोहमन्त्र के समान उस [सीता] के नाम के कर्णगोचर होने पर' इत्यादि में पौर्वापर्य [क्रम] के विवेक के अभाव के कारण शृङ्गारता ही भासित होती है। अतएव यह शृङ्गाराभास ही है। उस [शृङ्गार आदि रसाभास] का अङ्ग भावाभास है। चित्तवृत्ति जब प्रशम की दशा में प्रक्रान्त हुआ करती है तभी वह विशेषरूप से हृदय को आह्लादित करती है, अतएव भाव शब्द से संग्रहीत होने पर भी यह भावप्रशम पृथक् रूप से गिना गया है। जैसे—

एक ही शय्या पर एक दूसरे से मुख फेर लेने के कारण निद्रा के समाप्त हो जाने के पश्चात् सन्तप्त होते हुये, परस्पर एक दूसरे के हृदय में अनुनय के विद्यमान रहते हुए भी गौरव की रक्षा करते हुये पति और पत्नी के नेत्र जब धीरे से अपाङ्ग की ओर झुकने के कारण मिल गये, तभी उनका प्रणय–रोष भग्न हो गया और वे हँसकर शीघ्रता के साथ एक दूसरे का कण्ठग्रह करने लगे।

यहाँ पर ईर्ष्या-रोषरूप मान का प्रशम हो गया है। यह 'रस' इत्यादि अर्थ 'तुम्हारे पुत्र उत्पन्न हुआ है' इस वाक्य के श्रवण से जैसे हर्ष होता है, वैसा नहीं है। और न लक्षणा द्वारा ही [वह प्रकाशित होता है।] अपितु सहृदयों के

हृदय के संवाद के बलपर विभाव, अनुभाव की प्रतीति में तन्मयीभाव के प्रकार से आस्वादित होता हुआ, सर्वथा रस्यमानरूप, सिद्धस्वभाव वाला एवं सुखादिकों से विलक्षण [वह रसादि] परिस्फुरित होता है। यही कहा है—'प्रकाशित होता है।' इससे वहाँ अर्थसहकृत शब्द का ध्वनन ही व्यापार है। पुत्रजन्म से उत्पन्न हर्ष के सदृश विभाव आदि अर्थ भी उस चित्तवृत्ति को उत्पन्न करता है। इस प्रकार 'जनत' से अतिरिक्त अर्थ का भी व्यापार 'ध्वनन' ही कहा जाता है। अपना शब्द, शृङ्गार आदि शब्द द्वारा अभिधा व्यापार के वश निवेदित होने के कारण। विभाव आदि–। अर्थात् तात्पर्य-शक्ति के द्वारा।

(आशुबोधिनी)

प्रतीयमान अर्थ अथवा व्यङ्ग्यार्थ तीन प्रकार का हुआ करता है— (१) वस्तु, (२) अलङ्कार, (३) रस। वस्तुध्वनि अथवा वस्तुव्यङ्ग्य से भिन्न हुआ करता है, इसका विवेचन किया जा चुका है। विधि तथा निषेध दोनों ही दृष्टियों से वस्तुध्वनि का संक्षेप में कथन किया जा सकता था, अतः वह कर दिया गया 'अलङ्कारध्वनि' का वर्णन द्वितीय उद्योत की 'असंलक्ष्यक्रमोद्योतः' (२।४) इत्यादि कारिका की व्याख्या के अवसर पर विस्तार के साथ किया जायेगा क्योंकि अलङ्कारों की संख्या बहुत है। अतएव यहाँ पर उसका विवेचन किया जाना संभव नहीं है। तृतीय भेद है—'रसध्वनि' अथवा 'रसव्यंजना'। वस्तु, अलङ्कार की अपेक्षा रसव्यंजना में एक वैशिष्ट्य है। वह यह कि वस्तु और अलङ्कारध्वनियों अथवा व्यंजनाओं में कभी-कभी अभिधेय अथवा वाच्य होने की योग्यता हुआ करती है किन्तु रस कभी भी वाच्य नहीं हो सकता है, वह सदैव व्यङ्ग्य ही हुआ करता है। 'आस्वादनयोग्य होना ही 'रस' इत्यादि का प्राण है। यदि कहीं आस्वादनीयता नहीं होगी तो उसे 'रस' नाम से कहा भी न जा सकेगा। ध्वनिसिद्धान्त को स्वीकार किये बिना, 'आस्वादनीयता' की सम्यक् व्याख्या किया जाना संभव नहीं है। 'अभिधा' व्यापार से तो यहाँ काम चल ही नहीं सकता है क्योंकि 'बड़ा आनन्द आ रहा है' इसका कथन करने अथवा श्रवण करने से किसी को आनन्द की अनुभूति नहीं हो सकती है। यहाँ वाच्यार्थ का बाध न होने से लक्षणाव्यापार से भी काम न चल सकेगा।

रसध्वनि के अन्तर्गत रसध्वनि, भावध्वनि, भावाभासध्वनि, भावोदय,

भावसन्धि, भावसन्धि तथा भावशबलता ये सभी आ जाते हैं। औचित्य के साथ प्रवृत्ति के होने पर जब चित्तवृत्ति का आस्वाद हुआ करता है तब स्थायिनी चित्तवृत्ति द्वारा 'रस' की अनुभूति हुआ करती है। चित्तवृत्ति के व्यभिचारिणी हो जाने पर भावध्वनि तथा जब वही चित्तवृत्तियाँ औचित्यपूर्वक प्रवृत्त हुआ करती हैं तब क्रमशः रसाभाव और भावाभास ध्वनियाँ हुआ करती हैं। जैसे—'रावण की सीता के प्रति रति रसाभास कहा जायेगा। किन्तु इस भाँति की रसाभास सम्बन्धी 'रति' हास्य ही कहा जायेगा क्योंकि कहा भी गया है कि 'शृङ्गार से हास्य की उत्पत्ति होती है।' दर्शकों अथवा पाठकों को 'रसाभास' का ज्ञान तो बाद में हुआ करता है। रस की उस दशा में, कि जिसमें पाठक अथवा दर्शक तन्मय हो जाया करता है, उस [रस] के आस्वादन में 'रति' ही कारण हुआ करती है। जब रावण के मुख से निकले हुए ये शब्द श्रोता अथवा पाठक के कर्णगोचर होते हैं कि—'सीता का नाम मानों आकर्षण का मोहनमन्त्र है।' इत्यादि वचनों का श्रवण करने से चित्त की वृत्ति का 'रति' आदि भावों के साथ ऐसी तन्मयता हो जाया करती है कि उसे विभाव [नायक, नायिका] का तनिक भी ध्यान नहीं रहा करता है। इसी कारण औचित्य तथा अनौचित्य का निर्णय करना भी संभव नहीं हो पाता है। उक्त स्थिति में श्रोता अथवा दर्शक का विभाव, अनुभाव आदि सम्बन्धी विचार पूर्णरूपेण समाप्त हो जाया करता है, मात्र 'रसास्वादन' ही अवशिष्ट रह जाया करता है। किन्तु जब बाद में विभाव इत्यादि के बारे में सोचा जाता है तब यह ज्ञात होने पर कि यह 'रति' तो सीता के प्रति रावण की है, शृङ्गार के प्रति हास्य का उदय होता है। हास्य सम्बन्धी यह आस्वादन ही शृङ्गाराभास के नाम से कहा जाता है। उस [शृंगार आदि रसाभास का] अङ्ग भावाभास है। चित्त की वृत्ति जब प्रशम की अवस्था में प्रक्रान्त हो जाया करती है तब भाव नहीं, भावप्रशम ही हृदय को आह्लादित करने में समर्थ हुआ करता है। इसी कारण 'भाव' शब्द द्वारा संग्रहीत होने पर भी 'भावप्रशम' की गणना पृथक् की गई है। जैसे—

'पति एवं पत्नी दोनों एक ही चारपाई पर लेटे हुए हैं। दोनों एक दूसरे से मान किये हुए हैं। अतएव दोनों ने एक दूसरे की ओर से करवट बदल रखी है। दोनों के मन सन्तापयुक्त हैं। दोनों के हृदयों में एक-दूसरे से अनुनय करने की

इच्छा भी विद्यमान है किन्तु दोनों अपने-अपने गौरव की रक्षा करने में संलग्न हैं। किन्तु अचानक ही दोनों के नेत्र धीरे से अपाङ्ग की ओर झुक जाने के कारण मिल जाते हैं। परिणामस्वरूप दोनों का प्रणयरोष समाप्त हो जाता है तथा वे हंसते हुए शीघ्रता के साथ एक दूसरे का आलिङ्गन करने लगते हैं।'

इस उदाहरण में ईर्ष्या—रोषरूप मान का प्रशम है। किन्तु यहाँ पर ईर्ष्या तथा रोष आस्वादन में कारण नहीं है, उनका प्रशम ही कारण है।

'रस' के आस्वादन से उत्पन्न होने वाले 'आनन्द' का ग्रहण, अभिधावृत्ति द्वारा संभव नहीं है। यह आनन्द इस प्रकार का नहीं हुआ करता है कि जिस प्रकार का 'तुम्हारे पुत्र उत्पन्न हुआ है' यह कहने से श्रोता को आनन्द की अनुभूति हुआ करती है। रस के आस्वादन का आनन्द तो इससे विलक्षण प्रकार का हुआ करता है क्योंकि इस आनन्द में तो मानव स्वयं को भी भूल जाया करता है।

मुख्यार्थ-बाध आदि के न होने के कारण लक्षणावृत्ति द्वारा भी इसका बोध होना संभव नहीं है। अपितु जिस समय हम किसी श्रव्य अथवा दृश्य काव्य में पाठक अथवा दर्शक के रूप में किसी आलम्बन के प्रति उद्भूत होने वाले किसी भावविशेष का परिशीलन किया करते हैं तथा प्रकृतिवर्णन और आलम्बनगत चेष्टाओं को उद्दीपन-विभाव के रूप में और तत्पश्चात् होने वाली चेष्टाओं की अनुभाव के रूप में प्रतीति किया करते हैं तब उस समय आलम्बनगत भाव का हमारे हृदय के साथ सामञ्जस्य स्थापित हो जाया करता है और तब उस भाव के साथ तन्मयता स्थापित हो जाती है। ऐसी स्थिति में हमें भी उस भाव में आनन्द की अनुभूति होने लगा करती है। यही आनन्द 'रस' कहलाता है। यह सर्वथा रस्यमानरूप, सिद्ध स्वभाव वाला हुआ करता है। साथ ही लौकिक सुखादिकों की अपेक्षा विलक्षण हुआ करता है। कहने का अभिप्राय यह है कि सांसारिक सुख आदि तो साध्य की श्रेणी में आते हैं, और यह 'रस' स्वयंसिद्ध होता है। इसकी उत्पत्ति नहीं हुआ करती है, यह तो स्वयं प्रकाशित हुआ करता है। अतएव यह एक आत्मिक आनन्दानुभूति है। इसी दृष्टि से मूल में कहा गया है 'प्रकाशते'।

उपरिवर्णित रीति से 'रस' नामक यह तृतीय ध्वनि वाच्यार्थ के सामर्थ्य से

ही आक्षिप्त होकर स्वयं प्रकाशित हुआ करती है। अतएव यह निष्कर्ष निकला कि रस आदि की अनुभूति में अर्थसहकृत शब्द का ध्वनन-व्यापार ही हुआ करता है। पुत्रजन्म के समाचार से उत्पन्न हुई आनन्ददायक चित्तवृत्ति के सदृश विभाव आदि वाच्यार्थ रसादिरूप चित्तवृत्ति को उत्पन्न नहीं किया करते हैं। अतएव रसानुभूति में 'जनन' से व्यतिरिक्त अर्थ का भी व्यापार 'ध्वनन' ही हुआ करता है। रस की अनुभूति के दो ही प्रकार हो सकते हैं-(१) या तो रस, शृंगार आदि शब्दों के प्रयोग द्वारा अथवा (२) विभाव इत्यादि के प्रतिपादन द्वारा तात्पर्य नामक शक्ति द्वारा। यदि रस को शब्दवाच्य माना जायगा तो रस इत्यादि शब्द और रसानुभूति में अन्वयव्यतिरेक स्वीकार करना होगा। अन्वय-व्यतिरेक का लक्षण—'तत्सत्त्वे तत्सत्ता अन्वयः', 'तदभावे तदभावो व्यतिरेकः' अर्थात् जिसके रहने पर जो रहे उसे अन्वय, जिसके अभाव में जो न रहे, उसे व्यतिरेक कहा जाता है। 'जहाँ रसानुभूति होती है वहाँ शृङ्गार इत्यादि शब्द अवश्य रहा करते हैं' यह अन्वय है। 'जहाँ शृङ्गार इत्यादि शब्दों का अभाव होता है वहाँ रसानुभूति भी नहीं हुआ करती है' यह व्यतिरेक है। किन्तु ऐसा होता ही नहीं है क्योंकि शृङ्गार आदि शब्दों के रहने पर भी रस आदि की प्रतीति ही होती है तथा उसके अभाव में भी रस आदि की प्रतीति हो जाया करती है। अतएव लोचनकार का कहना है कि रस स्वशब्दवाच्य नहीं हुआ करता है। जहाँ ध्वनन व्यापार होता है वहीं रसादि की प्रतीति हुआ करती है।

[लोचनम्]

तत्र स्वशब्दस्यान्वयव्यतिरेकौ रस्यमानतासारं रसं प्रति निराकुर्वंध्वननस्यैव ताविति दर्शयति—न च सर्वत्रेति। यथा भट्टेन्दुराजस्य—

यद्विश्रम्य विलोकितेषु बहुशो निःस्थेमनी लोचने
यद् गात्राणि दरिद्रति प्रतिदिनं लूनाब्जिनीनालवत्।
दूर्वाकाण्डविडम्बकश्च निबिडो यत्पाण्डिमा गण्डयोः
कृष्णे यूनि सयौवनासु वनितास्वेषैव वेषस्थितिः॥

इत्यत्रानुभावविभावावबोधनोत्तरमेव तन्मयीभवनयुक्त्या तद्विभावानुभावोचितचित्तवृत्तिवासनानुरञ्जितस्वसंविदानन्दचर्वणगोचरोऽर्थो रसात्मा स्फुरत्येवाभिलाषचिन्तौत्सुक्यनिद्राधृतिग्लान्यालस्यश्रमस्मृतिवितर्कादिशब्दाभावेऽपि।

एवं व्यतिरेकाभावं प्रदर्श्यान्वयाभावं दर्शयति—यत्रापीति। तदिति। स्वशब्दनिवेदितत्वम्। प्रतिपादनमुखेनेति। शब्दप्रयुक्तया विभावादिप्रतिपत्त्येत्यर्थः।

वहाँ स्वशब्द [शृङ्गारादि शब्द] के अन्वयव्यतिरेक का रस्यमानतासार 'रस' के प्रति निराकरण करते हुए ध्वनन के ही वे दोनों [अन्वय व्यतिरेक] होते हैं, यह दिखलाते हैं—सर्वत्र वे शब्द द्वारा निवेदित नहीं होते हैं। जैसे भट्ट इन्दुराज का—

'युवावस्था को प्राप्त कृष्ण के प्रति युवतिओं की वेषरचना ऐसी है कि रुक-रुककर [उनके द्वारा] किये गये दृष्टिपातों में अनेकबार [उनकी] आँखें स्थैर्यरहित अर्थात् अस्थिरता को प्राप्त हो गई हैं, कटे हुए कमलिनी के नाल के सदृश उनके शारीरिक अङ्ग प्रतिदिन सूखते चले जा रहे हैं, उनके गालों पर दूर्वाकाण्ड का अनुकरण करने वाला पीलापन व्याप्त है।'

यहाँ विभाव अनुभाव के बोधन के पश्चात् ही तन्मयीभाव की युक्ति द्वारा उस विभाव-अनुभाव के अनुरूप वासनारूप चित्त की वृत्ति से अनुरञ्जित अपनी संवेदना से युक्त आनन्द की चर्वणा का विषयभूत रसरूप अर्थ अभिलाष, चिन्ता, उत्सुकता, निद्रा, धृति, ग्लानि, आलस्य, श्रम, स्मृति, वितर्क आदि किसी शब्द के प्रयोग के अभाव में भी स्फुरित होती ही है। इस भाँति व्यतिरेक का अभाव दिखलाकर अन्वय का अभाव दिखलाते हैं···जहाँ भी। वह····। अर्थात् स्वशब्द द्वारा निवेदितत्व। प्रतिपादन के द्वारा···। अर्थात् शब्द द्वारा प्रयुक्त विभाव इत्यादि की प्रतिपत्ति के द्वारा।

(आशुबोधिनी)

जैसे भट्ट इन्दुराज का उदाहरण देखिये :—

'कृष्ण की युवावस्था प्रारम्भ हो रही है। उधर युवतियाँ भी यौवन के मद में भरी हुई है। अतः वे कृष्ण को रुक-रुककर देखती हैं जिससे उनके नेत्र अस्थिरता को प्राप्त हो रहे हैं। जिस भाँति कटी हुई कमलिनी का नालदण्ड क्रमशः सूखता जाता है वैसे ही इन युवतियों के अङ्ग भी सूखते चले जा रहे हैं। उनके गालों पर कृशता के कारण उत्पन्न हुई पीलिमा विद्यमान है कि जो शुष्कता को प्राप्त हुई घास की पीलिमाको भी तिरस्कृत कर रही है।'

इस उदाहरण में कृष्ण आलम्बन [विभाव] हैं तथा युवतियाँ आश्रय हैं। अस्थिर नेत्रों से रुक-रुककर बार-बार देखना इत्यादि 'अनुभाव' हैं। कृष्ण की युवावस्था का आकर्षण ही उद्दीपन विभाव है। इन विभाव और अनुभावों का ज्ञान हो जाने के अनन्तर चित्त की वृत्ति में एक प्रकार की तन्मयता आ जाती है। पुनः सम्बन्धित विभाव-अनुभाव के अनुरूप जिस प्रकार की भावना से चित्त की वृत्ति अनुरञ्जित हो जाया करती है उसी के अनुरूप रस की अनुभूति होने लगा करती है। उक्त उदाहरण में अभिलाष, चिन्ता, उत्सुकता आदि शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया है किन्तु फिर भी रस की अनुभूति होती ही है।

उपर्युक्त उदाहरण द्वारा यह स्पष्ट हो गया कि व्यतिरेकव्याप्ति ['जहाँ शृङ्गार आदि शब्दों का प्रयोग नहीं होता है वहाँ पर रसानुभूति नहीं होती है'] सदोष है क्योंकि इस उदाहरण में शृङ्गार आदि शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ है फिर भी रसानुभूति हो रही है।

इस भाँति व्यतिरेक का अभाव प्रदर्शित कर अब अन्वयव्याप्ति का भी अभाव दिखलाते हैं :—

[लोचनम्]

सा केवलमिति। तथाहि—

याते द्वारवतीं तदा मधुरिपौ तद्दत्तझम्पानतां
कालिन्दीतटरूढवञ्जुललतामालिङ्ग्य सोत्कण्ठया।
तद्गीतं गुरुबाष्पगद्गगलत्तारस्वरं राधया
येनान्तर्जलचारिभिर्जलचरैरप्युत्कमुत्कूजितम् ॥

इत्यत्र विभावानुभावावम्लानतया प्रतीयेते। उत्कण्ठा च चर्वणागोचरं प्रतिपद्यत एव। सोत्कण्ठाशब्दः केवलं सिद्धं साधयति, उत्कमित्यनेन तूक्तानुभावानुकर्षणं कर्तुं सोत्कण्ठाशब्दः प्रयुक्तः इत्यनुवादोऽपि नानर्थकः पुनरनुभाव-प्रतिपादने हि पुनरुक्तिरतन्मयीभावो न तु तत्कृतेत्यत्र हेतुमाह—विषयान्तरं इति। 'यद्विश्रम्य' इत्यादौ। न हि यदभावेऽपि तत्कृतं तदिति भावः। अदर्शन-मेव द्रढयति—न हीति। केवलशब्दार्थं स्फुटयति--विभावादीति। काव्य इति। तव मते काव्यरूपतया प्रसज्यमान इत्यर्थः। मनागपीति।

वह केवल··· । जैसा कि···

'कृष्ण के द्वारिका चले जाने पर यमुना के किनारे उगी हुई और उनके विरहकाल में उनके द्वारा खींचे जाने के कारण झुकी हुई वञ्जुल [वेतस] लता का आलिंगन कर उत्कण्ठायुक्त राधा ने अधिक बाष्प-प्रवाह के कारण गद्‌गद कण्ठ से तारस्वर में ऐसा गाना गाया कि जिसके परिणामस्वरूप जल के भीतर निवास करनेवाले प्राणी भी उत्कण्ठित होकर शब्द करने लगे।'

इस स्थल पर विभाव-अनुभाव अम्लानरूप में प्रतीत हो रहे हैं और उत्कण्ठा चर्वणागोचरता को प्राप्त हो रही है। 'सोत्कण्ठा' शब्द मात्र सिद्ध का ही साधन कर रहा है। 'उत्क' शब्द द्वारा उक्त अनुभावों का आकर्षण करने हेतु 'सोत्कण्ठा' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसलिए अनुवाद भी निरर्थक नहीं है क्योंकि पुनः अनुभाव के प्रतिपादन के होने पर पुनरुक्ति अथवा अतन्मयीभाव होगा। [वृत्तिग्रन्थ में] 'न तु तत्कृता'—'उसके द्वारा नहीं की गई है' ऐसा कहा है, उसका कारण बतलाते हैं—विषयान्तर में–इत्यादि। यद्विश्रम्य [रुक-रुककर] इत्यादि स्थलों पर। जिसके अभाव में जो हो जाया करता है वह उसके द्वारा किया गया नहीं कहा जा सकता है। [विषयान्तर में होने वाले] न देखे जाने पर ही जोर देते हैं—'न हि' इत्यादि। केवल शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हैं—विभावादि—। काव्य में—। अर्थात् तुम्हारे मत में काव्य के रूप में प्रसज्यमान। थोड़ा भी–।

(आशुबोधिनी)

जैसे—'कृष्ण के द्वारिका चले जाने के पश्चात् यमुना तट पर उगी हुई तथा कृष्ण के विरह-समय में पहले कृष्ण द्वारा खींची गई होने के कारण झुकी हुई वञ्जुल [वेतस] लता का आलिङ्गन कर उत्कण्ठायुक्त राधा द्वारा अधिक अश्रुधारा के प्रवाह के कारण गद्‌गद कण्ठ से तारस्वर में ऐसा गाना गाया गया कि [जिसके परिणामस्वरूप] जल में निवास करने वाले प्राणी भी उत्कण्ठित होकर शब्द करने लगे।'

उक्त पद्य में कृष्ण आलम्बन [विभाव] हैं, राधा आश्रय हैं। यमुनातट, कृष्ण द्वारा खींची गई, अतएव झुकी हुई वेतस लता, अश्रुधारा का प्रवाह इत्यादि अनुभाव हैं। इन विभाव और अनुभावों की प्रतीति में किसी प्रकार की कमी नहीं है।

इनके द्वारा 'रति' भाव का ज्ञान स्पष्ट हो रहा है। यहाँ 'उत्कण्ठा' नामक संचारीभाव है जिसकी प्रतीति अनुभावों के द्वारा ही हो जाती है। अतएव यहाँ सोत्कण्ठा रूप विशेषण अनुभावों द्वारा प्रतीत होने वाली उत्कण्ठा का अनुवादक ही है, वह केवल सिद्ध का साधन करता है। इस स्थल पर पद अनुवाद निरर्थक नहीं कहा जा सकता है क्योंकि अनुभावों का प्रयोग उत्कण्ठा का आस्वादन कराने हेतु किया गया है तथा 'सोत्कण्ठ' और 'उत्क' इन दोनों के प्रयोग से राधा की उत्कण्ठा के साथ जल में विद्यमान प्राणियों की उत्कण्ठा की संगति स्पष्ट होती है। यदि इन दोनों शब्दों का प्रयोग अनुभावों का अनुवाद करने हेतु न किया गया हो तो जलजीवों के लिये पृथक् से अनुभावों को लिखना होता। ऐसा करने से दो दोष आ सकते थे—(१) प्रथम तो पुनरुक्तिदोष और (२) दूसरे तन्मयता का उद्रेक होना भी संभव न होता। अतएव इन शब्दों को अनुवादक मानना ही उचित है।

ऐसी स्थिति में स्वशब्द [रस आदि शब्दों का] प्रयोग रसानुभूति का परिचायक नहीं हुआ करता है, यह सिद्ध होता है। अतएव प्रस्तुत उदाहरण में अन्वयव्याप्ति [जहाँ रसादि शब्दों का प्रयोग होता है वहाँ रसानुभूति होती है] का भी अभाव ही परिलक्षित होता है।

[लोचनम्]

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ।:

इत्यत्र। एवं स्वशब्देनसह रसादेर्व्यतिरेकान्वयाभावमुपपत्त्या प्रदर्श्य तथैवोपसंहरति—यतश्चेत्यादिना कथञ्चिदित्यन्तेन। अभिधेयमेव सामर्थ्यं सहकारिशक्तिरूपं विभावादिकं रसध्वनने शब्दस्य कर्तव्ये अभिधेयस्य च पुत्रजन्महर्षभिन्नयोगक्षेमतया जननव्यतिरिक्ते दिवाभोजनाभावविशिष्टपीनत्वानुमितरात्रिभोजनविलक्षणतया चानुमानव्यतिरिक्ते ध्वनने कर्तव्ये सामर्थ्यशक्तिः विशिष्टसमुचितो वाचकसाकल्यमिति द्वयोरपि शब्दार्थयोर्ध्वननं व्यापारः। एवं द्वौ पक्षावुपक्रम्याद्यो दूषितः, ध्वननाभिप्रायेणाङ्गीकृतः।

यस्त्वत्रापि तात्पर्यशक्तिमेव ध्वननं मन्यते; स न वस्तुतत्त्ववेदी। विभावानुभावप्रतिपादके हि वाक्ये तात्पर्यशक्तिर्भेदेसंसर्गे वा पर्यवस्येत्; न तु रस्यमानता-

सारे रसे इत्यलं बहुना। इतिशब्दो हेत्वर्थे। 'इत्यपि हेतोस्तृतीयोऽपि प्रकारो वाच्याद्भिन्न एवेति सम्बन्धः। सहेवेति। इवशब्देन विद्यमानोऽपि क्रमो न संलक्ष्यत इति तद्दर्शयति—अग्र इति। द्वितीयोद्योते ॥ ४ ॥

शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत नामक ये आठ रस नाट्य में स्वीकार किये गये हैं।

यहाँ। इस भाँति स्वशब्द के साथ रसादि का व्यतिरेकाभाव और अन्वयाभाव उपपत्तिपूर्वक दिखलाकर उसी प्रकार उपसंहार करते हैं। 'यतश्च' से लेकर 'कथञ्चित्' यहाँ तक। ['अभिधेयसामर्थ्याक्षिप्त' के कर्मधारय और तत्पुरुष के आधार पर दो प्रकार के अर्थ निकलते हैं। कर्मधारय के द्वारा 'शब्द' आता है तत्पुरुष के द्वारा 'अर्थ']। जब शब्द का रसध्वनन व्यापार करणीय होगा तब अभिधेय [वाच्य अर्थ] ही सामर्थ्य सहकारीशक्तिरूप विभाव आदि होगा। और जब अभिधेय का ध्वननरूप कार्य होगा तब पुत्रजन्म के समाचार से उत्पन्न हर्ष से भिन्न होने के कारण जो ध्वनन होगा वह उत्पति से व्यतिरिक्त [भिन्न] होगा। तथा दिन के समय भोजन न करने के वैशिष्ट्य से युक्त पीनत्व के द्वारा अनुमित रात्रि-भोजन से विलक्षण होने के कारण अनुमान से भी ध्वनन व्यापार पृथक् होगा, फिर सामर्थ्य अर्थात् शक्तिविशिष्ट एवं समुचित अर्थात् वाचक से परिपूर्णंत्वरूपसिद्धि होती है। अतएव शब्द और अर्थ—दोनों का व्यापार 'ध्वनन' होता है। इस भाँति दो पक्षों का उपक्रम करके प्रथम पक्ष को दूषित कर दिया और द्वितीय पक्ष को किसी अंश में दूषित कर दिया तथा किसी अंश में स्वीकार कर लिया। जनन [उत्पन्न होना] और अनुमान के व्यापार के अभिप्राय से दूषित कर दिया तथा ध्वनन के अभिप्राय से स्वीकार कर लिया।

जो यहाँ पर भी 'तात्पर्यशक्ति' को 'ध्वनन' मानता है वह वस्तुतत्व [यथार्थ] को जानने वाला नहीं है क्योंकि विभावानुभाव के प्रतिपादन करने वाले वाक्य में तात्पर्यशक्ति या तो भेद में अथवा संसर्ग में पर्यवसित होगी, आस्वादन ही जिसका सार [तत्व] है ऐसे रस में पर्यवसित नहीं होगी। इस पर अब अधिक कहना व्यर्थ है। 'इति' यह शब्द हेतु अर्थ में प्रयुक्त है। सम्बन्ध इस प्रकार का है—इस हेतु से भी तीसरा प्रकार भी 'वाच्य' से भिन्न ही होता है। 'सह एव इति'—में 'इव' शब्द से यह दिखलाते हैं कि विद्यमान भी क्रम लक्षित नहीं होता है। अग्रे [आगे] अर्थात् द्वितीय उद्योत में ॥ ४ ॥

(आशुबोधिनी)

जब कृष्ण द्वारिका चले गये तब यमुना के किनारे उगी हुई, तथा पहले कृष्ण द्वारा खींचे जाने के कारण झुकी हुई वेतसलता का, कृष्ण के वियोग-काल में राधा द्वारा आलिङ्गन किया गया। उत्कण्ठा से परिपूर्ण राधा के अश्रु बहने लगे। उस समय गद्‌गद कण्ठ से युक्त राधा ने तारस्वर में ऐसा गाना गाया कि जल के अभ्यन्तर निवास करने वाले प्राणियों ने भी उत्सुकता के साथ शब्द करना प्रारम्भ कर दिया।'

इस प्रकार शृङ्गार, हास्य, करुण आदि स्वशब्दों के साथ रस आदि का व्यतिरेकभाव तथा अन्वयाभाव सोदाहरण उपपत्ति के साथ दिखलाया गया। अब उसीका उपसंहार [ध्वन्यालोक के मूल भाग में—] 'यतश्च' से लेकर 'कथंचित्' तक दिखला रहे हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि 'शृङ्गार' इत्यादि शब्दों का प्रयोग होने पर भी रस की प्रतीति नहीं हुआ करती है। जैसे उपर्युक्त कारिका [शृङ्गारहास्यकरुण······इत्यादि] में भरतमुनि द्वारा सभी रसों के नाम गिनाये हैं किन्तु इनसे रसानुभूति नाममात्र को भी नहीं होती है। यह हुआ अन्वय का अभाव। इसी प्रकार 'जहाँ रस इत्यादि शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ करता है वहाँ रसास्वादन भी नहीं हुआ करता है। यह हुआ व्यतिरेक। किन्तु इसके भी विपरीत ही देखने को मिलता है [उपर्युक्त यद्विश्रम्य··· इत्यादि उदाहरण में] अर्थात् जहाँ रस इत्यादि शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ है वहाँ भी रसास्वादन बराबर हो रहा है। अतएव रसास्वादन में 'रस' इत्यादि शब्दों का प्रयोग कारण नहीं हो सकता है।

जहाँ कहीं विभाव, अनुभाव आदि के द्वारा आक्षेप होता है वहीं रसास्वादन हुआ करता है। किन्तु जहाँ विभाव आदि के द्वारा आक्षेप नहीं हुआ करता है वहाँ रसास्वादन भी नहीं हुआ करता है। ये दोनों ही बातें सही हैं। अतएव रस को वाच्य न कहकर 'स्वाभिधेय सामर्थ्याक्षिप्त' ही कहा गया है।

रस आदि को जो अभिधेय [वाच्यार्थ] को सामर्थ्य द्वारा आक्षिप्त कहा है वह सर्वथा ध्वनन नामक व्यापार द्वारा संभव है। शब्द के द्वारा जब ध्वनन होता है तब अभिधेय अथवा वाच्यार्थ ही विभाव आदि रूप से सहकारी शक्तिरूप सामर्थ्य बनता है। किन्तु इसके द्वारा होने वाला ध्वनन पुत्रजन्म के समाचार

से उत्पन्न हुए आनन्द के समान उत्पन्न नहीं हुआ करता है और न उसे दिन में भोजन न करने पर भी स्वस्थ बने रहने में रात्रि में भोजन करने सम्बन्धी अनुमान के सदृश अनुमानरूप में ही कहा जा सकता है। वस्तुतः 'ध्वनन' तो 'शब्द' तथा 'अर्थ' दोनों का ही व्यापार है।

इस भाँति दोनों पक्षों को दिखला कर प्रथम पक्ष [स्वशब्दनिवेदितत्व सम्बन्धी] का खण्डन कर दिया गया है। और द्वितीय पक्ष को जनन [उत्पन्न होना] और अनुमान के व्यापार के अभिप्राय से दूषित कर दिया तथा ध्वनन की दृष्टि से स्वीकार भो किया है, क्योंकि 'ध्वनन' इन दोनों से भिन्न व्यापार है।

यहाँ यह शंका उत्पन्न होती है कि जब आप रस आदि को वाच्य-सामर्थ्य से आक्षिप्त स्वीकार कर रहें हैं तब यही क्यों नहीं मानलेते हैं कि 'ध्वनन' तात्पर्य शक्ति ही है। ऐसा मान लेने पर चतुर्थ कक्ष्या में रहने वाले एक अन्य व्यापार की कल्पना भी नहीं करनी होगी क्योंकि अभिधेय अथवा वाच्यार्थ के अविनाभाव की सहायता से अर्थ का ज्ञान करानेवाली शक्ति का नाम ही 'तात्पर्य-शक्ति' है।

आचार्य द्वारा इसका समाधान निम्नलिखित रूप में किया गया है कि विभाव, अनुभाव इत्यादि का प्रतिपादन करनेवाले वाक्य में तात्पर्यशक्ति का पर्यवसान या भेद में हो जाता है अथवा संसर्ग में। अर्थात् कर्मान्तर और क्रियान्तर के भेदरूप वाक्यार्थ में पर्यवसित होती है अथवा परस्पर पदार्थों के संसर्ग में पर्यवसित हुआ करती है। वस्तुतः रस तो सर्वथा आस्वाद्यमान ही होता है। अतएव उसका रस में पर्यवसान होना संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में निष्कर्ष यह निकलता है कि रस आदि तृतीय प्रकार वाच्य से पूर्णतया भिन्न ही है।

वाच्यार्थ एवं रस आदि रूप व्यङ्ग्यार्थ—दोनों की प्रतीति इतनी शीघ्रता में हुआ करती है कि जिसके कारण दोनों का क्रम परिलक्षित नहीं हो पाता है। इसी दृष्टि से रस आदि को असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' कहा गया है। वृत्तिकार द्वारा भी यही कहा गया कि वाच्यादि के साथ रस आदि की प्रतीति [वाच्येन त्वस्य सहैव प्रतीतिः] 'साथ की ही तरह' होती है। द्वितीय उद्योत में इस विषय का वर्णन विस्तार के साथ किया जायगा ॥ ४ ॥

'अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्याख्या नामक वृत्तियों द्वारा इस तृतीय प्रतीयमान अर्थ [व्यङ्ग्यार्थ] का बोध होना सम्भव नहीं।'

इस प्रतीयमान-अर्थ [व्यङ्ग्यार्थ] की प्रतीति अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्याख्या नामक प्रसिद्ध वृत्तियों के द्वारा नहीं हुआ करती है। उसकी प्रतीति तो केवल 'व्यञ्जना' नामक वृत्ति [अथवा शक्ति] द्वारा ही हुआ करती है। इस [व्यञ्जना] के अतिरिक्त प्रतीयमान अर्थ के बोध को कराने वाला अन्य कोई प्रकार नहीं है।

(१) अभिधा वृत्ति द्वारा प्रतीयमान अर्थ [व्यङ्ग्यार्थ] का बोध होना संभव नहीं—शब्द से अर्थ का बोध कराने वाली प्रथम शक्ति अथवा वृत्ति का नाम है—'अभिधावृत्ति। इस शक्ति के द्वारा ही यदि प्रतीयमान अर्थ का बोध स्वीकार कर लिया जाय तो इसके दो ही पक्ष होना सम्भव है—(१) वाच्यार्थ के साथ ही साथ व्यङ्ग्यार्थ का भी बोध अभिधा-वृत्ति द्वारा ही मान लिया जाय अथवा (२) पहले वाच्यार्थ का बोध हो और तत्पश्चात् व्यङ्ग्यार्थ का बोध अभिधावृत्ति द्वारा ही मान लिया जाय। प्रथम पक्ष के अनुसार वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ दोनों का बोध एक साथ होना सम्भव नहीं है क्योंकि ऊपर दिये गये उदाहरणों में विधि-निषेध आदि रूपों में वाच्य और प्रतीयमान अर्थों का भेद दिखलाया जा चुका है। अतएव दो परस्पर विरोधी अर्थों का बोध एकसाथ एक ही वृत्ति द्वारा होना सम्भव ही नहीं है।

द्वितीय पक्ष भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता है। जैसा कि कहा भी गया है—

'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः।'

तथा—'विशेष्यं नाभिधागच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे'

इन सिद्धान्तों के अनुसार अभिधा-वृत्ति एक ही बार व्यापार कर सकती है। और वह व्यापार वाच्यार्थ की प्रतीति में ही किया जा चुका है। अतएव वाच्यार्थ की प्रतीति में अभिधाशक्ति का क्षय हो जाने के कारण पुनः उसी शक्ति द्वारा प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति होना सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त एक अन्य बात यह भी है कि अभिधाशक्ति सङ्केतित अर्थ का ही बोध कराने में समर्थ हुआ करती है। प्रतीयमान अर्थ तो संकेतित अर्थ है नहीं। अतएव उसका बोध अभिधा वृत्ति द्वारा होना सम्भव नहीं है।

(२) तात्पर्याशक्ति द्वारा भी प्रतीयमान-अर्थ का बोध होना सम्भव नहीं—अभिधाशक्ति द्वारा पदों के अर्थों की उपस्थिति के अनन्तर उन पदों के अर्थों के

पारस्परिक सम्बन्ध [अन्वय] की प्रतीति हेतु 'अभिहितान्वयवादी' लोगों द्वारा एक तात्पर्या नाम की शक्ति को स्वीकार किया जाता है। इस शक्ति द्वारा पदार्थों के संसर्गरूप वाक्यार्थ का ज्ञान प्राप्त हुआ करता है। तात्पर्या शक्ति का लक्षण है—'सः [तत्] वाच्यार्थः परः' प्रधानतया प्रतिपाद्यः येषां तानि तत्पराणि पदानि, तेषां भावः तात्पर्यम्, तद्रूपा शक्तिः तात्पर्या शक्तिः।' अभिहितान्वय-वादियों द्वारा स्वीकृत इस तात्पर्या शक्ति का प्रतिपाद्य विषय तो मात्र पदार्थ-संसर्गरूप वाक्यार्थ ही है। अतएव इसमें अतिविशिष्ट प्रतीयमान-अर्थ [व्यङ्ग्यार्थ] को ज्ञापन करने सम्बन्धी सामर्थ्य का अभाव है। 'अन्विताभिधानवाद' का यह सिद्धान्त मीमांसक कुमारिलभट्ट का है।

(३) 'अन्विताभिधानवाद' की दृष्टि से भी प्रतीयमान अर्थ का बोध न होना—उपर्युक्त सिद्धान्त का विरोधी 'प्रभाकर' का 'अन्विताभिधानवाद' नामक सिद्धान्त है। उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार सर्वप्रथम पदों से अनन्वित पदार्थों की ही उपस्थिति होती है। बाद मे 'तात्पर्या' नामक वृत्ति के द्वारा उनका पारस्परिक सम्बन्ध होने के कारण वाक्यार्थ का ज्ञान हुआ करता है। किन्तु 'अन्विताभिधान-वाद' नामक सिद्धान्त में पदों से अन्वित पदार्थों की ही उपस्थिति हुआ करती है। अतएव पदार्थों के अन्वय के लिये 'तात्पर्या' नामक वृत्ति को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं हुआ करती है। इस अन्विताभिधानवाद का प्रतिपादन इस दृष्टि से किया गया है कि पदों द्वारा जो अर्थ की प्रतीति हुआ करती है वह संकेतग्रह अथवा शक्तिग्रह होने पर ही हुआ करती है। संकेतग्रह के अनेक साधन हुआ करते हैं ['शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च। वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यत; सिद्धपदस्य वृद्धाः॥']। इन सभी में प्रधानता 'व्यवहार' की है। इस व्यवहार द्वारा जो संकेत-ग्रह होगा वह केवल पदार्थ में न होकर अन्वित-पदार्थ में ही होगा क्योंकि व्यवहार अन्वित-पदार्थ का ही सम्भव है। इसी दृष्टि से प्रभाकर अन्वित अर्थ में ही शक्ति को स्वीकार करते हैं।

इस सिद्धान्त के अनुसार विशेष में पर्यवसित सामान्य-विशेषरूप पदार्थ संकेत का विषय है किन्तु प्रतीयमान-अर्थ [व्यङ्ग्यार्थ] तो उसके भी पश्चात् प्रतीत होने के कारण 'अतिविशेष' है। इस अतिविशिष्ट प्रतीयमान-अर्थ का ग्रहण अभिधाशक्ति द्वारा किया जाना सम्भव नहीं है।

उपर्युक्त दोनों ही वादों में क्रमशः 'अन्वित-अर्थ' तथा 'पदार्थान्वित अर्थ' ही वाच्यार्थ है। किन्तु वाक्यार्थ तो अन्वितविशेषरूप है। अतएव दोनों ही वादों में वाक्यार्थ अवाच्य ही है। फिर जब वाक्यार्थ ही अवाच्य है तो फिर ऐसी स्थिति में 'प्रतीयमान-अर्थ' को वाच्य की कोटि में रखने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है।

(४) नैमित्तिकवादी मीमांसकों की दृष्टि से भी प्रतीयमान-अर्थ का बोध न होना--कुछ अन्य मीमांसकों का मत है कि प्रतीयमान-अर्थ [व्यङ्ग्यार्थ] की प्रतीति नैमित्तिक है अर्थात् यह प्रतीति किसी निमित्त द्वारा ही हुआ करती है। इस प्रतीति का निमित्त 'शब्द' के अतिरिक्त अन्य कुछ बन ही नहीं सकता है। अतएव शब्द ही को उसका निमित्त मानना चाहिये। शब्द के श्रवण के पश्चात् ही उस अर्थ की प्रतीति हुआ करती है। शब्द की यह निमित्तता किसी वृत्ति द्वारा ही होना सम्भव है और वह वृत्ति 'अभिधा' ही हो सकती है। अतएव प्रतीयमान-अर्थ की प्रतीति अभिधा द्वारा ही की जा सकती है। जैसा कि कहा भी गया है—'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते' अर्थात् नैमित्तिक [कार्य = प्रतीयमान-अर्थ] के अनुसार निमित्त [कारण-शब्द] की कल्पना की जाती है।

यह मत भी युक्ति-संगत नहीं है। निमित्त दो प्रकार का हुआ करता है—(१) कारक, (२) ज्ञापक। चूँकि शब्द अर्थ का प्रकाशक है अतः वह कारक नहीं हो सकता। अर्थ का ज्ञापक भी वह तभी हुआ करता है कि जब वहाँ साक्षात् संकेतग्रह हुआ करता है। प्रतीयमान अर्थ में शब्द संकेतित नहीं हुआ करता है। अतएव उस (शब्द) से प्रतीयमान-अर्थ की प्रतीति अभिधा-वृत्ति द्वारा नहीं की जा सकती है।

(५) भट्ट लोल्लट के मतानुसार भी अभिधा द्वारा प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति नहीं होगी—भट्ट लोल्लट आदि में 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' तथा 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः' सम्बन्धी युक्तियों के आधार पर प्रतीयमान-अर्थ को अभिधा द्वारा ही सिद्ध करने का प्रयास किया है। इनके कथन का अभिप्राय यह है कि जिस भाँति बलवान् सैनिक द्वारा छोड़ा हुआ एक ही बाण एक ही व्यापार द्वारा शत्रु के वर्म अर्थात् कवच का छेदन, मर्मभेदन तथा प्राणहरण ये तीनों ही कार्य किया करता है उसी भाँति सुकवि द्वारा

प्रयुक्त एक ही शब्द का एक अभिधाव्यापार ही पदार्थोपस्थिति, अन्वयबोध तथा प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति—ये तीनों कार्य कर सकता है। इस दृष्टि से प्रतीयमान अर्थ भी वाच्यार्थ ही हुआ। इस अभिधेय अथवा वाच्यार्थ की प्रतीति अभिधा द्वारा ही होगी क्योंकि वही कवि का तात्पर्य विषयीभूत अर्थ है—'यत्परः शब्दः सः शब्दार्थः'।

अपने मत को सिद्ध करने की दृष्टि से इन्होंने दो प्रकार की युक्तियाँ दी हैं—(१) 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः', (२) 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः'। इन दोनों प्रकार की युक्तियों को वे सही रूप में प्रयुक्त नहीं कर सके हैं। प्रथम युक्ति का अर्थ है जिस तात्पर्य से शब्द का प्रयोग किया जाता है वही उस शब्द का अर्थ हुआ करता है। वस्तुतः उक्त वाक्य यज्ञ-सम्बन्धी प्रसङ्गों में प्रयुक्त हुआ है। इस वाक्य का भाव यह है कि जब एक वाक्य में कुछ सिद्ध (भूत, कारक) तथा कुछ साध्य (भव्य, क्रिया) पदों का उच्चारण हुआ करता है तो उनमें कारक पदार्थ क्रिया पदार्थ के साथ अन्वित होकर साध्य क्रिया को सिद्ध किया करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि उन वाक्यों में साध्य क्रिया पदार्थ ही विधेय हुआ करता है, सिद्ध कारक पदार्थ तो पहले से ही सिद्ध हो चुका होता है। अभिप्राय यह है कि किसी भी वाक्य के उच्चारण में जो वस्तु साध्य है अथवा अप्राप्त है उसीको सिद्ध करने अथवा अथवा प्राप्त करने के तात्पर्य से वह वाक्य प्रयुक्त हुआ करता है। जैसे 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इस वाक्य का तात्पर्य है 'होम का विधान करना।' यदि होमसम्बन्धिनी क्रिया किसी दूसरे प्रमाण से प्राप्त है अथवा सिद्ध है तो उसके लिये यह वाक्य नहीं होगा, जैसे—'दध्ना जुहोति' वाक्य में होमसम्बन्धिनी क्रिया के किसी अन्य प्रमाण से प्राप्त होने के कारण यहाँ 'दधि' का मात्र करणत्व ही विवक्षित है। 'सोमेन यजेत्' वाक्य में सोम का करणत्व तथा होमसम्बन्धिनी क्रिया दोनों ही के अप्राप्त होने के कारण दोनों ही विवक्षित हैं। इसी दृष्टि से कहा भी गया है—'भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते'। जहाँ पर भूत [सिद्ध] और भव्य [साध्य] दोनों का उच्चारण विहित होता है वहाँ पर भूत पदार्थ भव्य क्रिया का अङ्ग बन जाया करता है। इस भाँति प्रथम युक्ति का तात्पर्य यह है कि वाक्य में जिस क्रिया के साधन हेतु शब्द का प्रयोग हुआ करता है उसी को

सम्पन्न करने हेतु शब्द का अर्थ लेना चाहिये। भट्ट लोल्लट आदि मीमांसक इस पंक्ति का अर्थ सहीरूप में नहीं समझ सके तथा इसका आश्रय लेकर व्यञ्जना-वृत्ति का विरोध करने लगे, जो कि उचित नहीं था। अतएव प्रतीयमान-अर्थ वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न है और उसका बोध व्यञ्जनावृत्ति द्वारा ही सम्भव है।

(२) दूसरी युक्ति का अर्थ है—अभिधा का यह व्यापार बाण के सदृश दीर्घ और दीर्घतर हुआ करता है। अभिप्राय यह है कि जिस भाँति शक्तिसम्पन्न धनुष को धारण करनेवाले व्यक्ति के द्वारा छोड़ा गया एक बाण ही शत्रु के कवच को काट देता है, उसके मर्मस्थल को भेद डालता है तथा प्राणों का हरण कर लिया करता है, उसी भाँति अच्छे कवि द्वारा प्रयुक्त एक ही शब्द अभिधा नामक व्यापार द्वारा वाक्यार्थ का बोध कराता है, पदार्थों का अन्वय कराता है तथा व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति भी कराता है।

ध्वनिवादियों के अनुसार भट्टलोल्लट की यह युक्ति नितान्त अनुचित प्रतीत होती है। उनके कथन हैं--

(१) कि उनका यह अभिधाव्यापार, जो कि दीर्घदीर्घतर है, क्या एक ही है? यदि एक ही है तो फिर भिन्न-भिन्न प्रकृति वाले वाच्य और प्रतीयमान अर्थों की प्रतीति उससे किस भाँति की जा सकती है? क्योंकि वाच्य और प्रतीयमान अर्थ परस्पर विरोधी तथा भिन्न विषय वाले भी हुआ करते हैं। यदि उस अभिधाव्यापार को अनेक प्रकार का माना जाय तब तो इससे व्यञ्जनावादियों का ही पक्ष सिद्ध होगा क्योंकि उनकी दृष्टि में शब्द के अनेक व्यापार होते हैं।

(२) भट्टलोल्लट आदि मीमांसकों द्वारा लक्षणावृत्ति को भी स्वीकार किया जाता है। यदि दीर्घदीर्घतर अभिधा व्यापार द्वारा प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति कराई जा सकती है तो उसके द्वारा लक्ष्यार्थ की प्रतीति भी कराई जा सकती है। ऐसी स्थिति में उनके द्वारा लक्षणा-वृत्ति को मानने की क्या आवश्यकता है?

(३) अभिहितान्वयवादी लोग वाक्य के अर्थ-सम्बन्धी ज्ञान के निमित्त तात्पर्य-वृत्ति को मानते हैं। जब उनके द्वारा अभिधावृत्ति के दीर्घदीर्घतर व्यापार द्वारा प्रतीयमान-अर्थ की प्रतीति की जा सकती है तो फिर इसी व्यापार द्वारा वाक्यार्थ की प्रतीति भी सरलतापूर्वक की जा सकती है क्योंकि प्रतीयमान-अर्थ [व्यङ्ग्यार्थ] की अपेक्षा पदों के अर्थों का सामीप्य अधिक है।

(४) हर्ष, शोक आदि भावों का ज्ञान शब्दों द्वारा न होकर मुखाकृति सम्बन्धी विकारों द्वारा हुआ करता है। यदि शब्द के उच्चारण के पश्चात् प्रतीत होने वाले सभी विषय अभिधावृत्ति द्वारा ही उपस्थित स्वीकार किये जायेंगे तो ऐसी स्थिति में हर्ष, शोक आदि भावों को भी अभिधेय स्वीकार करना पड़ जायगा कि जिसको मीमांसक स्वीकार नहीं करते हैं।

(५) मीमांसा-दर्शन का यह भी एक प्रमुख सिद्धान्त है—'श्रुतिलिङ्ग-वाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यम् अर्थविप्रकर्षात्' [पूर्वमीमांसा ३.३.१४]। मीमांसादर्शन के अनुसार विधियाँ चार प्रकार की हुआ करती हैं (१) उत्पत्तिविधि, (२) विनियोगविधि, (३) अधिकारविधि तथा (४) प्रयोग-विधि। उपर्युक्त सूत्र विनियोगविधि से सम्बन्धित है। विनियोगसम्बन्धी निर्णय करने हेतु श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या नामक ६ प्रमाण हैं। इन प्रमाणों में दो अथवा अधिक का समवाय होने पर पूर्वप्रमाण की अपेक्षा परप्रमाण की दुर्बलता मानी गई है।

भट्टलोल्लट के 'दीर्घदीर्घतरव्यापार' सम्बन्धी सिद्धान्त को स्वीकार कर लिये जाने पर श्रुति आदि प्रमाणों द्वारा जिन-जिन विषयों की उपस्थिति की प्रामाणिकता को स्वीकार करना है वह एकदम व्यर्थ हो जायेगा। इन प्रमाणों की पारस्परिक बलवत्ता तथा दुर्बलता ही मानना व्यर्थ हो जायगा क्योंकि 'दीर्घ-दीर्घतर' व्यापारसम्बन्धी सिद्धान्त से अभिधा द्वारा अभीष्ट लक्ष्य की सिद्धि स्वतः ही हो जायेगी। ऐसा होने पर भट्टलोल्लट का उक्त सिद्धान्त मीमांसा-दर्शन की परंपरा को ही नष्ट कर देगा।

अतएव 'दीर्घदीर्घतर' सम्बन्धी सिद्धान्त को भी स्वीकार करना पूर्णतया अनुचित ही है।

(६) **धनञ्जय तथा धनिक के एतद्विषयक सिद्धान्त की आलोचना**—दशरूपककार धनञ्जय तथा उसके टीकाकार धनिक ने भी क्रमशः अभिधा तथा तात्पर्यशक्ति के द्वारा ही प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति दिखलाने का प्रयास किया है। उनके अनुसार तात्पर्यशक्ति का क्षेत्र अति व्यापक है। यह तो यावत्कार्य-प्रसारी है। जहाँ जिस प्रकार की और जितनी आवश्यकता हो वहाँ तक तात्पर्या-शक्ति का व्यापार हो सकता है। ध्वनिवादियों के अनुसार प्रथमकक्षा में वाच्यार्थ,

द्वितीय कक्षा में तात्पर्यार्थ, तृतीय कक्षा में लक्ष्यार्थ तथा चतुर्थ कक्षा में व्यङ्ग्यार्थ [प्रतीयमान–अर्थ] को माना गया है। किन्तु इस कक्षा-विभाग से 'तात्पर्य' की शक्ति कुण्ठित नहीं होती है। चतुर्थकक्षानिविष्ट विषय तक तात्पर्य की पहुँच की जा सकती है। अतएव चतुर्थकक्षानिविष्ट प्रतीयमान अर्थ [व्यङ्ग्यार्थ] भी तात्पर्य की सीमा के अन्तर्गत ही है।

यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि आपकी तात्पर्यशक्ति 'अभिहितान्वयवाद' में स्वीकृत तात्पर्याशक्ति ही है अथवा उससे भिन्न कोई अन्य ? यदि यह तात्पर्याशक्ति अभिहितान्वयवादवाली ही है तो उसका क्षेत्र तो अति सीमित है, असीमित नहीं। उसका कार्य पदार्थ संसर्गबोध करना मात्र ही है। इससे अधिक उसकी कोई सामर्थ्य नहीं। अतएव प्रतीयमान अर्थ का ज्ञान करा सकना उसकी सामर्थ्य से परे है। उसकी गति तो द्वितीय कक्षानिविष्ट संसर्गबोध तक ही सीमित है। चतुर्थकक्षानिविष्ट प्रतीयमान अर्थ तक उसकी गति कदापि नहीं हो सकती है। ऐसी स्थिति में आपको इस तात्पर्या शक्ति से भिन्न कोई अन्य शक्ति ही स्वीकार करनी होगी। फिर उस शक्ति का नाम चाहे आप व्यञ्जना रखें अथवा कुछ और। इससे अर्थ में कोई अन्तर नहीं आयेगा।

(७) **लक्षणासम्बन्धी मत का निराकरण**—'भ्रम धार्मिक'···आदि स्थलों में कुछ सिद्धान्तवादी जन 'विपरीतलक्षणा' द्वारा निषेधपरक अथवा विधिपरक अर्थ की प्रतीति को स्वीकार करते हैं। इस मत की आलोचना करते हुए लोचनकार द्वारा जो युक्तियाँ प्रदर्शित की गई हैं उनका संग्रह आचार्य मम्मट ने अपनी कृति 'काव्यप्रकाश' (२. १४–१७) में एक ही स्थान पर निम्नलिखित ४ कारिकाओं में प्रस्तुत किया है––

'यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया॥
नाभिधा समयाभावात्, हेत्वभावान्न लक्षणा।
लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो॥
न प्रयोजनमेतस्मिन्, न च शब्दः स्खलद्गतिः।
एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी॥
प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते।
ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्॥"

इन सभी का भावार्थ निम्नरूप में है :—

(१) शीतलता तथा पवित्रता के आधिक्य से सम्बन्धित प्रयोजन की प्रतीति कराने हेतु जिस लक्षणा का आश्रय लिया जाता है वह तो मात्र शब्द से ही गम्य है तथा उसका ज्ञान कराने में शब्द का 'व्यञ्जना' के अतिरिक्त कोई अन्य व्यापार नहीं हो सकता है।

(२) शैत्यपावनत्वरूप फल सङ्केतित अर्थ नहीं है। अतएव इस फल के द्योतन में अभिधा व्यापार कम नहीं हो सकता है। अतएव 'समय' अर्थात् संकेत-ग्रह के न होने से अभिधा वृत्तिद्वारा फल की प्रतीति कराया जाना संभव नहीं है। मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थसम्बन्ध तथा प्रयोजनरूप लक्षणा के तीनों कारणों में से किसीके भी न होने के कारण लक्षणा द्वारा फल का बोध नहीं कराया जा सकता है। यदि शैत्यपावनत्व को लक्ष्यार्थ मान लिया जाय तो उससे पूर्व उपस्थित होने वाले तीररूप अर्थ को, जो कि इस समय लक्षणा द्वारा ही बोधित स्वीकार किया जाता है, मुख्यार्थ स्वीकार करना होगा। फिर उसका बाध स्वीकार कर शैत्यपावनत्व के साथ उसका सम्बन्ध तथा उस शैत्यपावनत्व का भी कोई अन्य प्रयोजन स्वीकार करना होगा। ये तीनों ही बातें नहीं बनती हैं। लक्ष्य अर्थात् तीररूप अर्थ मुख्य अर्थ नहीं है, फिर इस अर्थ का बाध भी नहीं होता है तथा उसका शैत्यपावनत्व से सम्बन्ध भी नहीं है। शैत्यपावनत्व के साथ तो गङ्गा का सम्बन्ध है, तीर का नहीं। अतएव शैत्यपावनत्व तीर का लक्ष्यार्थ नहीं बन सकता है।

(३) शैत्यपावनत्व का आधिक्य कि जिसकी प्रतीति इस समय प्रयोजन के रूप में हो रही है, को यदि लक्ष्यार्थ स्वीकार कर लिया जायगा तो फिर उसका कोई अन्य प्रयोजन भी स्वीकार करना होगा। किन्तु उस शैत्वपावनत्व के आधिक्य के बोध का कोई अन्य प्रयोजन भी प्रतीत नहीं होता तथा गङ्गा शब्द उसके बोधन हेतु स्खलद्गति भी नहीं है। यदि उस शैत्यपावनत्व के आधिक्य में किसी प्रयोजन को स्वीकार कर उसको लक्ष्यार्थ स्वीकार कर भी लिया जाय तो फिर यह जो एक अन्य प्रयोजन की प्रतीति हुई है उसको भी लक्ष्यार्थ मान लेवे पर उसका भी एक अन्य [तीसरा] प्रयोजन स्वीकार करना पड़ जायगा। इसी भाँति तृतीय प्रयोजन का चतुर्थ, चतुर्थ का थंचम आदि प्रयोजन स्वीकार करने

होंगे। ऐसी स्थिति में प्रयोजन की परम्परा कभी समाप्त ही न होगी। अतएव अनवस्था दोष आ जायगा। ऐसी दशा में शैत्य एवं पावनत्व के आधिक्य के बोध को लक्ष्यार्थ मानना सर्वथा उचित नहीं है।

(८) विशिष्ट लक्षणा के सिद्धान्त को भी स्वीकार करना उचित नहीं।

इसके अनुसार न तो 'तीर' को ही लक्ष्यार्थ माना जाना है और न शैत्य-पावनत्व के आधिक्य को ही। अपि तु शैत्यपावनत्वविशिष्ट तीर में ही लक्षणा मानना उचित है। ऐसा मान लेने पर व्यञ्जना नामक वृत्ति को मानने की कोई आवश्यकता न होगी। इस कथन के समाधान हेतु निम्नलिखित करिका दी गई है :—

'प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते।'

अर्थात् प्रयोजन से युक्त अर्थात् शैत्यपावनत्वविशिष्ट तीर लक्षित नहीं हो सकता है क्योंकि 'तीर अर्थ' लक्षणा से उत्पन्न ज्ञान का विषय है और 'शैत्य-पावनत्व' लक्षणा से उत्पन्न ज्ञान का 'फल' है। ये दोनों [ज्ञान का विषय और ज्ञान का फल] सदैव पृथक् ही हुआ करते हैं। इसका एक होना संभव नहीं है। अतएव इन दोनों का बोध एक साथ कभी नहीं हो सकता है। इनमें कार्यकारण-भाव है। अतएव पौर्वापर्य होना आवश्यक है। अतएव इन दोनों का बोध पृथक् पृथक् ही होगा। ऐसी स्थिति में शैत्यपावनत्व के बोध हेतु व्यञ्जना वृत्ति को स्वीकार करना ही होगा।

(९) वेदान्तियों और वैयाकरणों के अखण्डतावाद सम्बन्धी मत द्वारा भी प्रतीयमान अर्थ का बोध होना सम्भव नहीं।

अद्वैतरूप ब्रह्मवादी वेदान्ती तथा स्फोटरूप शब्दब्रह्मवादी वैयाकरण वाक्य तथा वाक्यार्थ को अखण्ड मानते हैं। अखण्ड वाक्य से अखण्ड अर्थ का बोध हुआ करता है। अकेला शब्द तो अनर्थक होता है। वेदान्ती क्रियाकारकभाव को स्वीकार कर उत्पन्न होने वाली बुद्धि को खण्डित अथवा सखण्ड तथा उससे भिन्न अर्थात् क्रियाकारकभाव रहित बुद्धि को अखण्ड बुद्धि मानते हैं। जैसे 'तत्त्वमसि' आदि अखण्ड वाक्य अखण्ड ब्रह्म के द्योतक हैं। इनके अनुसार अखण्ड वाक्य का अर्थ वाच्य होता है और वाक्य वाचक होता है। अतएव सभी अर्थ वाच्य होंगे। पृथकरूप से प्रतीयमान अर्थ को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

लगभग इसी भाँति की मान्यता वैयाकरणों की भी है। इस मत का प्रतिपादन करते हुए भर्तृहरि ने लिखा है:—'ब्रह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद् ब्राह्मणकम्बले। देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युरनर्थकाः ॥' अर्थात् 'ब्राह्मण का कम्बल' इस अर्थ में प्रयुक्त 'ब्राह्मणकम्बल' में अकेला 'ब्राह्मण' शब्द अनर्थक है, क्योंकि अकेला ब्राह्मण शब्द से किसी अर्थ का बोध नहीं होता है। 'ब्राह्मणकम्बल' इस समस्त शब्द से 'ब्राह्मणसम्बन्धी कम्बल' इस अखण्ड अर्थ का बोध होता है। इसी भाँति पृथक् पृथक् प्रयुक्त 'देवदत्त' आदि शब्द अनर्थक हैं। सम्पूर्ण अखण्ड वाक्य से अखण्डवाक्यार्थ की प्रतीति हुआ करती है।

इस भाँति उपर्युक्त दोनों ही मतों के अनुसार सम्पूर्ण अखण्डवाक्य से वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य तथा उससे भी आगे जितने भी अर्थों की प्रतीति होना संभव है वह सब अखण्डरूप में ही हुआ करता है। अतएव व्यञ्जना आदि वृत्तियों को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

इसके समाधान में लोचनकार का कहना है:—'येऽप्यविभक्तं' इत्यादि। अर्थात् जो मनीषी वाक्य तथा वाक्यार्थ को अखण्ड स्फोटरूप कहते हैं उनको भी सांसारिक व्यवहार को स्थिति में इस सम्पूर्ण प्रक्रिया का अनुसरण करना ही होगा। सांसारिक अवस्था [अभिधा का व्यवहार] से ऊपर उठ जाने पर तो सब कुछ अद्वैतब्रह्म ही हो जाया करता है। यह तथ्य तो 'तत्त्वालोक' ग्रन्थ की रचना करनेवाले 'आनन्दवर्धन' को ज्ञात ही था। अतएव संसार में रहते हुए पद एवं पदार्थ की कल्पना तथा प्रतियमान आदि अर्थों को स्वीकार करना ही होगा।

उपर्युक्त विवरण द्वारा यह स्पष्ट हो गया कि अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्या शक्तियों द्वारा प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति किया जाना संभव नहीं है। उसके लिये व्यंजना नाम की वृत्ति को मानना ही होगा।

ध्वनिशास्त्रकार के पश्चात् हुए कुछ लोगों का कथन है कि अनुमान द्वारा 'प्रतीयमान अर्थ' [व्यङ्ग्यार्थ] की प्रतीति की जा सकती है। इन मतावलम्बियों में महिमभट्ट का स्थान सर्वोपरि है। अतएव इस मत के सम्बन्ध में भी विचार कर लेना उपयुक्त होगा:—

अनुमान द्वारा भी 'प्रतीयमान अर्थ' की प्रतीति होना सम्भव नहीं।

महिमभट्ट ने अपनी कृति 'व्यक्तिविवेक' में ध्वनि के सम्पूर्ण उदाहरणों को

अनुमान द्वारा सिद्ध करने का प्रयास किया है। अतएव विभाव आदि की प्रतीति को रस आदि की प्रतीति का साधक लिङ्ग मानकर महिमभट्ट ने अनुमान द्वारा रस आदि की सिद्धि करने का प्रयास किया है। उसके अनुसार अनुमान यह बनेगा 'रामः सिताविषयकरतिमान् तत्र विलक्षणस्मितकटाक्षवत्त्वात् यः नैवं स नैवं यथा लक्ष्मणः'। इसके उत्तर में ध्वनिशास्त्रियों का कहना है कि इस अनुमान द्वारा सीता के प्रति राम के अनुराग का ज्ञान अवश्य हो सकता है किन्तु रस की प्रतीति का होना संभव नहीं है। क्योंकि हम तो उसके द्वारा सहृदयों के हृदय में जो अपूर्व एवं अलौकिक आनन्द की अनुभूति हुआ करती है उसको रस मानते हैं। दूसरी बात यह है कि ध्वनिवादी लोग विभाव आदि को रस के हेतु के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। अतएव अनुमानवाक्य बन ही न सकेगा। तीसरी बात यह है कि व्याप्ति के आधार पर ही अनुमान किया जाया करता है। किन्तु व्याप्ति के न होने से उस [रस] का बोध अनुमान द्वारा होना संभव ही नहीं है।

महिमभट्ट ने 'भ्रम धार्मिक' आदि उदाहरणों में गोदावरी नदी के किनारे पर धार्मिक के भ्रमण के निषेध को अनुमान द्वारा सिद्ध करने का प्रयास किया है। ऐसी स्थिति में अनुमानवाक्य बनेगा—'गोदावरीतीरं धार्मिकभीरुभ्रमणायोग्यं सिंहवत्त्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा गृहम्।' अर्थात् गोदावरी नदी का किनारा धार्मिक भीरू के लिये भ्रमण करने योग्य नहीं है क्योंकि वहाँ सिंह का निवास है। इस अनुमानवाक्य में हेतु है—'सिंहवत्त्वात्' तथा साध्य है—'भीरुभ्रमणायोग्यत्व'। इन दोनों की व्याप्ति इसप्रकार बनेगी—'यत्र यत्र सिंहवत्वं तत्र तत्र भीरुभ्रमणायोग्यत्वम्'। किन्तु भीरु व्यक्ति भीरु राजा अथवा अपने गुरु के आदेश से, प्रिया के प्रति अनुराग से अथवा किसी अन्य कारण से भय का कारण उपस्थित होने पर भी जाया करता है। अतएव यह व्याप्ति ठीक नहीं है। दूसरे यह कि गोदावरी के तीर पर सिंह का होना भी किसी प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं है। वह तो मात्र एक पुंश्चली द्वारा सुना जा रहा है। इस प्रकार पक्ष [गोदावरी तीर] में हेतु का होना 'प्रसिद्ध' भी है। अतएव हेतु हेतु न होकर हेत्वाभास ही है। ऐसी स्थिति में अनुमान का बन सकना भी संभव नहीं है। अतः व्यञ्जनावृत्ति का स्वीकार किया जाना आवश्यक है। उसी के द्वारा प्रतीयमान अर्थ [व्यङ्ग्यार्थ] की प्रतीति हो सकेगी।

वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ [प्रतीयमान अर्थ] की भिन्नता।

वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ की भिन्नता के सम्बन्ध में अनेक आचार्यों द्वारा हेतु प्रस्तुत किये गये हैं। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने उन सभी हेतुओं का संग्रह केवल एक ही निम्नलिखित कारिका में कर दिया है—

"बोद्धस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम्।
आश्रयविषयादीनां भेदाद्भिन्नोऽभिधेयतोव्यङ्ग्यः॥"

अर्थात् बोद्धा आदि के भेद के कारण व्यङ्ग्य-अर्थ, वाच्य-अर्थ से भिन्न ही रहा करता है। बोद्धासम्बन्धी भेद से यह अभिप्राय है कि वाच्य अर्थ की प्रतीति तो पद, पदार्थमात्र से व्युत्पन्न वैयाकरण आदि सभी को हो जाया करती है किन्तु व्यङ्ग्य-अर्थ की प्रतीति तो मात्र सहृदयों को ही हुआ करती है। अतएव बोद्धा की दृष्टि से वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ को पृथक मानना ही उचित है। 'भ्रम धार्मिक ···' इत्यादि उदाहरण 'स्वरूप' की दृष्टि से दिये गये हैं। इन उदाहरणों में कहीं वाच्यार्थ विधिपरक है तो व्यङ्ग्यार्थ निषेधपरक तथा यदि वाच्यार्थ निषेधपरक है तो व्यङ्ग्यार्थ विधिपरक। 'संख्या' सम्बन्धी भिन्नता से अभिप्राय है व्यङ्ग्यार्थों का अनेक प्रकार का होना। जैसे—किसी के द्वारा यह कहे जाने पर कि 'गतोऽस्तमर्कः' अर्थात् सूर्य छिप गया। वाच्यार्थ एक ही होगा किन्तु व्यङ्ग्यार्थ अनेक हो सकते हैं—(अ) सन्ध्योपासन का समय होगा, (ब) खेल बन्द करो, (स) भ्रमण के लिये चला जाय, (द) 'कान्तमभिसर' इत्यादि व्यङ्ग्यार्थ हो सकते हैं। 'निमित्त' की दृष्टि से भी दोनों में भिन्नता हुआ करती है। वाच्यार्थ के बोध का निमित्त हुआ करता है संकेतग्रह। व्यङ्ग्यार्थ का निमित्त है सहृदय का होना इत्यादि। अतएव दोनों में निमित्त सम्बन्धी भिन्नता भी है। 'कार्य' की दृष्टि से भी दोनों की भिन्नता है। वाच्यार्थ केवल प्रतीति कराने वाला हुआ करता हैं जब कि व्यङ्ग्यार्थ चमत्कारोत्पादक हुआ करता है। दोनों में 'काल' की दृष्टि से भी भेद है क्योंकि वाच्यार्थ की प्रतीति सर्वप्रथम हुआ करती है और व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति बाद में। 'आश्रय' की दृष्टि से भी दोनों की भिन्नता है—वाच्यार्थ शब्द के आश्रित रहा करता है तथा व्यङ्ग्यार्थ उसके एकदेश, प्रकृति-प्रत्यय, वर्णसङ्घटना आदि में रह सकता है। 'विषय' सम्बन्धी भेद का उदाहरण मूल में दिया जा चुका है। 'कस्य वा न

भवति रोषो' इत्यादि में वाच्यार्थ के बोध का विषय 'नायिका' है और व्यङ्ग्यार्थ के बोध का विषय 'नायक' है ।

इस भाँति वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के मध्य अनेक प्रकार के भेदों का होना स्पष्ट ही है । अतएव व्यङ्ग्यार्थ को वाच्यार्थ से भिन्न मानना ही उचित है ।

ध्वन्यालोकः

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥ ५ ॥

प्रतीयमान रस ही काव्य की आत्मा—

(काव्यस्य आत्मा) काव्य का आत्मा (स एव) वही (प्रतीयमान रस) (अर्थ) है जैसा कि (पुरा) प्राचीनकाल में (क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः) क्रौञ्च (पक्षी) के जोड़े के वियोग से उत्पन्न आदिकवि वाल्मीकि का (शोकः) [करुण रस का स्थायीभाव] (श्लोकत्वमागतः) श्लोक [काव्य] रूप में परिणत हो गया ॥ ५ ॥

[लोचनम्]

एवं 'प्रतीयमानपुनरन्यदेव' इतीयता ध्वनिस्वरूपं व्याख्यातम् । अधुना काव्यात्मत्वमितिहासव्याजेन च दर्शयति—काव्यस्यात्मेति । स एवेति प्रतीयमानमात्रेऽपि प्रक्रान्ते तृतीय एव रसध्वनिरिति मन्तव्यम् । इतिहासबलात् प्रक्रान्तवृत्तिग्रन्थार्थबलाच्च । तेन रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलङ्कारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तावित्यभिप्रायेण 'ध्वनिः काव्यस्यात्मा' इति सामान्येनोक्तम् । शोक इति । क्रौञ्चस्य द्वन्द्ववियोगेन सहचरीहननोद्भूतेन साहचर्यध्वंसनेनोत्थितः यः शोकः स्थायिभावो निरपेक्षभावत्वाद्विप्रलम्भशृङ्गारोचितरतिस्थायिभावादन्य एव, स एव तथाभूतविभावतदुत्थाक्रन्दाद्यनुभावचर्वणया हृदयसंवादतन्मयीभवनक्रमादास्वाद्यमानतां प्रतिपन्नः करुणरसरूपतां लौकिकशोकव्यतिरिक्तां स्वचित्तद्रुतिसमास्वाद्यसारां प्रतिपन्नो रसपरिपूर्णकुम्भोच्चलनवच्चित्तवृत्तिनिःष्यन्दस्वभाववाग्विलपादिवच्च समयानपेक्षत्वेऽपि चित्तवृत्तिव्यञ्जकत्वादिति नयेनाकृतकतयैवावेशवशात्समुचितशब्दच्छन्दोवृत्तादिनियन्त्रितश्लोकरूपतां प्राप्तः ।

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वगमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥ इति ।

इस भाँति 'प्रतीयमान फिर दूसरा ही' इतने से ध्वनि के स्वरूप की व्याख्या कर दी । इस समय इतिहास के रूप में भी काव्यात्मत्व दिखलाते हैं— काव्य का आत्मा—। 'वही' इस शब्द द्वारा सम्पूर्ण प्रतीयमान के प्रक्रान्त होने पर भी तीसरा 'रसध्वनि' ही [काव्य की आत्मा] मानना चाहिये । एक तो इतिहास के बल से और दूसरे प्रक्रान्तवृत्तिग्रन्थ के अर्थ के बल से । इससे 'रस' ही वस्तुतः [काव्य की] आत्मा है । वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि तो सर्वथा रस के प्रति ही पर्यवसित होती हैं । अतएव वाच्य की अपेक्षा वे दोनों उत्कृष्ट होती हैं । इस अभिप्राय से 'ध्वनि काव्य का आत्मा है' यह सामान्यरूप से कह दिया गया है । शोक—। क्रौञ्च के द्वन्द्ववियोग से अर्थात् सहचरी क्रौञ्ची के मारे जाने से, साहचर्य [साथ] के ध्वंस हो जाने के कारण उत्पन्न जो शोक-रूप स्थायीभाव, [वह] निरपेक्ष भाव के कारण विप्रलम्भ शृङ्गार के योग्य 'रति' स्थायीभाव से भिन्न ही है । वही [शोक] उस प्रकार के विभाव तथा उससे उत्पन्न आक्रन्द आदि अनुभाव के आस्वादन द्वारा हृदय के संवाद और फिर तन्मयीभाव के क्रम से आस्वाद्यमान अवस्था को प्राप्त होकर, लौकिक शोक के अतिरिक्त चर्वयिता के अपने चित्त की द्रुति के द्वारा समास्वाद्य-सार करुणरस की रूपता को प्राप्त, जैसे जल से भरा हुआ घट छलका करता है और जैसे चित्तवृत्ति के निष्यन्दरूप वाणी के विलाप आदि हुआ करते हैं उसी भाँति 'समय' [शब्द के सङ्केत] की अपेक्षा न रखने पर भी [वचन] चित्तवृत्ति के व्यञ्जक हुआ करते हैं, इस न्याय से स्वाभाविकरूप से ही, आवेश के कारण, समुचित शब्द, छन्द, वृत्त आदि से नियमित होकर 'श्लोक' की रूपता को प्राप्त हो गया ।

'हे निषाद ! [व्याध, बहेलिया] काम से मोहित क्रौञ्च पक्षी के जोड़े में से एक [क्रौञ्च] को तूने मार डाला है, अतएव शाश्वत वर्ष पर्यन्त [अनन्त काल तक] तुम प्रतिष्ठा को प्राप्त न हो ।'

(अंशुबोधिनी)

चतुर्थ कारिका 'ध्वनि' के स्वरूप का विवेचन किया गया । अब इतिहास

की दृष्टि से भी यह सिद्ध किया जा रहा है कि वह 'ध्वनि ही वस्तुतः काव्य की आत्मा है। इस स्थल पर प्रकरण तो मात्र प्रतीयमान का है फिर भी आदिकवि के श्लोकरूप ऐतिहासिक उदाहरण से तथा आनन्दवर्धन द्वारा की गई वृत्ति के आधार पर 'स एव' का अर्थ 'रसध्वनि' ही निश्चित होता है। इसलिये वास्तव में "रसध्वनि ही काव्य की आत्मा है,' यही अर्थ समझना अभिप्रेत है। वस्तु एवं अलङ्कार ध्वनियाँ उसी स्थल पर काव्यरूपता को धारण किया करती हैं कि जिस स्थल पर वे रसध्वनि पर्यवसायी हुआ करती हैं। वैसे तो ये दोनों ही ध्वनियाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा उत्कृष्ट ही हुआ करती हैं। अतएव सामान्यरूप से 'ध्वनि' को ही 'काव्य की आत्मा' कह दिया गया है।

जब क्रौञ्ची के सहचर का वध कर दिया गया तथा उसके परिणामस्वरूप दोनों का साहचर्य भङ्ग हो गया तो उससे जिस शोक की उत्पत्ति हुई उसे विप्रलम्भ शृङ्गार के स्थायीभाव 'रति' का संचारीभाव नहीं कहा जा सकता है। इसका कारण यह है कि जब तक पुनर्मिलन की आशा रहा करती है तभी तक हम उसे रतिस्थायीभाव में रख सकते हैं। सहचरहनन के पश्चात् आलम्बन के विच्छिन्न हो जाने के कारण शोक रति की सीमा से बाहर हो गया है। वह 'शोक' स्थायीभाव ही था, संचारीभाव नहीं। इसके अतिरिक्त विप्रलम्भ शृगार का स्थायीभाव 'रति' तभी हुआ करती है कि जब नायक-नायिका दोनों ही उपस्थित रहा करते हैं। दोनों में मिलन न होने के कारण सापेक्षता रहा करती है। कहने का तात्पर्य यह है कि विप्रलम्भ शृङ्गार सम्बन्धी स्थायीभाव 'रति' सापेक्षभाव है। इसके विपरीत 'शोक' नामक स्थायीभाव निरपेक्ष हुआ करता है। शोकरूप स्थायीभाव में आलम्बन विभाव नायक-नायिका में से कोई एक दिवङ्गत हो जाया करता है। परिणामस्वरूप पुनर्मिलन की आशा भी समाप्त हो जाया करती है। 'मा निषाद' इत्यादि पद्य में क्रौञ्च के जोड़े में से एक व्याध के बाण द्वारा मारा जा चुका है। अतएव दोनों के साहचर्य के नष्ट हो जाने के कारण यहाँ विप्रलम्ब शृङ्गार का स्थायीभाव रति न होकर करुण रस का स्थायीभाव 'शोक' ही मानना पूर्णतया उचित है।

वाल्मीकी ऋषि के चित्त में वासनारूप में जो शोक विद्यमान था उसे 'रस' की सभी सामग्री उपलब्ध हो गई। मृत 'क्रौञ्च' आलम्बन था। उसके वियोग में

रुदन करती हुई क्रौञ्ची आश्रय थी। क्रौञ्ची का आक्रन्दन इत्यादि अनुभाव तथा विषाद इत्यादि संचारीभाव थे। इनकी उपलब्धि से अनुभावों के आस्वादन द्वारा क्रौञ्च सम्बन्धी शोक के साथ महाकवि का शोक एकरूपता को प्राप्त होकर तन्मयी स्थिति को प्राप्त हो गया। यह 'शोक' लौकिक शोक से सर्वथा भिन्न था। ऋषि ने इस अलौकिक शोक को चित्त की द्रुति द्वारा आस्वादन किया। यह आस्वादन ही उस शोक का परिवर्तित स्वरूप 'करुणरस' ही है। इस भाँति ऋषि द्वारा जब करुण रस की अनुभूति की गई तभी उनके मुख से अनायास ही छन्दोमयी वाणी निसृत हो पड़ी। जिस भाँति भरा हुआ घड़ा छलक पड़ा करता है अथवा अतिदुःख आदि से युक्त चित्तवृत्ति के होने पर अनायास ही मुख से दुःखजनित शब्द निकल पड़ा करते हैं। उसी भाँति ऋषि का शोक करुण रस की स्थिति में पहुँचकर श्लोक के रूप में परिणत हो गया।

ध्वन्यालोकः

विविधवाच्यवाचकरचनाप्रपञ्चचारुणः काव्यस्य स एवार्थः सारभूतः। चादिकवेः वाल्मीकेः निहतसहचरीविरहकातरक्रौञ्चाक्रन्दजनितः शोक एव श्लोकतया परिणतः।

नाना प्रकार के वाचक [शब्द], वाच्य [अर्थ] और सङ्घटना के प्रपञ्च से सुन्दर काव्य का सारभूत [आत्मा] वही [प्रतीयमान रस] अर्थ है। जैसा कि [व्याध के बाण से विद्ध किये गये, मरणासन्न अतएव] अपनी सहचरी के वियोग से कातर [जो] क्रौञ्च [तत्कर्तृक अथवा क्रौंचोद्देश्यक क्रौञ्चीकर्तृक] की चीख [आक्रन्द] से उत्पन्न आदि कवि वाल्मीकि [वाल्मीकि के अभ्यन्तर विद्यमान करुणरस का स्थायिभाव] का शोक श्लोक ['मा निषाद' इत्यादि] रूप में परिणत हो गया।

[लोचनम्]

न तु मुनेः शोक इति मन्तव्यम्। एवं हि सति तद्दुःखेन दुःखित सोऽपि इति कृत्वा रसस्यात्मतेति निरवकाशं भवेत्। न च दुःखसंतप्तस्यैषा दशेति। एवं चर्वणोचितशोकस्थायिभावात्मककरुणरससमुच्चलनस्वभावत्वात्स एव काव्यस्यात्मा सारभूतस्वभावोऽपरशब्दवैलक्षण्यकारकः।

एतदेवोक्तं हृदयदर्पणे—'यावत्पूर्णो न चैतेन तावन्नैव वमत्यमुम्' इति।

अगम इतिच्छान्दसेनाडागमनेन । स एवेत्येवकारेणेदमाह–नान्य आत्मेति । तेन यदाह भट्टनायकः—

शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः ।
अर्थतत्त्वेन युक्तं तु वदन्त्याख्यानमेतयोः ॥
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यधीर्भवेत् ।

इति तदपास्तम् । व्यापारो हि यदि ध्वननात्मा रसनास्वभावस्तन्नापूर्वमुक्तम् । अथाभिधैव व्यापारस्तथाप्यस्याः प्राधान्यं नेत्यावेदितं प्राक् ।

श्लोकं व्याचष्टे—विविधेति । विविधं तत्तदभिव्यञ्जनीयरसानुगुण्येन विचित्रं कृत्वा वाच्ये वाचके रचनायां च प्रयत्नेन यच्चारु शब्दार्थालङ्कारगुणयुक्तमित्यर्थः । तेन सर्वत्रापि ध्वननसद्भावेऽपि न तथा व्यवहारः । आत्मसद्भावेऽपि क्वचिदेव जीवव्यवहार इत्युक्तं प्रागेव । तेनैतन्निरवकाशम् । यदुक्तं हृदयदर्पणे—'सर्वत्र तर्हि काव्यव्यवहारः स्यात् इति । निहतसहचरीति' विभाव उक्तः । आक्रन्दितशब्देनानुभावः । जनित इति । चर्वणागोचरत्वेनेति शेषः ।

[यह शोक] मुनि का शोक है, ऐसा नहीं मानना चाहिये । क्योंकि ऐसा होने पर उस [क्रौञ्च] के दुःख से वह भी दुःखित हो जाते हैं, अतएव रस का आत्मा होना निरवकाश हो जायगा । दुःख से संतप्त की ऐसी दशा [कि वह शाप हेतु श्लोक का निर्माण करे] नहीं हुआ करती है । इस भाँति चर्वणा के योग्य शोकरूप स्थायिभाव वाले करुणरस से प्रवाहित होने के स्वभाव के कारण वही काव्य का आत्मा अर्थात् सारभूतस्वभाव एवं दूसरे शब्दबोध से वैलक्षण्य करने वाला है ।

इस ही हृदयदर्पण में कहा है—'जब तक इस [रस] से भर नहीं जाता, तब तक उसका वमन नहीं करता है ।' [वाल्मीकि के मा निषाद··· इत्यादि पद्य में–] 'अगमः' में वैदिक नियमानुसार 'अट्' का आगम हुआ है । 'वही' इस 'एव' [ही] के द्वारा यह कहा है—'दूसरा, आत्मा नहीं है । इसलिये जो कि भट्टनायक ने कहा है—

'शब्द की प्रधानता का आश्रय लेकर शास्त्र को पृथक् मानते हैं, अर्थतत्व से युक्त को तो 'आख्यान' कहते हैं और इन दोनों [शब्द और अर्थ] के गुणीभूत होने की दशा में व्यापार की प्रधानता होने पर काव्यबुद्धि हो जाती है ।'

इस प्रकार उसका निराकरण हो गया। यदि ध्वननरूप व्यापार आस्वादन स्वभाववाला है तो आपने कोई अपूर्व [नई] बात नहीं कही। यदि अभिधा ही व्यापार है तथापि इसकी प्रधानता नहीं होती है। यह पहले ही बतलाया जा चुका है।

[अब] श्लोक की व्याख्या करते हैं—'विविध' अर्थात् नानाप्रकार के अभिव्यञ्जनीय रस की अनुकूलता के साथ विचित्रता को लिये हुए। वाच्य, वाचक और रचना में प्रपञ्च के द्वारा जो सुन्दर अर्थात् शब्द और अर्थ, गुण और अलङ्कार से युक्त। अतएव सर्वत्र ध्वनन के होते हुए भी वैसा [काव्यत्व का] व्यवहार नहीं होता है। पहले ही यह कहा जा चुका है कि आत्मा के होते हुए होने पर भी कहीं-कहीं ही 'जीव' का व्यवहार होता है। अतएव इस बात का कोई अवकाश ही नहीं जो कि हृदयदर्पण में कही गई है—'तब तो सर्वत्र काव्य का व्यवहार होगा।' 'निहतसहचरी' के द्वारा विभाव का कथन किया गया है। 'आक्रन्दित' शब्द से अनुभाव [कहा गया है।] 'जनित' शब्द के साथ 'चर्वणा-गोचर होने से' [इतना और जोड़ दिया जाना चाहिये]।

(आशुबोधिनी)

यह शोक मुनि का शोक नहीं है, ऐसा कहना उचित प्रतीत नहीं होता है क्योंकि लोचनकार स्वयं ही लिखते हैं कि 'क्रौञ्च 'शोक' स्थायिभाव का आलम्बन विभाव है। ऐसी स्थिति में यह कहा जाना उचित नहीं है कि शोक क्रौञ्च के अभ्यन्तर था। सिद्धान्त यह है कि 'रस का आस्वादन अथवा रसानुभूति तो सामाजिकों [दर्शकों, पाठकों] को हुआ करती है। अतएव सामाजिकों में ही रस की सत्ता स्वीकार किया जाना उचित है।' इस सिद्धान्त के अनुसार यह स्पष्ट हो जाता है कि आलम्बन में रस की सत्ता का स्वीकार किया जाना सर्वथा अनुचित एवं अग्राह्य है। मुनि वाल्मीकि के अतिरिक्त कोई अन्य सामाजिक वहाँ उपस्थित भी नहीं है। अतएव मुनि में ही 'शोक' की जागृति का होना उचित तथा स्वीकरणीय है।

उपर्युक्त विवरण लोचनकार तथा दीधितिकार दोनों के अनुसार प्रस्तुत किया गया है। फिर भी यहाँ यह विचार कर लेना आवश्यक है कि वस्तुतः यह शोक है किसका ? शोक क्रौञ्च का हो सकता है कि जिसका व्याध द्वारा हनन

किया गया है। यह शोक क्रौञ्ची का भी हो सकता है कि जो अपने सहगामी क्रौञ्च के वियोग से दुःखी है। इसके अतिरिक्त यह शोक प्रत्यक्षदर्शी मुनिवर वाल्मीकि का भी हो सकता है। सहृदय सामाजिक के शोक के सम्बन्ध में तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है क्योंकि यहाँ पर रसास्वादन सम्बन्धी प्रक्रिया के बारे में विचार नहीं किया जा रहा है। यहाँ तो केवल विचार यह किया जा रहा है कि मुनि का शोक किस भाँति श्लोकरूप में परिणत हो गया? उसकी प्रक्रिया क्या रही?

इस दृष्टि से तीनों ही प्रकार के शोकों के बारे में विचार करना है। क्रौञ्च सम्बन्धी शोक तो काव्यरूपता में परिणत नहीं हो सकता क्योंकि क्रौञ्च तो आलम्बन है तथा आलम्बन का भाव रसरूपता को प्राप्त नहीं कर सकता है। क्रौञ्ची का शोक भी रसरूपता को धारण नहीं कर सकता है क्योंकि 'शोक' एक क्रियारहित भाव है। शोक की पराकाष्ठा हाथ पैर ढीले पड़ जाने तथा चेतना की शिथिलता में हो जाया करती है। किन्तु उस शोक का श्लोकरूप में परिणत हो जाना सक्रियता का परिणाम है। जो कि शोकसदृश क्रियारहितभाव में संभव ही नहीं है। अब शेष रहा मुनि का शोक। इसमें भी पूर्ववत् निष्क्रियता रहेगी। परिणामस्वरूप श्लोकरूपता संभव न हो सकेगी। वाल्मीकि का शोक पूर्णतया शुद्ध न होकर सहानुभूतिमिश्रित शोक है। इस सहानुभूति के मिश्रण से ही रसनीयता की उत्पत्ति होती है। लोचनकार का यही अभिप्राय है।

भट्टनायक ने शब्द तथा अर्थ की गौणता को स्वीकार कर व्यापार की प्रधानता में ही काव्यसंज्ञा को स्वीकार किया है। उनके इस कथन का उत्तर देते हुए लोचनकार ने लिखा कि यदि भट्टनायक का व्यापार की प्रधानता से अभिप्राय व्यंजनावृत्ति से है तब तो वह हमारी ही बात होगी। 'अभिधा' व्यापार सम्बन्धी निराकरण तो पहले ही किया जा चुका है।

इस पर दीधितिकार द्वारा यह कहा गया कि 'आस्वादन की प्रक्रिया सर्वजनसंवेद्य नहीं है अतः उसका स्पष्ट किया जाना आवश्यक है।' वैसे भट्टनायक को व्यंजनाव्यापार अभिमत नहीं है। फिर भी यदि भट्टनायक ध्वननव्यापार को ही व्यापार मानते हैं तो लोचनकार को इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

अब श्लोक की व्याख्या करते हैं—विविध शब्द का अर्थ है—विचित्र

प्रकार के। रसाभिव्यक्ति के तत्व हैं:—वाच्य, वाचक तथा रचना। इन तीनों के प्रपञ्च से ही काव्य में चारुता [सौन्दर्य] की उत्पत्ति हुआ करती है वाच्य की चारुता का अर्थ है 'अर्थालङ्कार,' वाचक की चारुता का अर्थ है 'शब्दालङ्कार' तथा रचना की चारुता का अर्थ है—'गुण'। जिस स्थान पर इन तीनों तत्वों का सौन्दर्य रस के अनुकूल होकर उपस्थित रहा करता है वहीं पर 'काव्य' नाम की सार्थकता हुआ करती है। तथा उस काव्य का व्यङ्ग्यार्थ अथवा रस-ध्वनि ही काव्य की आत्मा का रूप धारण किया करता है। इसी कारण ध्वनन-व्यापार के सर्वत्र विद्यमान होने पर भी काव्यत्व का व्यवहार सर्वत्र नहीं हुआ करता है। जिस भाँति सर्वत्र आत्मा की सत्ता के विद्यमान होने पर भी 'जीव' शब्द का व्यवहार सर्वत्र नहीं हुआ करता है। ऐसी स्थिति में हृदयदर्पण में कही गई 'ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकार कर लेने पर सर्वत्र काव्य का व्यवहार होने लगेगा' का निराकरण स्वतः ही हो जाता है। 'निहतसहचर' इसके द्वारा [आलम्बन] विभाव का कथन किया गया है। 'आक्रन्दित' शब्द द्वारा अनुभाव का। 'जनित' का अर्थ है—चर्वणागोचर होने के साथ ही जो अनुभूति का विषय बना करता है।

ध्वन्यालोकः

शोको हि करुणस्थायिभावः। प्रतीयमानस्य चान्यभेददर्शनेऽपि रस-भावमुखेनैवोपलक्षणं प्राधान्यात्।

'शोक' करुणरस का स्थायिभाव है। यद्यपि प्रतीयमान के अन्य [वस्तु, अलङ्कार और ध्वनि] भेद भी दिखलाये गये हैं किन्तु 'रस' आदि की प्रधानता से रस और भाव द्वारा ही उनका उपलक्षण [बोधन या ज्ञापन] हुआ करता है।

[लोचनम्]

ननु शोकचर्वणातो यदि श्लोक उद्भूतस्तत्प्रतीयमानं वस्तु काव्यस्यात्मेति कुत इत्याशङ्क्याह— शोकोहीति। करुणस्य तच्चर्वणागोचरात्मनः स्थायिभावः। शोके हि स्थायिभावे ये विभावानुभावास्तत्समुचिता चित्तवृत्तिश्चर्व्यमाणात्मा रस इत्यौचित्यात्स्थायिनो रसतापत्तिरित्युच्यते प्राक्स्वसंविदितं परत्रानुमितं च चित्तवृत्तिजातं संस्कारक्रमेण हृदयसंवादमादधानं चर्वणायामुपयुज्यते यतः।

ननु प्रतीयमानरूपमात्मा तत्र त्रिभेदं प्रतिपादितं न तु रसैकरूपम्, अनेन चेतिहासेन रसस्यैवात्मभूतत्वमुक्तं भवतीत्याशङ्‌क्याभ्युपगमेनैवोत्तरमाह—प्रतीयमानस्य चेति। अन्यो भेदो यस्त्वलङ्कारात्मा। भावग्रहणेन व्यभिचारिणोऽपि चर्व्यमाणस्य तावन्मात्राविश्रान्तावपि स्थायिचर्वणापर्यवसानोचितरसप्रतिष्ठामनव्याप्यापि प्राणत्वं भवतीत्युक्तम्। यथा—

नखं नखाग्रेण विघट्टयन्ती विवर्तयन्ती वलयं विलोलम्।
आमन्द्रमाशिञ्जितनूपुरेण पादेन मन्दं भुवमालिखन्ती॥

इत्यत्र लज्जायाः। रसभावशब्देन च तदाभासतत्प्रशमावपि संगृहीतावेव, अवान्तरवैचित्र्येऽपि तदेकरूपत्वात्। प्राधान्यादिति। रसपर्यवसानादित्यर्थः। तावन्मात्रविश्रान्तावपि चान्यशाब्दवैलक्षण्यकारित्वेन वस्त्वलङ्कारध्वनेरपि जीवितत्वमौचित्यादुक्तमितिभावः॥ ५॥

यदि 'शोक' की चर्वणा से श्लोक उत्पन्न हुआ तो फिर प्रतीयमान [रसरूप] वस्तु को 'काव्य की आत्मा' कैसे कहा जा सकता है? इस प्रकार की आशङ्का करके कहते हैं:—शोक। करुण रस का स्थायी भाव 'शोक' है। शोकचर्वणा का प्रत्यक्षीकरण ही करुण रस की आत्मा है। इसी कारण करुण का रस स्थायिभाव 'शोक' माना गया है। निस्सन्देह शोक के स्थायीभाव होने पर जो विभाव-अनुभाव हैं उनके समुचित चित्तवृत्ति चर्व्यमाण रूप रस हो जाया करती है। इस औचित्य के आधार पर स्थायीभाव रस की दशा को प्राप्त कर लिया करता है, ऐसा कहा जाता है। पहले अपने में संविदित (अनुभूत) तदनन्तर दूसरे में अनुमित चित्तवृत्तिसमूह संस्कार के क्रम से हृदय संवाद को प्राप्त करता हुआ चर्वणा में उपयोगी होता है। जब कि प्रतीयमान रूप आत्मा है; उसमें तीन भेदों का प्रतिपादन हुआ है न कि एकमात्र रस रूप प्रतीयमान [ही प्रतिपादित है] इस इतिहास में रस का ही आत्मभूतत्व कहा गया है। ऐसी शङ्का करके स्वीकृतिपूर्वक उत्तर दे रहे हैं—'प्रतीयमान के'। अन्य भेद अर्थात् वस्तु और अलंकाररूप भेद भाव शब्द के प्रयोग द्वारा यह कहा गया है कि चर्वणागोचर व्यभिचारीभाव की भी प्राणरूपता होती है। यद्यपि उतने में ही विश्रान्ति न होने पर भी स्थायीभाव की चर्वणा के पर्यवसानरूप उचित 'रस' की प्रतिष्ठा को न प्राप्त करके भी प्राणत्व बन जाता है, यह कहा है। जैसे—

'नख को नख के अग्रभाग से घिसती हुई, चञ्चल वलय [कङ्कण] को इधर-

उधर हटाती हुई और गंभीर स्वर में बजते हुए नूपुरों से युक्त अपने पैर से धीरे-धीरे भूमि को कुरेदती हुई।'

यहाँ पर लज्जा का। 'रस और भाव' शब्दों से उनके प्रयास और प्रशम संगृहीत हो जाते हैं। क्योंकि अवान्तर वैचित्र्य होने पर भी वे एक ही रूप के हैं। प्राधान्य से—। अर्थात् रस में पर्यवसान से। अभिप्राय यह है कि वस्तु और अलंकार के स्वरूपमात्र में विश्रान्ति के न होने पर भी दूसरे शब्द का बोध से वैलक्षण्यकारी होने के कारण औचित्य होने से वस्तुध्वनि तथा अलङ्कार ध्वनि का भी जीवितत्व कह दिया गया है ॥ ५ ॥

(आशुबोधिनी)

['चर्वणा'—पुनः पुनः आस्वादनरूप एक अलौकिक व्यापार है। इसके द्वारा चित्तवृत्ति का रसानुभूति की दशा में आस्वादन हुआ करता है। इसके पूर्व चित्तवृत्ति हृदयसंवाद की स्थिति में पहुँच कर तन्मयीभाव को प्राप्त किया करती है। तभी उसकी 'चर्वणा' हुआ करती है।]

यदि शोक की चर्वणा द्वारा श्लोक की उत्पत्ति मान ली जाय तो यह कह सकना कैसे संभव हो सकता है कि 'प्रतीयमान वस्तु' काव्य की आत्मा है? इस शङ्का का ही समाधान करने की दृष्टि से मूल में कहा गया है कि 'शोक' करुण रस का ही स्थायीभाव है। शोक की चर्वणा का प्रत्यक्षीकरण ही करुणरस की आत्मा है। इसी कारण करुणरस का स्थायीभाव 'शोक' माना गया है। शोक के स्थायीभाव होने पर इसके जितने भी विभाव, अनुभाव हुआ करते हैं, करुण के अनुकूल उन सभी की एक चितृवृत्ति बन जाया करतो है। जब उस चित्तवृत्ति का आस्वादन किया जाया करता हैं तब वही रस को रूपता को धारण कर लिया करती है। रस के आस्वादन में स्थायोभाव की यही उपयोगिता है। इसी कारण यह कहा जाता है कि स्थायीभाव ही विभाव आदि से पुष्ट होकर रस की रूपता को प्राप्त किया करता है।

रति, शोक, क्रोध आदि भावों का लोक प्रतिदिन अनुभव किया जाया करता है। ये सभी भाव हमारी चित्तवृत्ति में स्थायी रूप से रहा करते हैं। जब हम विभाव, अनुभाव और संचारीभावों के माध्यम द्वारा अन्य व्यक्तियों में बसे अनुमित अर्थात्प्रतीति के योग्य करते हैं तब संस्कारों की परम्परा से वह भाव हमारे

हृदयगतभाव के साथ मेल खा जाया करता है। इस भाँति का वह भाव आस्वादन करानेमें उपयोगी होता है।

अब यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि प्रतीयमान अर्थ को काव्य की आत्मा कहा गया है। प्रतीयमान अर्थ तीन प्रकार का होता है वस्तु, अलंकार और रस की दृष्टि से। किन्तु 'रस' को ही काव्य की आत्मा बतलाया गया है। ऐसी स्थिति में प्रतीयमान अर्थमात्र को काव्य की आत्मा क्यों कहा गया है? इसी के समाधानहेतु यह लिखा गया है कि 'यद्यपि प्रतीयमान के दूसरे भेद भी दृष्टिगोचर होते हैं किन्तु उनमें प्रमुखता रस तथा भाव की ही हुआ करती है। यहाँ पर रस-ध्वनि के अतिरिक्त भावध्वनि को भी स्थान प्रदान किया गया है। रस से पृथक् 'भावध्वनि' कहने का अभिप्राय यह है कि यदा कदा व्यभिचारीभाव का आस्वादन भी रस के रूप में हो जाया करता है। हाँ, इतना अवश्य है कि रस के जैसा न तो आस्वादन ही इसमें होता है और न उसे रस जैसी प्रतिष्ठा ही प्राप्त हुआ करती है। फिर भी उतने से ही सम्बन्धित व्यभिचारीभाव भी उस काव्य का प्राण बन जाया करता है। जैसे—

'नायिका अपने नाखून को दूसरे नाखुन के अग्रभाग से घिस रही थी। चंचल कंकण को बार-बार एक ओर से दूसरी ओर हटा रही थी तथा अपने पैर के नाखून से पृथ्वी को कुरेद रही थी जिसके कारण नूपुरों से निकलने वाला शिञ्जा-शब्द अत्यन्त मधुर तथा गंभीर प्रतीत हो रहा था।'

इस उदाहरण में 'लज्जा' नामक भाव ही ध्वनि-काव्य का प्राण है। 'रस' तथा 'भाव' शब्दों से उनके आभास तथा उनके प्रशम का भी ग्रहण हो जाता है। यद्यपि इसमें अवान्तर विचित्रता हुआ करती है फिर भी एकरूपता तो होती ही है। प्रधानता रस एवं भाव की ही हुआ करती है। अभिप्राय यह है कि आस्वादन का अन्त रस एवं भाव में ही हुआ करता है। इस कारण इनकी प्रधानता हुआ करती है। यद्यपि केवल वस्तु और अलंकार में काव्य के रसास्वादन की विश्रान्ति नहीं हुआ करती है किन्तु फिर भी अन्य शब्दबोध की अपेक्षा इनमें भी कुछ न कुछ वैचित्र्य हुआ ही करता है। इसी औचित्य के कारण इनको भी काव्य का प्राण कह दिया गया है।

['क्रौंचवध' से सम्बन्धित जिस घटना का उल्लेख यहाँ किया गया है वह

वाल्मीकि रामायण के प्रारम्भ में देखने को मिलती है। 'मा निषाद……'इत्यादि श्लोक में एकम् पद पुल्लिङ्ग में प्रयुक्त है। इससे स्पष्ट होता है कि उस जोड़े में से क्रौञ्च (नर) ही मारा गया था तथा उसके वियोग में क्रौंञ्चीद्वारा रुदन किया जा रहा था। इससे अगला श्लोक है :—

तं शोणितपरीताङ्गं चेष्टमानं महीतले।
दृष्ट्वा क्रौञ्ची रुरोदार्ता करुणं खे परिभ्रमा॥

इससे पूर्णतया यह स्पष्ट होता है कि बध क्रौञ्च का ही हुआ था और उसके वियोग में क्रौञ्ची रो रही थी।

किंतु ध्वन्यालोककार ने अपने वृत्तिभाग में 'निहतसहचरीविरहकातरक्रौञ्चाक्रन्दजनितः' इस प्रकार का पाठ दिया है। जिससे प्रतीत होता है कि वध क्रौञ्ची का हुआ है और इसके शोक में कौञ्च रुदन कर रहा है। लोचनकार ने भी इसी की पुष्टि की है।

आचार्य विश्वेश्वर ने इसकी निम्नलिखितरूप में व्याख्या कर ध्वन्यालोककार के साथ सङ्गति बैठाने का प्रयास किया है :—'निहतः सहचरीविरहकातरश्चासौ क्रौञ्च इति निहतसहचरीविरहकातरक्रौञ्चः तदुद्देश्यकारकः क्रौञ्चीकर्तृको यः आक्रन्दः तज्जनितः शोकः।' इस निहत पद सहचरी का विशेषण नहीं बनता है तथा निहतः और सहचरीविरहकातरः ये दोनों विशेषण क्रौञ्ची के हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि संसार में भी सांसारिक पुरुष को मरते समय अपने स्त्री-बच्चों का वियोग दुःखी किया करता है, इसी भाँति बाणविद्ध वह क्रौञ्च भी अपनी सहचरी के विरह से कातर था। उसके उद्देश्य में रखकर क्रौञ्ची का जो क्रन्दन, उससे उत्पन्न शोक आदिकवि वाल्मीकि का शोक श्लोकरूप में परिणत हो गया। ऐसा अर्थ कर लेने पर मूलवृत्ति से जो रामायण का विरोध प्रतीत हो रहा है उसका परिहार हो जाता है।]

ध्वन्यालोकः

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेशम्॥ ६॥

तत् वस्तुतत्वं निःष्यन्दमाना महतां कवीनां भारती अलोकसामान्यं प्रतिभाविशेषं परिस्फुरन्तं अभिव्यनक्ति। येनास्मिन्नतिविचित्रकवि-

परम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा एव वा महाकवय इति गण्यन्ते ॥ ६ ॥

उस आस्वादयुक्त [रस भाव रूप] अर्थतत्व को प्रवाहित करने वाली महाकवियों की सरस्वती [वाणी], उनके अलौकिक, प्रतिभासमान, प्रतिभा [अपूर्ववस्तुनिर्माणसमर्था प्रज्ञा] के वैशिष्ट्य को अभिव्यक्त करती है ॥ ६ ॥

उस [प्रतीयमान रस भाव आदि] अर्थतत्व को प्रवाहित करने वाली महाकवियों की वाणी [उनके] अलौकिक प्रतिभासमान प्रतिभाविशेष को प्रकट करती है। जिसके कारण नानाप्रकार के कवियों की परम्परा से युक्त इस संसार में कालिदास प्रभृति दो–तीन अथवा पाँच छः ही महाकवि गिने जाते हैं।

[लोचनम्]

एवमितिहासमुखेन प्रतीयमानस्य काव्यात्मतां प्रदर्श्य स्वसंवित्तिसिद्धमप्येतदिति दर्शयतिसरस्वतीति। वाग्रूपा भगवतीत्यर्थः। वस्तुशब्देनार्थशब्दं तत्त्वशब्देन च वस्तुशब्दं व्याचष्टे—निःष्यन्दमानेति। विद्यमानस्वदरसं स्वयमेव प्रस्नुवानेत्यर्थः। यदाह भट्टनायकः—

वाग्धेनुर्दुग्ध एतं हि रसं यद्बालतृष्णया।
तेन नास्य समः स स्याद् दुह्यते योगिभिर्हि यः॥

तदावेशेन विनाप्याक्रान्त्या हि यो योगिभिर्दुह्यते। अतएव—

यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे।
भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम्॥

इत्यनेन साराग्रूपवस्तुपात्रत्वं हिमवत उक्तम्। 'अभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तमिति'। प्रतिपत्तृन् प्रति सा नानुनीयमाना, अपि तु तदावेशेन भासमानेत्यर्थः। यदुक्तमस्मदुपाध्यायभट्टतौतेन—'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः'। इति। 'प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा। तस्याः विशेषो रसावेशवैशद्यसौन्दर्यं काव्यनिर्माणक्षमत्वम्। यदाह मुनिः—'कवेरन्तर्गतं भावम्' इति। येनेति। अभिव्यक्तेन स्फुरता प्रतिभाविशेषेण निमित्तेन महाकवित्वगणनेति यावत्॥ ६॥

इस भाँति इतिहास के प्रकार से 'प्रतीयमान' का काव्यात्मत्व प्रदर्शित करके [सहृदयों के] अपने अनुभव से भी सिद्ध है, यह दिखला रहे हैं—सर-

स्वती इत्यादि। 'वस्तु' शब्द से 'अर्थ' शब्द की और 'तत्त्व' शब्द से 'वस्तु' शब्द की व्याख्या करते हैं—प्रवाहित करती हुई, इत्यादि। अर्थात् दिव्य आनन्द [रस] को स्वयं ही प्रस्तुत करती हुई। जैसा कि भट्टनायक ने कहा है—

'वाणीरूपी गाय सहृदयरूपी बच्चे [बछड़े] की तृष्णा से इस (दिव्य) रस को प्रवाहित करती है। अतएव इसके सदृश वह (रस) रस नहीं हो सकता जिसे योगीजन दुहा करते हैं।'

जिसे योगीजन रसावेश के बिना ही केवल बलात्कारपूर्वक दुहा करते हैं। अतएव—

'दोहन क्रिया में चतुर दुहनेवाले मेरुपर्वत के विद्यमान रहने पर सब पर्वतों ने जिस हिमालय को वत्सरूप में कल्पितकर पृथु के द्वारा प्रदर्शित पृथिवी से चमकदार रत्नों और महौषधियों को दुहा।'

इसके द्वारा हिमालय की सम्पूर्ण वस्तुपात्रता कह दी गई है। 'परिस्फुरित होने वाले को अभिव्यक्त करती है।' अर्थात् प्रतिपत्ताओं [सहृदयजनों] के प्रति वह प्रतिभा अनुमानगम्य नहीं हुआ करती है। अपितु उसके [प्रतिभा के विषयीभूत रस के] आवेश से प्रकाशित होती है। जैसाकि हमारे उपाध्याय भट्ट तौत ने कहा—नायक, कवि और श्रोता का उससे समान अनुभव हुआ करता है। अपूर्व वस्तु के निर्माण में समर्थ प्रज्ञा का ही नाम 'प्रतिभा' है। उसकी विशेषता का अर्थ है—रस के आवेश के कारण उत्पन्न वैशद्य का सौन्दर्य तथा तद्रूप काव्य के निर्माण की क्षमता। जैसा कि मुनि ने कहा है—'कवि के अन्तर्गत भाव को·····'। अभिप्राय यह है कि अभिव्यक्त अथवा स्फुरित होने वाले प्रतिभाविशेषरूप निमित्त से महाकवित्व की गणना [महाकवियों की गणना] हुआ करती है॥ ६॥

(आशुबोधिनी)

इस प्रकार महाकवि वाल्मीकि के शोक की श्लोकरूप में हुई परिणति का उदाहरण उद्धृत कर इतिहास के आधार पर यह सिद्ध किया गया है कि प्रतीयमान-अर्थ ही काव्य की आत्मा हुआ करता है। इस (छठी) कारिका द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि प्रतीयमान अर्थ का काव्य की आत्मा होना स्वसंवेदन-सिद्ध है तथा जो वस्तु स्वसंवेदनसिद्ध हुआ करती है उस पर किसी को आपत्ति

नहीं हुआ करती है। इस कारिका का अभिप्राय यह है कि महाकवियों की वाणी उसी रसध्वनि, भावध्वनि आदिरूप प्रतीयमान-अर्थ को प्रवाहित किया करती है। वैसे तो साधारणतया व्यक्ति वाच्यार्थ द्वारा ही संसार में व्यवहार किया करते हैं किन्तु महाकवियों की वाणियों में व्यङ्ग्यार्थ का सौन्दर्य स्पष्ट रूप से झलका करता है जो कि उनकी विशिष्ट प्रकार प्रतिभा की परिचायक हुआ करती है। इसके लिये महाकवियों को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। उनकी प्रतिभा स्वयं ही स्फुरित हुआ करती है। प्रस्तुत कारिका में 'वाणी' के लिये 'सरस्वती' शब्द का प्रयोग किया गया है जिससे यह ध्वनित होता है कि कवि की वाणी देवताओं के समान पूज्य हुआ करती है। कारिका में प्रयुक्त 'अर्थ' शब्द से अभिप्राय है—व्यङ्ग्यार्थ अथवा रस, वस्तु तथा अलङ्कार। और वस्तु शब्द से अभिप्राय है सार अथवा तत्व। अतएव अर्थवस्तु शब्द का अर्थ हुआ व्यङ्ग्यार्थ का सार। कारिका में प्रयुक्त 'निष्यन्दमाना' शब्द भी विशेष अर्थ का बोधक है। इसका अभिप्राय है--महाकवियों की वाणियाँ दिव्य-आनन्द अर्थात् रस को प्रवाहित किया करती हैं। महाकवियों का अन्तःकरण जब किसी भाव से ओत- प्रोत हो जाया करता है तब वह आनन्द उसमें बन्द होकर नहीं रह जाता है, वह तो स्वयं ही प्रवाहित होने लगा करता है। योगी लोग भी आनन्द की उपलब्धि किया करते हैं किन्तु महाकवियों के तथा योगियो के आनन्द में बहुत अन्तर होता है। महाकवियों का आनन्द इहलौकिक है और योगियों का अलौकिक। भट्टनायक ने इस बात को निम्नलिखितरूप में स्पष्ट किया है—

'महाकवियों की वाणी एक दूध देने वाली गाय है। जिस भाँति गाय अपने बच्चे की प्यास बुझाने हेतु अपने थनों से स्वयमेव दुग्ध बहाने लगा करती है उसी भाँति सहृदयरसिकों की रससम्बन्धी पिपासा को शान्त करने हेतु महाकवियों की वाणी रसरूपी दुग्ध को स्वयं ही प्रवाहित करने लगा करती है। योगीजन ब्रह्म-साक्षात्कार के लिए योग आदि का आश्रय लेकर जिस परमानन्द की अनुभूति किया करते हैं, उसकी अपेक्षा सहृदयों के लिये स्वयं ही प्राप्त हुआ महाकवियों की वाणियों का रस रूपी दूध कहीं अधिक उत्तम हुआ करता है।

इसी दृष्टि से कालिदास ने कुमारसंभव में हिमालय का वर्णन करते हुए लिखा है--

'राजा पृथु के उपदेश के आधार पर जिस समय पृथ्वी रूपी गाय से देदीप्यमान रत्न तथा औषधियाँ दुही गईं उस समय दोहन-क्रिया में चतुर सुमेरु दुहने वाला था तथा सभी पर्वतों ने हिमालय को बछड़ा बनाया था।'

यहाँ पर हिमालय को वत्स (बछड़ा) कहने का कालिदास का अभिप्राय यह है कि हिमालय ही तत्वभूत प्रमुख रत्नों तथा औषाधियों का पात्र है। जिस भाँति बछड़ा ही उत्तम अथवा श्रेष्ठ दुग्ध के पान का आनन्द प्राप्त किया करता है उसी भाँति सहृदयजन ही काव्य के वास्तविक आनन्द को अनुभूति किया करता है।

वस्तुतः महाकवियों की वाणी स्वयं ही व्यङ्ग्यार्थ को प्रवाहित किया करती है। यह एक प्रकार की गाय है कि जो सहृदयरूपी बछड़ों को स्वयं दिव्य रस पिलाकर आनन्दित किया करती है। कहने का भाव यह है कि इससे कवियों की प्रतिभा-विशेष का ज्ञान प्राप्त होता है। जो कविता जितना ही रस की अनुभूति कराती है उतना ही उससे कवि की प्रतिभा-वैशिष्ट्य का पता चला करता है।

कवि की इस प्रतिभा को अनुमान प्रमाण द्वारा जाना नहीं जा सकता है। कवियों में तो सहृदयता हुआ ही करती है। रसिक जनों में भी सहृदयता अपेक्षित होती है, अन्यथा उन्हें सहृदय कहा ही नहीं जा सकता है। ऐसे सहृदय काव्यमर्मज्ञों के हृदयों में रसानुभूति हुआ करती है। उन्हीं के अभ्यन्तर में आस्वादन की क्षमता हुआ करती है। आचार्य अभिनवगुप्त के उपाध्याय भट्ट तौत ने लिखा भी है—'कविता की महती सफलता इसीमें हुआ करती है कि उसके द्वारा यह प्रतीत होने लगे कि जिस भाव को नायक द्वारा जितनी गंभीरता के साथ अनुभव किया जा सका, उतनी ही गंभीरता के साथ कवि की अन्तरात्मा द्वारा भी उसका अनुभव किया गया तथा पाठकों, सामाजिकों अथवा दर्शकों द्वारा भी उसी गंभीरता तक पहुँचा जा सका।'

उसी प्रतिभा-विशेष के बल पर ही कवि की गणना महाकवि की श्रेणी में हुआ करती है। वैसे तो विश्व में हजारों की संख्या में कवि होते आये हैं किन्तु यह प्रतिभा-विशेष का ही चमत्कार है कि जो कालिदास आदि कुछ ही कवि महाकवि की श्रेणी में गिने जा सके।

'प्रतिभा' शब्द का अर्थ है—'अपूर्ववस्तु के निर्माण में समर्थ बुद्धि'। इसी

प्रतिभा का वैशिष्ट्य है—'रसावेश' के कारण उत्पन्न हुई निर्मलता से प्रयुक्त सौन्दर्यरूप काव्य-निर्माण की योग्यता।' इसी दृष्टि से भाव की परिभाषा करते हुये भरतमुनि ने लिखा भी है—'कवि के अन्तर्गत भाव को जो भावित किया करता है उसी का नाम 'भाव' है।

दो-चार अथवा पाँच-छह महाकवियों के होने सम्बन्धी जो बात कही गई है उससे अभिप्राय यह है कि 'महाकवि पद की उपलब्धि हेतु स्फुरणशील प्रतिभा-विशेष की अभिव्यक्ति का होना पूर्णतया अनिवार्य है।'

ध्वन्यालोकः

इदं चापरं प्रतीयमानस्यार्थस्य सद्भावसाधनं प्रमाणम्—

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्॥ ७॥

और यह प्रतीयमान अर्थ की सत्ता को सिद्ध करनेवाला दूसरा प्रमाण है:—

वह [प्रतीयमान अर्थ] शब्दशासन और अर्थशासन [अर्थात् व्याकरण और कोश] के ज्ञानमात्र से ही नहीं जाना जाता है, अपितु वह तो केवल काव्य के तत्व को जानने वाले लोगों के द्वारा ही जाना जाता है॥ ७॥

सोऽर्थो यस्मात्केवलं काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव ज्ञायते। यदि च वाच्यरूप एवासावर्थः स्यात्तद्वाच्यवाचकरूपपरिज्ञानादेव तत्प्रतीतिः स्यात्। अथ च वाच्यवाचकलक्षणमात्रकृतश्रमाणां काव्यतत्त्वार्थभावनाविमुखानां स्वर-श्रुत्यादिलक्षणमिवाऽप्रगीतानां गान्धर्वलक्षणविदामगोचर एवासावर्थः।

उस अर्थ [रस रूप तृतीय प्रतीयमान अर्थ अथवा रसध्वनि] का ज्ञान केवल काव्यार्थ के तत्त्व को जानने वालों द्वारा ही जाना जाता है। यदि रसरूप यह अर्थ वाच्यरूप होता तो उसकी प्रतीति वाच्य और वाचक के परिज्ञान मात्र से ही की जा सकती थी। और भी। वाच्य-वाचक के लक्षणमात्र में ही जिन्होंने परिश्रम किया है तथा जो काव्यतत्त्वार्थ की भावना से विमुख रहे है उनके लिये भी [रसरूप] यह अर्थ, गाने में असमर्थ, किन्तु गन्धर्व [संगीत शास्त्र] के लक्षणों को जानने वालों के लिये स्वर, श्रुति आदि के तत्त्व के समान, अगोचर ही है॥ ७॥

[लोचनम्]

इदं चेति। न केवलं 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इत्येतत्कारिकासूचितौ स्वरूप-विषयभेदावेव; यावद्भिन्नसामग्रीवेद्यत्वमपि वाच्यातिरिक्तत्वे प्रमाणमिति यावत्। वेद्यते इति। न तु न वेद्यते, येन न स्यादिति भावः। काव्यस्य तत्त्व-भूतो योऽर्थस्तस्य भावना वाच्यातिरेकेणानवरतचर्वणा तत्र विमुखानाम। स्वराः षड्जादयः सप्त। श्रुतिर्नाम शब्दस्य वैलक्षण्यमात्रकारि यद्रूपान्तरं तत्परिमाणा स्वरतदन्तरालोभयभेदकल्पिता द्वाविंशतिविधा। आदिशब्देन जात्यंशकग्राम-रागभाषाविभाषान्तरभाषादेशीमार्गा गृह्यन्ते। प्रकृष्टं गीतं गानं येषां ते प्रगीताः, गातुं वा प्रारब्धा इत्यादि कर्मणि क्तः। प्रारम्भेण चात्र फलपर्यन्तता लक्ष्यते ॥ ७ ॥

और यह। केवल 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इस कारिका द्वारा बतलाया गया स्वरूप और विषयगत भेद ही नहीं होते, अपितु भिन्न सामग्री द्वारा वेद्यत्व [प्रतीयमान=व्यङ्ग्य के] वाच्य से पृथक् होने में प्रमाण है। जाना जाता है— निर्वेदित नहीं किया जाता है, ऐसा नहीं है जिससे इसकी सत्ता सिद्ध न हो, यह भाव है। काव्य का तत्वभूत जो अर्थ उसकी भावना अर्थात् निरन्तर वाच्य से भिन्नरूप में निरन्तर चर्वणा, उसमें जो विमुख है। स्वर षड्ज आदि सात हुआ करते हैं। शब्द की विलक्षणतामात्र उत्पन्न करने वाला जो रूपान्तर है उसके परिमाण की 'श्रुति' हुआ करती है वह स्वर तथा उसके मध्यवर्ती दोनों के भेदों द्वारा कल्पित की हुई बाईस प्रकार की होती है। आदि शब्द से जात्यंश, ग्राम, राग, भाषा, विभाषा, अन्तरभाषा, देशीमार्ग आदि का ग्रहण किया जाता है। प्रकृष्ट गीत अथवा गान है जिनका वे 'प्रगीत' हैं अथवा जिनके द्वारा गाना प्रारम्भ किया गया है इस अर्थ में आदि 'कर्म' में 'क्त' प्रत्यय है। प्रारम्भ से यहाँ पर फलपर्यन्तता लक्षित होती है।

(आशुबोधिनी)

'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इत्यादि चतुर्थ कारिका में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि वाच्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ में स्वरूपभेद के साथ ही साथ विषयभेद भी हुआ करता है। पंचमकारिका में इतिहास के प्रमाण द्वारा व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता को बतलाया गया तथा छठी कारिका में उसे स्वसंवेदनासिद्ध रूप में स्पष्ट किया

गया। सप्तम कारिका द्वारा वाच्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ की ग्राहक-सामग्री में भी भेद हुआ करता है, यह स्पष्ट किया जा रहा है। इस कारिका का भाव यह है कि जिस भाँति वाक्यार्थ की प्रतीति शब्दानुशासन के ज्ञानमात्र द्वारा हो जाया करती है उसी भाँति केवल उतने ही से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति का होना संभव नहीं है। उसकी प्रतीति के निमित्त तो काव्य के तत्व का ज्ञाता होना आवश्यक है। जिस भाँति गान्धर्व विद्या के ज्ञाता ही सङ्गीत के वास्तविक तत्व को समझ पाया करते है उसी भाँति काव्य के तत्व को जानने वाले ही व्यङ्ग्यार्थ को समझ लिया करते हैं। वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के भेद को सिद्ध करने वाला यह भी एक प्रमाण है। इस प्रस्तुत कारिका में 'वेद्यते' इस क्रिया का दो बार प्रयोग हुआ है। प्रथम बार में प्रयोग यह बतलाता है कि शब्दानुशासन तथा अर्थानुशासन के आधार पर व्यङ्ग्यार्थ को जाना जा सकना संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में यह सन्देह किया जा सकता था कि जिसका ज्ञान शब्दानुशासन तथा अर्थानुशासन के आधार पर किया जाना संभव नहीं है तो फिर उसकी सत्ता का होना भी संदेहास्पद ही बना रहता। इसी दृष्टि से द्वितीय बार जो 'वेद्यते' इस क्रिया का प्रयोग किया गया है वह यह स्पष्ट करता है कि काव्य के तत्व के ज्ञाताओं को ही उस [व्यङ्ग्यार्थ] की प्रतीति हुआ करती है। अतएव इस सम्बन्ध में सन्देह करने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

ऊपर गान्धर्वविद्या जाननेवालों का दृष्टान्त दिया गया है। इस प्रसङ्ग में बालप्रिया टीकावाले वाराणसेय संस्करण में 'अप्रगीतानाम्' यह पाठ उपलब्ध होता है। निर्णयसागरीय तथा 'दीधिति' वाले संस्करण में पदच्छेद के आधार पर 'प्रगीतानाम्' यह पाठ उपलब्ध होता है। लोचनकार द्वारा दोनों ही पाठों पर विचार किया गया है। दोनों ही प्रकार के पाठों का अर्थ 'नये रूप में गाना सीखने वाले गायक' होगा। 'अप्रगीतानाम्' पाठ मानने पर 'प्रकृष्टं गीतं गानं येषां ते प्रगीताः, न प्रगीताः अप्रगीताः' अर्थात् उत्कृष्ट प्रकार की गानविद्या के अनभ्यासी'—यह अर्थ होगा। 'प्रगीतानाम्' पाठ में 'आदि कर्मणि क्तः कर्त्तरि च' (अष्टाध्यायी ३।४।७१।।) सूत्र से कर्म में 'क्त' प्रत्यय होकर 'गातुं प्रारब्धाः प्रगीताः'—जिन्होंने गाना अभी प्रारम्भ किया है—यह अर्थ होगा।

अतएव अब अर्थ होगा कि जिस भाँति नौसिखिया गायक संगीत के वास्त-

विक आनन्द की उपलब्धि कर सकने में असमर्थ हुआ हुआ करता है क्योंकि रसास्वादन हेतु सङ्गीत के अभ्यास तथा प्रवृत्ति की आवश्यकता हुआ करती है, उसी भाँति मात्र वाच्य-वाचक के ज्ञान हेतु परिश्रम करने वाले व्यक्ति भी काव्य के वास्तविक रसास्वादन की अनुभूति नहीं कर सकते हैं क्योंकि उसके निमित्त तो काव्यचर्वणा के अभ्यास का चातुर्य ही अपेक्षित हुआ करता है।

लोचन में आये हुए 'स्वर', 'श्रुति' आदि शब्द भी सङ्गीतशास्त्र के परिभाषित शब्द हैं। 'स्वर' शब्द की व्युत्पत्ति है:—'स्वतः सहकारिकारणनिरपेक्षं रञ्जयति श्रोतुश्चित्तं अनुरक्तं करोतीति स्वरः' अर्थात् जो अन्यों की सहायता के बिना स्वतः ही श्रोता के हृदय अथवा चित्त को आह्लादित करे उसे 'स्वर' कहा जाता है। षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत तथा निषाद ये सप्त स्वर हुआ करते हैं। इन्हीं का संक्षिप्त रूप है :—स, रे, ग, म, प, ध, नि। स्वर के प्रथम अवयव को 'श्रुति' नाम से कहा जाया करता है। सङ्गीतरत्नाकर में इनका लक्षण इस भाँति वर्णित है:—

प्रथमश्रवणाच्छब्दः श्रूयते ह्रस्वमात्रकः।
स श्रुतिः सम्परिज्ञेया स्वरावयवलक्षणा ॥
श्रुत्यन्तरभावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः।
स्वतो रञ्जयति श्रोतुश्चित्तं स स्वर उच्यते ॥

ध्वन्यालोकः

एवं वाच्यव्यतिरेकिणो व्यङ्ग्यस्य सद्भावं प्रतिपाद्य प्राधान्यं तस्यैवेति दर्शयति—

सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः ॥ ८ ॥

स व्यंग्योऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन, न शब्दमात्रम्। तावेव शब्दार्थौ महाकवेः प्रत्यभिज्ञेयौ। व्यंग्यव्यञ्जकाभ्यामेव सुप्रयुक्ताभ्यां महाकवित्वलाभो महाकवीनाम् न वाच्य-वाचकरचनामात्रेण ॥ ८ ॥

इस भाँति वाच्यार्थ से भिन्न व्यङ्ग्य की सत्ता का प्रतिपादन करके प्राधान्य भी उस [व्यङ्ग्यार्थ] का ही है, यह दिखलाते हैं :—

वह [प्रतीयमान] अर्थ तथा उसकी अभिव्यक्ति करने में समर्थ विशेष शब्द

इन दोनों को भली-भाँति पहचानने का प्रयास महाकवि को [जिसे महाकवि बनना है उसको] करना चाहिए [क्योंकि वे शब्द और अर्थ महाकवि के ही हुआ करते हैं ।]

वह व्यङ्ग्यार्थ तथा उसको अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य से युक्त कोई विशेष शब्द [ही] हुआ करता है, शब्द मात्र [सभी शब्द] नहीं। महाकवि [बनने के इच्छुक] को वही शब्द और अर्थ भलीभाँति पहिचानने चाहिये । व्यङ्ग्य [अर्थ] और व्यञ्जक [शब्द] के समीचीन प्रयोग से ही महाकवि पद की प्राप्ति हुआ करती है । वाच्य-वाचक की रचनामात्र से नहीं ॥ ८ ॥

[लोचनम्]

एवमिति । स्वरूपभेदेन भिन्नसामग्रीज्ञेयत्वेन चेत्यर्थः । प्रत्यभिज्ञेयावित्यर्हार्थे कृत्यः, सर्वो हि तथा यतते इतीयता प्राधान्ये लोकसिद्धत्वं प्रमाणमुक्तम् । नियोगार्थेन च कृत्येन शिक्षाक्रमः उक्तः । प्रत्यभिज्ञेयशब्देनेदमाह—

'काव्यं तु जातु जायेत कस्यचित्प्रतिभावतः ।'

इस प्रकार — अर्थात् स्वरूपभेद से और भिन्न सामग्री द्वारा ज्ञेय होने से । कारिका में—'प्रत्यभिज्ञेयौ' शब्द में अर्ह अर्थ में कृत्य प्रत्यय हुआ है । सब लोग इस अंश में प्रयत्न करते हैं, 'सहृदयों द्वारा प्रत्यभिज्ञेय हैं' इसे कथन के द्वारा व्यङ्ग्य की प्रधानता के सम्बन्ध में लोकसिद्ध प्रमाण बतला दिया । नियोगार्थक कृत्य प्रत्यय के द्वारा शिक्षा का क्रम सूचित किया है । 'प्रत्यभिज्ञेय' शब्द से यह कहते हैं--

'काव्य तो कभी किसी प्रतिभाशाली कवि से उत्पन्न होता है ।'

(आशुबोधिनी)

प्रस्तुत कारिका में व्यङ्ग्यार्थ तथा व्यञ्जक सामग्री–दोनों को भली भाँति समझ लेने का सुझाव दिया गया है । इस कारिका में आये हुए 'प्रत्यभिज्ञेय' शब्द को समझ लेना परमावश्यक है। अर्थ है प्रत्यभिज्ञा के योग्य । प्रत्यभिज्ञा का लक्षण है:---

"तत्तेदन्तावगाहिनी प्रतीतिः प्रत्यभिज्ञा"

अर्थात् तत्ता [तद्देश और तत्काल] सम्बन्ध अर्थात् पूर्वदेश और पूर्वकाल सम्बन्ध] तथा इदन्ता [एतद्देश और एतत्काल] सम्बन्ध को अवगाहन करने

वाली प्रतीति को प्रत्यभिज्ञा कहा जाता है। यथा-'सोयं देवदत्तः' [यह वही देवदत्त है जिसे कि मैंने वाराणसी में देखा था। इसमें 'सः' पद तत्ता अर्थात् पूर्वदेश और पूर्वकाल सम्बन्ध को और 'अयम्' पद 'इदन्ता' अर्थात् एतद्देश और एतत्काल सम्बन्ध को बतलाया है। इस भाँति इस प्रतीति में 'तत्ता' और इदन्ता-'दोनों का बोध होने से इस प्रतीति को 'प्रत्यभिज्ञा' नाम से कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि परिचितवस्तु के पुनः दर्शन होने पर पूर्व वैशिष्ट्य सहित उसकी प्रतीति ही 'प्रत्यभिज्ञा' कहलाती है। हिन्दी में हम इसे 'भलीभाँति पहचान' कह सकते हैं। पहिचान में भी पूर्व तथा वर्तमान दोनों का सम्बन्ध प्रतीत हुआ करता है। 'प्रत्यभिज्ञेय' पद प्रति+अभि उपसर्ग पूर्वक 'ज्ञा' धातु से अर्ह अर्थ में 'अर्हे कृत्यतृचश्च' [अष्टा० ३।३।१६९] सूत्र के साथ एकवाक्यतापन्न 'अचोयत्' [अष्टा० २।३।९७] सूत्र से 'यत्' प्रत्यय होने पर बनता है। तथा 'कृत्य' प्रत्यय के योग में 'कृत्यानां कर्त्तरि वा' [अष्टा० २।३।७१] सूत्र के कर्त्ता में 'महाकवेः' में षष्ठी विभक्ति हुई है। शेष षष्ठी मानकर 'सहृदयैः महाकवेः सम्बन्धिनौ तौ शब्दार्थौ प्रत्यभिज्ञेयौ' अर्थात्-महाकवि के इस प्रकार के अर्थ और शब्द का प्रत्यभिज्ञान सहृदयों द्वारा किया जाना चाहिये। इस प्रकार की व्याख्या करने से इस प्रतीयमान अर्थ के प्राधान्य में सहृदय-लोकसिद्धत्व प्रमाण है, यह बात भी स्पष्ट हो जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि सभी लोग इसी भाँति के शब्द तथा अर्थ का प्रत्यभिज्ञान करने सम्बन्धी प्रयास किया करते हैं। इस भाँति सहृदयों के प्रयास की बात कहकर यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि व्यङ्ग्यार्थ के प्राधान्य में सहृदयों के हृदय ही प्रमाण हैं तथा उसका प्राधान्य लोकसिद्ध है। साथ ही नियोगार्थक कृत्य [यत्] प्रत्यय के प्रयोग द्वारा शिक्षा का क्रम अर्थात् कवि की शिक्षा का प्रकार भी ध्वनित हो जाता है।

अभी यह कहा जा चुका है कि महाकवि के लिये यह आवश्यक है कि वह व्यंग्यार्थ तथा व्यंजक शब्द को भलीभाँति पहिचान ले। अब यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि कवि जब स्वयं ही शब्द एवं अर्थ का जनक है तब वह उसे भलीभाँति पहिचान ले—इस कथन से क्या अभिप्राय है? उत्तर है—कि कवि व्यञ्जक शब्द तथा व्यंग्यार्थ का जनक नहीं हुआ करता है वरन् इस प्रकार के शब्द

और अर्थ स्वयं ही स्फुरित हुआ करते हैं। जैसाकि कहा भी गया है—

'किसी प्रतिभासम्पन्न कवि का काव्य संयोग से कभी स्वयं ही बन जाया करता है।'

[लोचनम्]

इति नयेन यद्यपि स्वयमस्यैतत्स्फुरति तथापीदमित्थमिति विशेषतो निरूप्यमाणं सहस्रशाखी भवति। यथोक्तमस्मत्परमगुरुभिः श्रीमदुत्पलपादैः—

तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनयस्तन्व्याः स्थितोऽप्यन्तिके
कान्तोलोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा।
लोकस्यव तथानवेक्षितगुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरो
नैवालं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता॥ इति॥

तेन ज्ञातस्यापि विशेषतो निरूपणमनुसन्धानात्मकमत्र प्रत्यभिज्ञानं, न तु तदेवेदमित्येतावन्मात्रम्। महाकवेरिति। यो महाकविरहं भूयासमित्याशास्ते। एवं व्यङ्ग्यस्यार्थस्य व्यञ्जकस्य शब्दस्य च प्राधान्यं वदता व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावस्यापि प्राधान्यमुक्तमिति ध्वनति ध्वन्यते ध्वननमिति त्रितयमप्युपपन्नमित्युक्तम्॥ ८॥

इस नीति से यद्यपि स्वयं उस [कवि] को यह स्फुरित होता है, फिर भी 'वह इस प्रकार का है' इस भाँति विशेषरूप से निरूपण किये जाने पर हजारों शाखाओं में बँट जाया करता है। जैसा कि हमारे परमगुरु श्रीमदुत्पलपाद ने कहा है—

जिस भाँति अनेक कामनाओं और प्रार्थनाओं के परिणामस्वरूप प्राप्त तथा रमणी के समीप स्थित होने पर भी जब तक वह अपने पति को पतिरूप में नहीं जान लेती है तब अन्य पुरुषों के सदृश होने के कारण वह उसके सहवास का सुख प्राप्त नहीं कर पाती है, उसी भाँति यह जगदीश्वर परमात्मा समस्त जगत् का आत्मभूत होने पर भी जब तक हम उसको पहचानते नहीं तब तक उसके आनन्द की अनुभूति नहीं कर सकते। इसी दृष्टि से उसकी पहिचान के लिये इस प्रत्यभिज्ञादर्शन का निर्माण किया गया है। अतएव ज्ञात का भी विशेषरूप से अनुसन्धानात्मक निरूपण यहाँ पर 'प्रत्यभिज्ञान' है, मात्र इतना ही नहीं कि 'यह नहीं है'। महाकवि के–। जो यह आशा करता है कि मैं महाकवि बन जाऊँइस भाँति

व्यंग्य अर्थ और व्यञ्जक-शब्द की प्रधानता का उल्लेख करते हुए व्यंग्य-व्यञ्जकभाव की भी प्रधानता कह दी गई है। इस प्रकार 'ध्वनित करता है', ध्वनित किया जाता है' तथा 'ध्वनन' ये तीनों ही उपपन्न हो जाते हैं, यह कहा गया।

(आशुबोधिनी)

कहने का तात्पर्य यह है कि काव्य का स्फुरण तो स्वयं ही हुआ करता है, प्रयत्नपूर्वक उसकी रचना कभी भी नहीं की जा सकती। किन्तु फिर भी उस काव्य की वास्तविकता का सही रूप में निरूपण किये जाने से वह संयोगवश भी उत्पन्न हुआ काव्य हजारों शाखाओं में विभक्त हो जाया करता है। यही अर्थ है 'प्रत्यभिज्ञा' का। इसी का परिचय देते हुए लोचनकार अभिनवगुप्त के आचार्य [परमगुरु] कहते हैं—

कोई नायिका किसी व्यक्ति का बिना प्रत्यक्ष किये हुए ही मात्र उसके रूप का वर्णन सुनकर उसे अपना प्रियतम मान लेती है और पत्र-लेखन, दूतसम्प्रेषण आदि साधनों द्वारा उसे अपने समीप बुलाने हेतु प्रयत्नशील रहती है। अकस्मात् वह व्यक्ति उसके समीप आ जाता है तथा उसके समीप में ही स्थित है। किन्तु नायिका यह नहीं समझ पाती है कि यह वही प्रियतम है कि जिसको अपने समीप बुलाने हेतु उसने अनेक प्रकार के प्रयत्न किये थे। वह उसे साधारण व्यक्ति ही समझ रही है। ऐसी स्थिति में क्या वह नायिका उसके साथ रमण करने में समर्थ हो सकती है? कदापि नहीं। यही बात आध्यात्मिक क्षेत्र में भी है कि परब्रह्म परमात्मा आत्मा से अभिन्न होने पर भी अपना विशेषरूप से प्रत्यभिज्ञान न किये जाने पर अपने गुणादि के वैभव को प्रकट नहीं किया करता है।

इसी भाँति शब्दों में भी इस प्रकार के विशिष्ट अर्थ को प्रकट करने की क्षमता स्वतः विद्यमान रहा करती है। हम प्रायः उस क्षमता से परिचित भी रहा करते हैं, किन्तु उस ओर प्रायः हमारा ध्यान जाया ही नहीं करता है। उसकी खोज तथा परिचय कराना ही महाकवि का कार्य है। ऐसे शब्दों का स्फुरण प्रतिभा के बल पर ही हुआ करता है। किन्तु जब तक इनकी रमणीयता की ओर ध्यान नहीं जाता है तब तक काव्य के वास्तविक आनन्द की अनुभूति नहीं हुआ करती है। ऐसी दशा में जो महाकवि अपने ही काव्य का स्वतः

रसास्वादन करने के इच्छुक हैं अथवा जो महाकवि बनने के अभिलाषी हैं उनके लिये यह आवश्यक है कि वे स्वयं स्फुरित होने वाले व्यञ्जक-शब्दों के वैशिष्ट्यों का ज्ञान प्राप्त करें। इस भाँति व्यञ्जकशब्द तथा व्यंग्य अर्थ दोनों के प्राधान्य को बतलाने से व्यञ्जना-वृत्ति का प्राधान्य स्वतः ही सिद्ध हो जाता है। 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग उपर्युक्त तीनों ही अर्थों में किया जा सकता है। जब हम 'ध्वनतीति ध्वनिः' ध्वनि शब्द की कर्तृवाचक प्रत्यय के द्वारा यह व्युत्पत्ति करेंगे तब ध्वनि का अर्थ होगा – ध्वनित करनेवाला व्यञ्जकशब्द। जब कर्मवाच्य द्वारा 'ध्वन्यते इति ध्वनिः' ऐसी व्युत्पत्ति करेंगे तब अर्थ होगा 'जो ध्वनित किया जाय' अर्थात् 'व्यङ्ग्यार्थ'। किन्तु जब संज्ञार्थक 'ल्युट्' प्रत्यय किया जायगा तब 'ध्वननमिति ध्वनिः' तब अर्थ होगा 'ध्वनित करनेवाला व्यापार' अर्थात् व्यञ्जना वृत्ति। इस भाँति उपर्युक्त तीनों ही अर्थों की सार्थकता सिद्ध हो जाती है॥ ८॥

ध्वन्यालोकः

इदानीं व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोः प्राधान्येऽपि यद्वाच्यवाचकावेव प्रथममुपाददते कवयस्तदपि युक्तमेवेत्याह –

अलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः॥ ९॥

यथा ह्यालोकार्थी सन्नपि दीपशिखायां यत्नवाञ्जनो भवति तदुपायतया। न हि दीपशिखामन्तरेणालोकः सम्भवति तद्वद् व्यङ्ग्यमर्थं प्रत्यादृतो जनो वाच्येऽर्थे यत्नवान् भवति। अनेन प्रतिपादकस्य कवेर्व्यङ्ग्यमर्थं प्रति व्यापारो दर्शितः॥ ९॥

अब व्यङ्ग्य [अर्थ] और व्यञ्जक [शब्द] की प्रधानता होते हुए भी कविजन जो पहले वाच्य तथा वाचक का ही उपपादन किया करते हैं वह भी ठीक ही है, यह बतलाते हैं—

जिस भाँति आलोक [आलोकनं = आलोकः–वनितावदनारविन्दादिविलोकनमित्यर्थः—अर्थात् पदार्थ का दर्शन] की इच्छा रखने वाला व्यक्ति उसका उपाय होने के कारण दीपशिखा [के सम्बंध में] यत्न किया करता है, उसी भाँति व्यङ्ग्यार्थ में आदर का भाव रखनेवाला कवि वाच्यार्थ का उपपादन पहले किया करता है।

जिस प्रकार प्रकाश की इच्छा रखता हुआ व्यक्ति दीप-शिखा के सम्बन्ध में उपाय [साधन] रूप होने से प्रयत्न किया करता है [क्योंकि प्रकाश उपाय (साधन) दीप की शिखा ही है]। दीप की शिखा के बिना आलोक [प्रकाश] का होना सम्भव नहीं है। इसी भाँति व्यङ्ग्य-अर्थ के प्रति आदर से युक्त होता हुआ होने पर भी वाच्य-अर्थ के लिये प्रयत्न किया करता है। इसके द्वारा प्रतिपादक [वक्ता] कवि का व्यङ्ग्य-अर्थ के प्रति व्यापार दिखाया है।

[लोचनम्]

ननु प्रथमोपादीयमानत्वाद्वाच्यवाचकतद्भावस्यैव प्राधान्यमित्याशङ्क्योपायानामेव प्रथममुपादानं भवतीत्यभिप्रायेण विरुद्धोऽयं प्राधान्ये साध्ये हेतुरिति दर्शयति—इदानीमित्यादिना। आलोकनमालोकः वनितावदनारविन्दादिविलोकनमित्यर्थः। तत्र चोपायो दीपशिखा ॥ ९ ॥

इसमें सन्देह नहीं कि प्रथम उपादीयमान होने के कारण वाच्य, वाचक तथा उनके व्यापार [वाच्य-वाचकभाव] की ही प्रधानता होती है। ऐसी आशङ्का करके उपायों का ही पहले उपादान होता है, इस अभिप्राय से प्राधान्यरूप साध्य में यह हेतु [प्रथमोपादीयमानत्वरूप] विरुद्ध है, यह दिखला रहे हैं, इदानीं इत्यादि के द्वारा। आलोक का अर्थ है आलोकन [देखना—चाक्षुष ज्ञान] ही आलोक है अर्थात् वनिता [स्त्री] के वदनारविन्द [मुखकमल] आदि का अवलोकन। उसके लिये उपाय है—दीपशिखा ॥ ९ ॥

(आशुबोधिनी)

इससे पूर्व व्यङ्ग्य [अर्थ] व्यञ्जक [शब्द] तथा व्यञ्जना-व्यापार की प्रधानता सिद्ध की जा चुकी थी। इस विषय में यहाँ एक आशङ्का उत्पन्न होती है कि जब वाच्य [अर्थ] वाचक [शब्द] तथा अभिधा-व्यापार उपादान पहले किया जाया करता है तो उन्हीं की प्रधानता मानना उचित है। व्यङ्ग्य, व्यंजक तथा व्यञ्जनाव्यापार का उपादान तो बाद में हुआ करता है तो फिर उसकी प्रधानता कैसे सिद्ध हो सकती है ?

इसी शङ्का का उत्तर उपर्युक्त कारिका द्वारा दिया गया है। यद्यपि व्यंग्य-व्यञ्जकभाव की ही प्रधानता काव्य में हुआ करती है तथापि चूँकि उसका बोध वाच्य-वाचकभाव द्वारा ही हुआ करता है। इसी कारण कविजन उपाय के रूप

में वाच्यवाचकभाव का उपादान पहले किया करते हैं। यह स्वाभाविक नियम है कि उपाय और उपेय में प्रधानता उपेय की ही हुआ करती है। चूंकि उपेय की प्राप्ति से पूर्व उपाय का होना आवश्यक हुआ करता है। इसी दृष्टि से उपाय को पहले प्रस्तुत करना होता है।

इसी की पुष्टि में ध्वनिकार ने आलोक और दीपशिखा के उद्धरण को प्रस्तुत किया है। जिस भाँति आलोक [प्रकाश] की उपलब्धि दीपशिखा के बिना होना संभव नहीं है। अतएव आलोक की प्राप्ति के लिये प्रथम दीपशिखा को प्राप्त करना होता है। इसी भाँति व्यङ्गय-व्यञ्जक की उपलब्धि वाच्य-वाचक द्वारा ही हुआ करती है। अतएव कविजन काव्य में वाच्य-वाचक भाव का उपादान पहले किया करते हैं।

लोचनकार द्वारा 'आलोक' पद की व्याख्या यह की गई है कि देखना ही 'आलोक' है अर्थात् स्त्री के मुखकमल आदि को देखना। इसके लिये उपाय दीपक की ज्वाला ही है। अर्थात् अन्धकार में अपनी प्रेयसी के मुख-कमल को देखने के लिये किसी भी व्यक्ति को पहले दीपक की शिखा को ही प्रज्वलित करना पड़ा करता है। यहाँ दीपशिखा ही उपाय है, अतः उसका पहले होना आवश्यक है। 'देखना' उपेय है तथा प्रधानता भी उसी की है। इसी भाँति व्यङ्गय-व्यंजक की प्रधानता होने पर भी वाच्य-वाचक का उपादान पहले किया जाया करता है क्योंकि उसी के द्वारा व्यङ्गय, व्यंजकभाव की प्रतीति हुआ करती है। व्यङ्गयार्थ ही कवि का प्रमुख लक्ष्य हुआ करता है, अतएव कवि की दृष्टि में प्रधानता उसी की हुआ करती है।

ध्वन्यालोकः

प्रतिपाद्यस्यापि तं दर्शयितुमाह—

यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते।
वाच्यार्थपूर्विका तद्वत्प्रतिपत्तस्य वस्तुनः॥ १०॥

यथा हि पदार्थद्वारेण वाक्यार्थावगमस्तथा वाच्यार्थप्रतीतिपूर्विका व्यंग्यार्थस्य प्रतिपत्तिः॥ १०॥

अब प्रतिपाद्य [वाच्यार्थ] के भी उस [व्यङ्गयबोधन के प्रति व्यापार] को दिखलाने हेतु कहते हैं—

जिस भाँति पदार्थ द्वारा [पदार्थों की उपस्थिति होने के पश्चात् पदार्थ-संसर्गरूप] वाक्यार्थ की प्रतीति हुआ करती है उसी भाँति उस [व्यङ्ग्य] अर्थ की प्रतीति वाच्यार्थ [के ज्ञान] पूर्वक हुआ करती है।

जिस प्रकार पदार्थ द्वारा वाक्यार्थ का बोध हुआ करता है उसी भाँति वाक्यार्थ की प्रतीति पूर्वक व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हुआ करती है।

[लोचनम्]

प्रतिपदिति भावे क्विप्। 'तस्य वस्तुनः' इति व्यङ्ग्यरूपस्य सारस्येत्यर्थः। अनेन श्लोकेनात्यन्तसहृदयो यो न भवति तस्यैष स्फुटसंवेद्य एव क्रमः। यथात्यन्तशब्दवृतज्ञो यो न भवति तस्य वाक्यार्थक्रमः। कष्ठाप्राप्तसहृदयभावस्य तु वाक्यवृत्तकुशलस्येव सन्नपि क्रमोऽभ्यस्तानुमानाविनाभावस्मृत्यादिवदसंवेद्य इति दर्शितम् ॥ १० ॥

'प्रतिपत्' इस शब्द में भाव में 'क्विप्' प्रत्यय है। 'उसवस्तु की' अर्थात् व्यङ्ग्यरूप सार पदार्थ की। इस श्लोक के द्वारा यह दिखलाया गया है कि जो व्यक्ति अत्यन्त सहृदय नहीं हुआ करता है उसके लिये यह क्रम स्फुटरूप में संवेद्य ही हुआ करता है। जिस भाँति जो व्यक्ति अत्यन्त शब्द और वृत्त को जानने वाला [वाक्य का ज्ञाता] नहीं होता है उसके लिये पदार्थ और वाक्यार्थ का क्रम हुआ करता है। तथा जो सहृदयता की पराकाष्ठा [उत्कर्ष] तक पहुँचा है उस वाक्यवृत्त में कुशल पुरुष की भाँति होता हुआ भी क्रम उस प्रकार असंवेद्य है कि जिस भाँति अनुमान, व्याप्तिस्मृति आदि के अभ्यस्त व्यक्ति के लिये; यह दिखला दिया गया ॥ १० ॥

(आशुबोधिनी)

वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता के सम्बन्ध में दो प्रकार के दृष्टिकोणों के आधार पर विचार किया जा सकता है—(१) कवि के दृष्टिकोण से तथा (२)—सहृदय व्यक्ति के दृष्टिकोण से। नवम कारिका में कवि की दृष्टि से विचार किया जा चुका है। अब प्रस्तुत कारिका में सहृदय व्यक्ति के दृष्टिकोण से विचार किया जा रहा है। यह सहृदय व्यक्ति पाठक, श्रोता अथवा दर्शक हो सकता है। इसकी दृष्टि से भी व्यङ्ग्यार्थ की ही प्रधानता हुआ करती है। ऐसा होने पर भी वह पहले वाच्यार्थ में ही क्यों प्रवृत्त हुआ करता है? इसी

बात को प्रस्तुत कारिका में दिखलाया गया है ।

प्रतिपादक और प्रतिपाद्य ये दो शब्द हैं । प्रतिपादक 'शब्द' हुआ करता है तथा प्रतिपाद्य 'अर्थ' किन्तु इन दोनों शब्दों का प्रयोग इस स्थान पर इन अर्थों में नहीं हुआ है । नवम कारिका में प्रतिपादक का अर्थ है—'कवि' और दशम में प्रतिपादक का अर्थ है 'सहृदय व्यक्ति' जिसके लिये कवि प्रतिपादन किया करता है ।

प्रस्तुत कारिका में प्रतिपत्तस्य का पदच्छेद है—'प्रतिपत्+तस्य' । प्रति [उपसर्ग]+पद् [धातु] + क्विप् [भावे]=प्रतिपत् । इसका अर्थ है 'ज्ञान' । जिन लोगों का भाषा अथवा वाक्यार्थ ज्ञान पर पूरा अधिकार नहीं हुआ करता है उनको पहले पदार्थ ज्ञान करना होता है । तदनन्तर वाक्यार्थ समझ में आया करता है किन्तु जिसका भाषा पर अधिकार है, यद्यपि वे भी वाक्यार्थ ज्ञान को पदार्थज्ञानपूर्वक ही किया करते हैं, किन्तु फिर भी वह इतनी शीघ्रता में हो जाया करता है कि वहाँ क्रम का अनुभव नहीं होने पाता है । जिस भाँति कमल की सौ पंखुड़ियों को एक साथ रखकर उनमें सुई चुभायी जाय तो वह एक एक को क्रम से ही भेदेगी, फिर भी शीघ्रता के कारण यह क्रम दृष्टिगोचर नहीं हो पाता है, उसी भाँति जो अत्यन्त सहृदय नहीं हैं उनको वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ क्रम से ही प्रतीत हुआ करते हैं । किन्तु अतिसहृदय व्यक्तियों को व्यङ्ग्यार्थ का ज्ञान तुरन्त ही हो जाया करता है । इस प्रतीति में भी क्रम तो रहा ही करता है किन्तु फिर भी वह क्रम अनुभव में नहीं आया करता है । इसी कारण रसध्वनि को असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि कहा गया है ।

इसके लिये दूसरा उदाहरण यह है—कोई व्यक्ति धुयें को देखकर अग्नि का अनुमान करता है तो उसे सर्वप्रथम हेतु [धुयें] के दर्शन होते हैं । पश्चात् साध्य [अग्नि] से उसकी व्याप्ति का स्मरण किया जाता है और तदनन्तर लिङ्गपरामर्श के द्वारा साध्य [अग्नि] का अनुमान लगाया जाया करता है । जो लोग प्रथम बार, अनुमान लगाते हैं उन्हें उपर्युक्त क्रम की प्रतीति हुआ करती है । किन्तु अभ्यस्त हो जाने के पश्चात् धुयें को देखते ही अग्नि का ज्ञान हो जाया करता है । उस समय उपर्युक्त क्रम की आवश्यकता नहीं हुआ करती है । यद्यपि क्रम तो अवश्य रहा करता है किन्तु वह लक्षित नहीं हुआ करता है ।

ध्वन्यालोक

इदानीं वाच्यार्थप्रतीतिपूर्वकत्वेऽपि तत्प्रतीतेः, व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्राधान्यं यथा न व्यालुप्यते तथा दर्शयति--

स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रतिपादयन् ।
यथा व्यापारनिष्पत्तौ पदार्थो न विभाव्यते ॥ ११ ॥

यथा स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रकाशयन्नपि पदार्थो व्यापारनिष्पत्तौ न विभाव्यते विभक्ततया ।

तद्वत्सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम् ।
बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते ॥ १२ ॥

अब व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति वाच्यार्थ के पश्चात् होने पर भी व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता जिस प्रकार लुप्त नहीं हो जाती है वह [प्रकार] दिखलाते हैं--

जैसे पदार्थ अपनी सामर्थ्य [योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति] से [पदार्थ-संसर्गरूप] वाक्यार्थ को प्रकाशित करते हुए भी अपने [वाक्यार्थबोधनरूप] व्यापार के पूर्ण हो जाने पर [पदार्थ] पृथक् प्रतीत नहीं हुआ करता है ॥११॥

जैसे अपनी सामर्थ्य [योग्यता, आकांक्षा और सन्निधि] से ही वाक्यार्थ को प्रकाशित करने पर भी व्यापार के पूर्ण हो जाने पर पदार्थ विभक्त रूप में पृथक् प्रतीत नहीं होते ॥ ११ ॥

उसी प्रकार वाच्यार्थ से विमुख अर्थात् उसी से विश्रान्तिरूप सन्तोष को प्राप्त न करनेवाले सहृदयों की तत्त्वार्थ को शीघ्र ही समझ लेने में समर्थ बुद्धि में वह [प्रतीयमान] अर्थ अपना व्यङ्ग्यार्थ तुरन्त ही प्रतीत हो जाया करता है ।

[लोचनम्]

न व्यालुप्यत इति । प्राधान्यादेव तत्पर्यन्तानुसरणरणरणकत्वरिता मध्ये विश्रान्तिं न कुर्वन्ति इति क्रमस्य सतोऽप्यलक्षणं प्राधान्ये हेतुः । स्वसामर्थ्यमाकाङ्क्षायोग्यता सन्निधयः । विभाव्यत इति । विशब्देन विभक्ततोक्ता; विभक्ततया न भाव्यत इत्यर्थः । अनेन विद्यमान एव क्रमो न संवेद्यत इत्युक्तम् । तेन यत्स्फोटाभिप्रायेणासन्नेव क्रम इति व्याचक्षते तत् प्रत्युत विरुद्धयेव । वाच्येऽर्थे विमुखो विश्रान्तिनिबन्धनं परितोषमलभमान आत्मा हृदयं येषामित्यनेन सचेतसामित्यस्यैवार्थोऽभिव्यक्तः । सहृदयानामेव तह्यंयं महिमास्तु, न तु काव्यस्यासौ

कश्चिदतिशय इत्याशङ्क्याह—अवभासत इति । तेनात्र विभक्ततया न भासते, न तु वाच्यस्य सर्वथैवानवभासः । अतएव तृतीयोद्योते घटप्रदीपदृष्टान्तबलाद् व्यङ्ग्यप्रतीतिकालेऽपि वाच्यप्रतीतिर्न विघटत इति यद्वक्ष्यति तेन सहास्य ग्रन्थस्य न विरोधः ॥ ११–१२ ॥

व्यालुप्त नहीं होता—। प्राधान्य के कारण ही [व्यङ्ग्यार्थ] तक अनुसरण के रणरणक अर्थात् उत्सुकता से शीघ्रता करते हुए [सहृदय लोग] बीच में विश्राम नहीं करते हैं, इस प्रकार होते हुए भी क्रम का लक्षित न होना [व्यङ्ग्यार्थ की] प्रधानता में हेतु है । अपनी सामर्थ्य का अर्थ है—आकांक्षा, योग्यता, और सन्निधि, विभावित होता है—। वि शब्द से विभक्तता कही गई है, अर्थात् विभक्त रूप में भावित (प्रतीत) नहीं होता है । इससे जो 'स्फोट के अभिप्राय से नहीं रहता हुआ भी क्रम' ऐसी व्याख्या करते हैं वह व्याख्या प्रत्युत विरुद्ध ही है । वाच्य-अर्थ में विमुख अर्थात् विश्रान्तिमूलक परितोष को न प्राप्त करने वाली है आत्मा अर्थात् हृदय जिनका, इससे 'सचेतसाम्' [अर्थात् सहृदयों का] इसी का अर्थ अभिव्यक्त किया गया है । तब तो यह सहृदयों की ही महिमा है, न कि यह कोई काव्य का अतिशय है, ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—अवभासित होता है । इसलिये यहाँ विभक्तरूप में भासित नहीं होता, वाच्य का सर्वथा ही अवभास न हो, ऐसा नही होता । अतएव तृतीय उद्योत में घट और प्रदीप के दृष्टान्त के बल पर जो यह कहेंगे कि व्यङ्ग्य की प्रतीति के काल में भी वाच्य की प्रतीति विघटित नहीं होती, उसके साथ इस ग्रन्थ का विरोध नहीं है ॥ ११,१२ ॥

(आशुबोधिनी)

११ वीं तथा १२ वीं करिकाओं का मिलकर एक पूर्ण अर्थ होता है । इन दोनों कारिकाओं द्वारा यह बतलाया गया है कि जिस भाँति शब्दों का अर्थ जान लेने पर ही वाक्यार्थ ज्ञान हुआ करता है। हाँ, इतना अवश्य है कि शब्दार्थ अपनी सामर्थ्य से ही वाक्यार्थ का प्रतिपादन कर दिया करता है । इस प्रक्रिया में यह ज्ञात ही नहीं हो पाता है कि शब्दार्थ और वाक्यार्थ दो पृथक्-पृथक् वस्तुयें हैं तथा एक के पश्चात् दूसरी हुआ करती है । इसी भाँति वाच्यार्थ के पश्चात् ही व्यङ्ग्यार्थ हुआ करता है किन्तु जो सहृदय हैं और जिनकी अन्तरात्मा केवल

वाच्यार्थ के ज्ञान से ही सन्तुष्ट नहीं हुआ करती है उनकी तत्त्वदर्शनसमर्थ बुद्धि में व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति तुरन्त ही हो जाया करती है। उनको यह अनुभूति हो ही नहीं पाती है कि उनको व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति वाच्यार्थ के पश्चात् हुई है। इस क्रम का प्रतीत होना ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता में प्रमाण है।

'स्वसामर्थ्यवशेनैव' इत्यादि कारिका में स्वसामर्थ्य अर्थात् शब्दसामर्थ्य के द्वारा वाक्यार्थज्ञान का दृष्टान्त प्रस्तुत किया गया है। अतः इस सामर्थ्य को समझ लेना आवश्यक है। पद अथवा शब्द की तीन विशेषतायें वाक्यार्थज्ञान में कारण हुआ करती हैं। ये हैं—योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति। 'वाक्यं स्याद् योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः' अर्थात् योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति से युक्त पदसमूह अथवा शब्दसमूह का ही नाम वाक्य है। योग्यता नाम पदार्थानां परस्परसम्बन्धे बाधाभावः। 'अर्थात् पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में बाधा का अभाव 'योग्यता' है। योग्यताविहीन पदसमूह को वाक्य नहीं कहा जाता—जैसे–'वह्निना सिञ्चति' इस वाक्य में अग्नि में सिञ्चनक्रिया की क्षमता बाधित है। 'पदस्य पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वमाकांक्षा' अर्थात् जिन पदों में एक पद दूसरे पद के बिना अन्वयबोध न करा सके वे पद साकांक्ष कहलाते हैं। उनमें रहने वाले धर्म का ही नाम 'आकांक्षा' है। आकांक्षारहित पदसमूह को वाक्य नहीं कहा जा सकता है—जैसे –'गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिमृगो ब्राह्मणः' इनमें परस्पर आकांक्षा नहीं है। अतः उक्त पदसमूह को वाक्य नहीं कहा जा सकता है। 'आसत्ति बुद्ध्यविच्छेदः' अविलम्बित उच्चारण के कारण बुद्धि के अविच्छेद को 'आसत्ति' कहते हैं। अर्थात् बिना विलम्ब के उच्चरित पदसमूह का होना। जैसे—'देवदत्तः गां आनयति।' यदि प्रथम पद 'देवदत्तः' बोलने के अधिक समयपश्चात् 'गाम्,' पुनः कुछ समय बाद 'आनयति' बोला जागया तो वह भी वाक्य नहीं कहा जा सकेगा। अतएव बिना विलम्ब के उच्चरित पदसमूह को ही वाक्य कहा जा सकेगा और तभी वाक्यार्थ का ज्ञान भी हो सकेगा। किन्तु वाक्यार्थ के ज्ञान में पद अथवा शब्द तथा तत्सम्बन्धी उपर्युक्त सामर्थ्यों का ज्ञान पृथक्‌रूप में नहीं हुआ करता है। वाक्यार्थ तो एकाएक प्रकट हो जाया करता है, पदार्थ अथवा शब्दार्थ की ओर ध्यान भी नहीं जाता है।

'विभाव्यते' में 'वि' का अर्थ है—विभक्तरूप में, और 'भाव्यते' का अर्थ है—प्रतीत होते हैं। अभिप्राय यह है कि पदार्थ वाक्यार्थ में विभक्तरूप में प्रतीत नहीं हुआ करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि क्रम तो अवश्य रहा करता है किन्तु उसका पार्थक्य प्रतीत नहीं होने पाता है।

'वाच्यार्थविमुखात्मनाम्' 'सचेतसाम्' का विशेषण है अर्थात् ऐसे सचेतस अथवा सहृदय व्यक्ति कि जिनकी आत्मा अथवा हृदय वाच्य अर्थ से विमुख होता है अथवा जिन्हें मात्र वाच्यार्थ से ही सन्तोष नहीं हुआ करता क्योंकि उनकी दृष्टि में अर्थ की विश्रान्ति वाच्यार्थ पर ही नहीं हो जाती है। अपितु उससे भी आगे उनकी दृष्टि प्रतीयमान अर्थ अथवा व्यङ्ग्यार्थ को देखने में समर्थ हुआ करती है।

उपर्युक्त दोनों कारिकाओं का सारभूत अभिप्राय यही है कि शब्दार्थ अथवा पदार्थ वाक्यार्थ से तथा वाच्यार्थ व्यङ्ग्यार्थ से पृथक् होकर प्रतीत नहीं हुआ करते हैं। इसी बात को तृतीय उद्योत की ३३ वीं कारिका द्वारा घट और प्रदीप के दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया गया है जिस भाँति दीपक अपने प्रकाश के घट को प्रकाशित करते हुए, अपने को भी प्रकाशित किया करता है उसी भाँति दृष्टान्त द्वारा वाच्यार्थ भी व्यङ्ग्यार्थ को प्रतीत करता हुआ स्वयं भी प्रतीत हुआ करता है। इस भाँति क्रम के रहते हुए होने पर भी सहृदयों को यह क्रम अविवक्षित नहीं हुआ करता है।

१२ वीं कारिका में 'झटित्येवावभासते' द्वारा यह सूचित किया गया है कि यद्यपि वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति में क्रम तो अवश्य रहा करता है किंतु वह लक्षित नहीं हुआ करता है। इसी कारण रसादिरूप ध्वनि को 'असंलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्यध्वनि' नाम से कहा गया है ॥ ११, १२ ॥

ध्वन्यालोकः

एवं वाच्यव्यतिरेकिणो व्यङ्ग्यस्यार्थस्य सद्भावं प्रतिपाद्य प्रकृत उपयोजयन्नाह—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥ १३ ॥

यत्रार्थो वाच्यविशेषः वाचकविशेषः शब्दो वा तमर्थं व्यङ्क्तः, स

काव्यविशेषो ध्वनिरिति । अनेन वाच्यवाचकचारुत्वहेतुभ्य उपमादिभ्योऽनुप्रासादिभ्यश्च विभक्त एव ध्वनेर्विषय इति दर्शितम् ।

इस भाँति वाच्यार्थ से व्यतिरिक्त व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता तथा उसकी प्रधानता [सद्भाव शब्द का सत्ता तथा साधुभाव अर्थात् प्रधानता दोनों ही अर्थ हैं ।] प्रतिपादन कर प्रकृत में उसका उपयोग दिखलाते हुए कहते हैं :—

अन्वय—यत्र अर्थः शब्दः वा उपसर्जनीकृतस्वार्थौ तं अर्थं व्यङ्क्तः, स काव्यविशेषः सूरिभिः ध्वनिः इति कथितः ।

जहाँ अर्थ अपने आपको अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके उस [प्रतीयमान] अर्थ को अभिव्यक्त किया करते हैं, उस काव्यविशेष को विद्वान् लोग ध्वनि [काव्य] कहा करते हैं ।

जहाँ अर्थ वाच्यविशेष अथवा वाचकविशेष शब्द उस [प्रतीयमान] अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं उस विशेष को 'ध्वनिकाव्य' कहा जाता है । इसके द्वारा वाच्य [अर्थ] और वाचक] शब्द] के चारुत्व हेतु उपमा आदि और अनुप्रास आदि से पृथक् ही ध्वनि का विषय है, यह दिखलाया ।

[लोचनम्]

सद्भावमिति । सत्तां साधुभावं प्राधान्यं चेत्यर्थः । द्वयं हि प्रतिपिपादयिषितम् । प्रकृत इति लक्षणे । उपयोजयन् उपयोगं गमयन् । तमर्थमिति चायमुपयोगः । स्वशब्द आत्मवाची । स्वश्चार्थश्च तौ स्वार्थौ; तौ गुणीकृतौ याभ्याम्, यथासंख्येन तेनार्थो गुणीकृतात्मा, शब्दो गुणीकृताभिधेयः । तमर्थमिति । 'सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु' इति यदुक्तम् । व्यङ्क्तः द्योतयतः । व्यङ्क्त इति द्विवचनेनेदमाह—यद्यप्यविवक्षितवाच्ये शब्द एव व्यञ्जकस्तथाप्यर्थस्यापि सहकारिता न त्रुट्यति । अन्यथा अज्ञातार्थोऽपि शब्दस्तद्व्यञ्जकः स्यात् । विवक्षितान्यपरवाच्ये च शब्दस्यापि सहकारित्वं भवत्येव । विशिष्टशब्दाभिधेयतया विना तस्यार्थस्याव्यञ्जकत्वादिति सर्वत्र शब्दार्थयोरुभयोरपि ध्वननं व्यापारः । तेन यद्भट्टनायकेन द्विवचनं दूषितं तद गजनिमीलिकयैव । अर्थः शब्दो वेति तु विकल्पाभिधानं प्राधान्याभिप्रायेण । काव्यं च तद्विशेषश्चासौ काव्यस्य वा विशेषः । काव्यग्रहणाद् गुणालङ्कारोपस्कृतशब्दार्थपृष्ठपाती ध्वनिलक्षणआत्मेत्युक्तम् । तेनैतन्निरवकाशं श्रुतार्थापत्तावपि ध्वनिव्यवहारः

स्यादिति। यथोक्तम्—'चारुत्वप्रतीतिस्तर्हि काव्यस्यात्मा स्यात्' इति तदङ्गीकुर्म एव। नास्ति खल्वयं विवाद इति। यच्चोक्तम्—'चारुणः प्रतीतिर्यदि काव्यात्मा प्रत्यक्षादिप्रमाणादपि सा भवन्ती तथा स्यात्' इति। तत्र शब्दार्थमयकाव्यात्माभिधानप्रस्तावे क एष प्रसङ्ग इति न किञ्चिदेतत्। स इति। अर्थो वा शब्दो वा व्यापारो वा। अर्थोऽपि वाच्यो वा ध्वनतीति, शब्दोऽप्येवम्। व्यङ्ग्यो वा ध्वन्यत इति व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वननमिति। कारिकया तु प्राधान्ये समुदाय एव काव्यरूपो मुख्यतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम्।

सद्भावमिति अर्थात् सत्ता अथवा साधुभाव और प्राधान्य को। क्योंकि दोनों ही प्रतिपादन करने की इच्छा के विषय हैं। प्रकृत में। अर्थात् लक्षण में। उपयोग को प्राप्त कराते हुए। तमर्थम्—उनके लिए 'उस प्रतियमान-अर्थ का' यह उपयोग है। 'स्व' शब्द आत्मवाचक है। स्व और अर्थ दोनों मिलकर स्वार्थ हुए। वे स्व+अर्थ=स्वार्थ जिन दो के द्वारा गौण बना दिये जावें। यथासंख्येन अर्थात् उस क्रम से अर्थ स्वयं को [अपनी आत्मा को] गौण बना देने वाला होता है, और शब्द अभिधेय को [वाच्य] गौण बना देनेवाला होता है। उस अर्थ को -। अर्थात् जिसे 'सरस्वती स्वादु तदर्थ वस्तु' कहा है 'व्यङ्क्तः' अर्थात् व्यक्त करते हैं, अथवा करते हैं। व्यङ्क्तः—इस द्विवचन द्वारा यह कहते हैं—यद्यपि 'अविवक्षितवाच्य' ध्वनि में शब्द ही व्यञ्जक होता है, फिर भी अर्थ की भी सहकारिता टूटती नहीं है अन्यथा जिस शब्द का अर्थ ज्ञात नहीं हैं वह भी उसका व्यञ्जक हो जाता और विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में शब्द भी सहकारी होता ही है क्योंकि विशिष्ट शब्द द्वारा अभिधान न किये जाने की स्थिति में वह शब्द उस अर्थ का व्यञ्जक नहीं हो सकता। इस भाँति सर्वत्र 'ध्वनन' शब्द और अर्थ दोनों का ही व्यापार है। इस भाँति भट्टनायक द्वारा जो द्विवचन का खण्डन किया गया है वह गजनिमीलिका [बिना सोचे-समझे खण्डन पर आरूढ हो जाना] ही है। 'अर्थ अथवा शब्द' में 'वा' के द्वारा विकल्प का अभिधान किया गया है वह प्राधान्य की दृष्टि से है। 'काव्य और उनका विशेष' इस भाँति कर्मधारय समास है, अथवा 'काव्य का विशेष' इस भाँति षष्ठी तत्पुरुष समास है। 'काव्य' के ग्रहण से यह कहा कि जो ध्वनिरूप आत्मा है वह गुण और अलङ्कार से उपस्कृत शब्द और अर्थ का पृष्ठपाती है। इससे यह निरवकाश हो गया कि ['स्थूल शरीर वाला देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता' इस] श्रुतार्थापत्ति में भी काव्य का व्यवहार होने

लगेगा। और जो कि यह कहा है—'तब तो चारुत्व की प्रतीति ही काव्य की आत्मा हो जायेगी' यह तो हम स्वीकार करते ही हैं। यह विवाद तो नाम में ही है। और जो कि यह कहा है कि 'चारुत्व की प्रतीति यदि काव्य की आत्मा है तो प्रत्यक्ष इत्यादि प्रमाणों द्वारा भी होने वाली [वह प्रतीति] वैसी [काव्य की आत्मा] हो जायेगी। उस पर [यह कहना है कि] शब्दार्थ काव्य की आत्मा के कथन का प्रसङ्ग है, तो फिर यह कौन प्रसङ्ग है? अतएव यह कुछ भी नहीं। वह—। अर्थ अथवा शब्द अथवा व्यापार। 'ध्वनति' अथवा ध्वनन करता है [इस व्युत्पत्ति के अनुसार] वाच्य अर्थ ध्वनि है, इस भाँति शब्द भी। 'ध्वन्यते' [इस व्युत्पत्ति के अनुसार] व्यङ्ग्य अर्थ 'ध्वनि' है और शब्द और अर्थ का व्यापार 'ध्वननम्' [इस व्युत्पत्ति के अनुसार] 'ध्वनि' है। कारिका के द्वारा तो प्रधानरूप से काव्य-रूप समुदाय ही प्रमुखरूप से ध्वनित होता है, ऐसा प्रतिपादित किया है।

(आशुबोधिनी)

बारहवीं कारिका तक ध्वनिसम्बन्धी भूमिका का वर्णन किया गया है। अब इस तेरहवीं कारिका में उस [ध्वनि] की परिभाषा दी गई है। ध्वनिसिद्धान्त को भली भाँति समझने के लिए यह परम आवश्यक है कि वाच्यार्थ से व्यतिरिक्त प्रतीयमान अर्थ का 'सद्भाव' समझ लिया जाय। 'सत्' शब्द का दो अर्थों में प्रयोग हुआ करता है 'सद्भावे, साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते' अर्थात् 'सत्' का अर्थ है सत्ता अथवा अस्तित्व और साधुभाव अर्थात् श्रेष्ठता अथवा प्रधानता। इस स्थल पर इन दोनों ही अर्थों में इस 'सत्' शब्द का प्रयोग हुआ है। (१) वाच्यार्थ से अतिरिक्त प्रतीयमान अर्थ [व्यङ्ग्यार्थ] की सत्ता और (२) इस प्रतीयमान अर्थ का साधुभाव अर्थात् प्रधानता। इस प्रतिपादन का ध्वनिसिद्धान्त से क्या संबन्ध है, प्रस्तुत प्रकरण में उसकी क्या उपयोगिता है? यही बात प्रस्तुत कारिका में कही गई है :—'जहाँ पर शब्द अथवा अर्थ स्वार्थ को उपसर्जन अर्थात् गौण बनाकर उस अर्थ को अभिव्यक्त किया करते हैं वह काव्यविशेष विद्वानों द्वारा 'ध्वनिकाव्य' नाम से कहा जाया करता है।'

प्रस्तुत परिभाषा में 'स्वार्थ' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसमें द्वन्द्व समास है। स्व+अर्थ। 'स्व' अर्थात् आत्मस्वरूप तथा अर्थ अर्थात् वाच्यार्थ। इन दोनों का क्रमशः यह अर्थ होता है कि जब अर्थ अपनी आत्मा [अर्थात् स्वयं को] गौण

बना दिया करता है तथा शब्द जब अपने अभिधेय अर्थ को गौण बना दिया करता है तब वहाँ ध्वनिकाव्य हुआ करता है। तात्पर्य यह है कि जब अर्थ प्रधानरूप से व्यञ्जक हुआ करता है तब अर्थ उसका सहकारी हुआ करता है और जब शब्द प्रधानरूप से व्यञ्जक हुआ करता है तब अर्थ उसका सहकारी हुआ करता है। इसी प्राधान्य की दृष्टि से आचार्य द्वारा 'वा' इस विकल्प का प्रयोग किया गया है तथा 'व्यङ्क्तः' इस द्विवचन के प्रयोग द्वारा उसे और भी अधिक स्पष्ट कर दिया गया है कि 'अविवक्षितवाच्यध्वनि' में अभिव्यक्ति का आधार 'शब्द' हुआ करता है किन्तु इसमें अर्थ की सहकारिता की भी अपेक्षा हुआ करती है क्योंकि अर्थज्ञान के बिना अर्थज्ञान के ध्वनि का निकल सकना संभव ही नहीं। यदि ऐसा नहीं होगा तो निरर्थक शब्दों से भी ध्वनि निकलने लग जायगी। इसी भाँति 'विवक्षितान्यपरवाच्य' में अर्थ के आधार पर अभिव्यक्ति हुआ करती है तथा शब्द की सहकारिता अवश्य अपेक्षित हुआ करती है। इसका कारण यह है कि जब तक वह अर्थ विशेष प्रकार के शब्द द्वारा अभिहित नहीं होगा तब तक वह अर्थ व्यञ्जक हो ही न सकेगा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ध्वननव्यापार सर्वत्र शब्द एवं अर्थ—दोनों का सम्मिलित व्यापार है। प्रस्तुत द्विवचन के कथन का यही तात्पर्य है।

उपर्युक्त अभिप्राय को न समझकर भट्टनायक द्वारा 'व्यङ्क्तः' में प्रयुक्त द्विवचन को दूषित कहा है। जिस भाँति हाथी का आँख झपकाना उसकी विचार-निमग्नता का परिचायक नहीं हुआ करता है उसी भाँति भट्टनायक द्वारा किया गया खण्डन की उनकी विचारशीलता का परिचायक नहीं कहा जा सकता है।

ऐसी स्थिति में यहाँ यह शङ्का अवश्य उत्पन्न होती है कि जब द्विवचन का ही प्रयोग आवश्यक था तो फिर 'अर्थः शब्दो वा' ऐसा क्यों लिखा? केवल 'अर्थ-शब्दौ' के प्रयोग द्वारा ही काम निकाला जा सकता था। ऐसी स्थिति में 'व्यङ्क्तः' क्रिया के द्विवचन प्रयोग की सार्थकता स्वयं ही सिद्ध हो जाती।

इसका समाधान यह है कि—'व्यङ्ग्यार्थ' की अभिव्यक्ति में शब्द और अर्थ दोनों ही कारण हुआ करते हैं किन्तु उनमें से एक की प्रधानता तथा दूसरे कि सहकारिता हुआ करती है। 'अर्थः शब्दो वा' में पठित 'वा' पद शब्द तथा अर्थ की प्रधानता के अभिप्राय से विकल्प का ही बोधक है। अभिव्यक्ति के कारण तो दोनों ही हैं किन्तु प्रधानता अर्थ और शब्द में से एक की ही हुआ करती है। इसी दृष्टि

से शाब्दी और आर्थी दोनों ही प्रकार की व्यञ्जना स्वीकार की गई है। इसी कारण साहित्यदर्पणकार ने दोनों ही की व्यञ्जकता दिखलाते हुए लिखा है :—

'शब्दबोध्यो व्यनक्त्यर्थः शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः।
एकस्य व्यञ्जकत्वे तदन्यस्य सहकारिता ॥ (सा० द० २ । १८)

प्रस्तुत कारिका में प्रयुक्त 'काव्यविशेषः' में दो प्रकार के समास और अर्थ हो सकते हैं--(१) काव्यं च तद्विशेषं च [अर्थात् काव्य और उनकी विशेषता--समानाधिकरण की दृष्टि से] अथवा 'काव्यस्य विशेषः' [काव्य की विशेषता] व्यधिकरण की दृष्टि। जिस ध्वनि को काव्य कीं आत्मा कहा गया है, वह इस प्रकार के शब्द तथा अर्थ पर आधृत होना चाहिए कि जिसमें गुण और अलङ्कार विद्यमान हों [तथा जिसमें रीतियों तथा वृत्तियों का अनुसरण भी किया गया हो] 'काव्यविशेषः' पद के प्रयोग का यही अभिप्राय है।

यदि केवल ध्वनि के अस्तित्व मात्र से काव्य मान लेने की बात कह दी जाय तो मीमांसकों द्वारा स्वीकृत 'श्रूतार्थापत्ति'सम्बन्धी स्थल भी 'काव्य' के रूप भी व्यवहृत होने लगेगा। जैसे—'पीनोऽयं देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' [अर्थात् यह मोटा-ताजा देवदत्त दिन में नहीं खाता है।] इस श्रुतवाक्य से जो दिन में भोजन के अभाव में भी पीनत्व रूप अर्थ की प्रतीति होती है उसकी अन्यथानुपपत्ति को लेकर 'रात्रौ भुङ्क्ते' [रात्रि में भोजन करता है] इस रात्रि भोजनरूप अर्थ के प्रतिपादक एक दूसरे वाक्य की कल्पना करनी होती है। किन्तु यहाँ ध्वनि के होते हुए होने पर भी उसे 'काव्य नहीं कहा जा सकता; क्योंकि हम तो 'काव्यविशेष' को ध्वनि कहते हैं तथा काव्यविशेष का अर्थ है--'काव्य और उसकी विशेषता' अथवा 'काव्य की विशेषता' अर्थात् गुण और अलङ्कार से उपस्कृत शब्द और अर्थ का अनुसरण करने वाले काव्य की विशेषता 'ध्वनि' है और उसे ही काव्य की आत्मा कहा गया है। अतएव श्रुतार्थापत्ति का सन्निवेश ध्वनि में कभी नहीं हो सकता है। परिणामस्वरूप उसे काव्य भी नहीं कहा जा सकता है।

यहाँ कुछ अन्य लोगों का कथन है कि यदि आप काव्यविशेष को ही ध्वनि मानते हैं तथा उसी को काव्य की आत्मा कहते हैं तो उसका यही अभिप्राय निकलता है कि चारुता की प्रतीति ही काव्य की आत्मा है। तत्र 'चारुताप्रतीति' को काव्य की आत्मा स्वीकार करने में मुझे भी कोई आपत्ति नहीं है, चाहे आप उसे

'चारुताप्रतीति' ही काव्य की आत्मा है तो फिर जहाँ पर प्रत्यक्ष इत्यादि के द्वारा हमें चारुता [सुन्दरता] की प्रतीति हो जाय तो उसे भी काव्य कहा जा सकेगा।

उपर्युक्त कथन का निराकरण इस प्रकार हो जाता है कि जब शब्दार्थमय काव्य की आत्मा का निरूपण किया जा रहा है तो फिर प्रत्यक्ष आदि के द्वारा चारुता की प्रतीति को काव्य की आत्मा कहा जाना सम्भव ही नहीं है।

'स ध्वनिरिति'। यहाँ 'ध्वनि' शब्द का उपर्युक्त तीनों ही अर्थों में प्रयोग हुआ है। ध्वनि के अन्तर्गत शब्द, अर्थ और व्यापार—ये तीनों ही आ जाते हैं। अर्थ वाच्य और व्यङ्ग्य दोनों प्रकार का आ जाता है। जब हम कर्तृवाच्य की दृष्टि से 'ध्वनतीति ध्वनिः' यह व्युत्पत्ति करते हैं तब अर्थ होता है 'वाच्यार्थ'। इसी के अन्तर्गत 'शब्द' भी आ जाता है। जब हम कर्म-वाच्य में 'ध्वन्यते इति ध्वनिः' ऐसी व्युत्पत्ति करते हैं तब इसका अर्थ हो जाता है 'व्यङ्ग्यार्थ'। जब हम ल्युट् प्रत्यय के साथ इसकी व्युत्पत्ति करते हैं—'ध्वननमिति ध्वनिः' तब अर्थ होता है 'शब्द और अर्थ का व्यापार'। इन सभी का समुदाय हो प्रधान होने के कारण काव्यरूप होता है और यहाँ इसी को प्रमुखरूप से 'ध्वनि' कहा गया है। यही प्रस्तुत कारिका में वर्णित है।

कहने का अभिप्राय यह है कि काव्य में शब्द भी होता है तथा वाच्यार्थ भी और व्यङ्ग्यार्थ भी। शब्द तथा वाच्यार्थ के गुण तथा अलङ्कार [रीति तथा वृत्ति] भी हुआ करते हैं। साथ ही व्यञ्जनाव्यापार भी। इन सभी के समुदाय का ही नाम है–'काव्य'। इसी को 'ध्वनि' नाम से कहा जाता है। समूह को बनाने वाले पृथक् तत्त्वों की अपेक्षा प्रधानता समूह की ही हुआ करती है तथा उसमें भी अन्य तत्त्व 'व्यञ्जक' हुआ करते हैं जिनके आश्रय को प्राप्त कर व्यङ्ग्यार्थ की प्रवृत्ति हुआ करती है। यह व्यङ्ग्यार्थ ही प्रधानता को प्राप्त कर ध्वनि का रूप धारण कर लिया करता है।

'मुख्यरूप में काव्य कहा जाता है' में 'मुख्य' शब्द से यह अर्थ निकलता है कि काव्यत्व तो अन्यत्र भी हो सकता है किन्तु अन्य प्रकार के उस काव्य को मुख्य न कहकर अमुख्य ही कहा जायेगा।

[लोचनम्]

विभक्त इति। गुणालङ्काराणां वाच्यवाचकभावप्राणत्वात्। अस्य च तदन्यव्यङ्ग्यव्यञ्जकभावसारत्वान्नास्य तेष्वन्तर्भाव इति। अनन्यत्रभावो विषयशब्दार्थः। एवं तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिरिति निराकृतम्।

विभक्त—। क्योंकि गुण और अलङ्कार का प्राणभूत तत्त्व वाच्यवाचकभाव है तथा इस ध्वनि का उससे भिन्न उससे भिन्न व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव ही सार होने के कारण इसका उनमें अन्तर्भाव नहीं हुआ करता है। 'विषय' शब्द का अर्थ है 'अन्यत्र न होना।' इस भाँति उन [गुण और अलङ्कार] से भिन्न यह 'ध्वनि' क्या है ? इसका निराकरण हो गया।

(आशुबोधिनी)

इससे पहले व्यङ्ग्यार्थ का सद्भाव, उसकी प्रधानता तथा ध्वनि का विवेचन किया जा चुका है। अब यहाँ ग्रन्थ के प्रारम्भ में ध्वनि के खण्डन में जिन पक्षों का उल्लेख किया गया था उन्हीं में से अभाववादियों के प्रथम पक्ष का निराकरण किया जा रहा है—

अभाववादियों के प्रथमपक्ष में बतलाया गया था कि 'शब्द और अर्थ' काव्य के शरीर होते हैं। शब्दगत चारुता अनुप्रास आदि अलङ्कारों के नाम से प्रसिद्ध है तथा अर्थगत चारुता उपमा इत्यादि नामों से। इसी भाँति संघटनाधर्म माधुर्य आदि तथा उनसे सम्बन्धित वृत्तियाँ व रीतियाँ भी हैं। इनसे भिन्न यह ध्वनि नाम की वस्तु क्या है ?

इस प्रथम पक्ष का निराकरण तो ध्वनि की उपर्युक्त परिभाषा से ही हो गया। उपर्युक्त विवरण द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया है कि वाच्यार्थ चारुता में हेतु 'उपमा' आदि तथा वाचक [शब्द] की चारुता में हेतु, अनुप्रास आदि से ध्वनि का विषय भिन्न है। क्योंकि गुण एवं अलङ्कारों का प्राण वाच्य और वाचक ही हुआ करते हैं तथा ध्वनि के प्राण व्यङ्ग्य और व्यञ्जक हुआ करते हैं। यही दोनों का अन्तर है। इस भाँति अभाववादियों के प्रथम पक्ष का खण्डन एवं निराकरण हो गया। आलोक में 'विभक्त एव ध्वनेर्विषयः' इस वाक्य में 'विषय' शब्द का प्रयोग किया गया है। यहाँ शब्द का अर्थ है—'विशेषेण सिनोति बध्नातीति विषयः' अर्थात् जो अपने से सम्बन्धित पदार्थ को विशेषरूप से आबद्ध कर

ले अर्थात् सीमित कर दे अथवा जो अन्यत्र न पाया जाय। ध्वनि का अपनी सीमा से बाहर सद्भाव नहीं है अथवा वह सीमा में बँधा हुआ है अथवा ध्वनि का अपना स्वतन्त्र क्षेत्र है, उससे भिन्न स्थलों पर ध्वनि शब्द का प्रयोग उपलब्ध नहीं हुआ करता है। ऐसी स्थिति में ध्वनि को अनुप्रास, उपमा आदि से भिन्न कहना ही उचित है।

ध्वन्यालोकः

यदप्युक्तम्—प्रसिद्धप्रस्थानातिक्रमिणो मार्गस्य काव्यहानेर्ध्वनिर्नास्ति इति तदप्युक्तम्। यतो लक्षणकृतामेव स केवलं न प्रसिद्धः, लक्ष्ये तु परीक्ष्यमाणे स एव सहृदयहृदयाह्लादकारिकाव्यतत्त्वम्। ततोऽन्यच्चित्रमेवेत्यग्रे दर्शयिष्यामः।

और जो यह कहा था कि 'प्रसिद्ध प्रस्थानों को अतिक्रमण करने वाला मार्ग काव्यत्व से रहित होता है। अतएव ध्वनि का अस्तित्व है ही नहीं।' यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि लक्षणकारों के लिये ही वह केवल प्रसिद्ध नहीं है, लक्ष्य की परीक्षा करने पर वही सहृदयजनों के हृदय को आह्लादित करने वाला काव्य का सारभूत वही [ध्वनि] है। इसके अतिरिक्त अन्य सभी चित्रकाव्य ही कहा जाता है, यह आगे चलकर दिखलायेंगे।

[लोचनम्]

लक्षणकृतामेवेति। लक्षणकाराप्रसिद्धता विरुद्धो हेतुः। तत एव हि यत्नेन लक्षणीयता। लक्ष्ये त्वप्रसिद्धत्वमसिद्धो हेतुः। यच्च नृत्यगीतादिकल्पं तत्काव्यस्य न किञ्चित्। चित्रमिति—विस्मयकृद्वृत्त्यादिवशात्, न तु सहृदयाभिलषणीयचमत्कारसाररसनिःष्यन्दमयमित्यर्थः। काव्यानुकारित्वाद्वा चित्रम्, आलेखमात्रत्वाद्वा, कालमात्रत्वाद्वा। अग्र इति।

प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैव व्यवस्थितम्।
द्विधा काव्यं ततोऽन्यद्यत्तच्चित्रमभिधीयते॥

इति तृतीयोद्योते वक्ष्यति।

लक्षणकारों के लिये ही—। लक्षणकारों में अप्रसिद्धतारूप विरुद्ध हेतु है, इसी कारण यत्नपूर्वक [आचार्य ने ध्वनि को] लक्षणीय किया है। लक्ष्य में

'अप्रसिद्धत्व' रूप हेतु प्रसिद्ध है। और जो कि नृत्त, गीत आदि के समान है वह काव्य का [ध्वनि के रूप में लक्षित काव्य का] कुछ नहीं है। चित्र–। अर्थात् नृत्त आदि के कारण विस्मयउत्पादक वृत्त [छन्द] इत्यादि के कारण [चित्रकाव्य] सहृदयों द्वारा अभिलषणीय चमत्कार सार रस के निष्यन्द से युक्त नहीं होता। अथवा काव्य का अनुकरण करने वाला होने के कारण 'चित्र' कहलाता है अथवा आलेखमात्र होने के कारण। आगे—।

'इस भाँति व्यंग का प्रधानभाव तथा गुणभाव के कारण काव्य दो प्रकार से व्यवस्थित है। उससे जो अतिरिक्त है वह 'चित्र' कहलाता है।'

(आशुबोधिनी)

अभाववादियों के द्वितीय पक्ष का कहना था कि प्रसिद्ध प्रस्थान [अर्थात् वह मार्ग कि जो परम्परा से व्यवहार में चलता चला आ रहा है, जैसे—शब्द, अर्थ तथा उनके गुण और अलङ्कार इत्यादि] में ध्वनि का निर्देश न होने के कारण उसे 'काव्य' स्वीकार नहीं किया जा सकता। अभिप्राय यह है कि ध्वनि इस कारण नहीं है कि वह प्रसिद्ध प्रस्थानों में नहीं आता, उनको अतिक्रमण करने वाला है। इस रूप में ध्वनि विरोध किया गया है। किन्तु इन लोगों का कथन भी ठीक प्रतीति नहीं होता क्योंकि ध्वनि केवल लक्षणकारों में ही प्रसिद्ध नहीं है किन्तु जब रामायण, महाभारत आदि लक्ष्यग्रन्थों की परीक्षा की जाती है तो ज्ञात होता है कि वही ध्वनि सहृदयजनों के हृदयों में आह्लाद उत्पन्न करने वाला काव्य का तत्व है। अभाववादियों द्वारा जो प्रसिद्ध प्रस्थानातिक्रमण की बात कही गई है उसे दो रूपों में कहा जा सकता है—(१) 'ध्वनिर्नाम काव्य प्रकारो नास्ति प्रसिद्धप्रस्थानातिक्रामित्वात्।' अर्थात् प्रसिद्ध प्रस्थानों का अतिक्रमण किये जाने के कारण ध्वनि नाम का कोई काव्य का प्रकार नहीं है। इस हेतु के तात्पर्यरूप में दो बातें स्पष्ट प्रतीत होती हैं (१) प्राचीन अलङ्कार-शास्त्र के लक्षणकारों ने ध्वनि नाम के किसी तत्व का उल्लेख नहीं किया है। (२) यह कोई अप्रसिद्ध लक्ष्य था। इन दोनों का निराकरण करते हुए मूल वृत्तिग्रन्थ में जैसा कहा गया है कि लक्षणकारों के लिये वह केवल प्रसिद्ध नहीं है किन्तु लक्ष्य की परीक्षा करने पर वही सहृदयजनों को आह्लादित करने वाला काव्यतत्व है। इस भाँति 'लक्षणकाराप्रसिद्धता' रूप हेतु 'विरुद्ध' है तथा 'लक्ष्यप्रसिद्धता'

रूप हेतु 'असिद्ध' है। लक्षणाकारों की दृष्टि में यदि 'ध्वनि' अप्रसिद्ध है तो इसका यह अर्थ नहीं कि उसका अस्तित्व है ही नहीं, अपितु इससे यही जानना उचित है कि वह प्रयत्नपूर्वक लक्षण किये जाने योग्य ही है क्योंकि वह मात्र काव्य नहीं, अपि तु 'काव्यविशेष' है। अतः यह हेतुविरुद्ध है। यह कहना कि लक्ष्य में भी प्रसिद्ध नहीं है, नितान्त अनुचित है क्योंकि परीक्षा किये जाने पर वही सहृदयहृदयाह्लादकारी तत्त्व प्रतीत होता है। अतः यह हेतु 'असिद्ध' है।

अभाववादियों द्वारा यह भी कहा गया था कि जिस भाँति नाटक आदि में नृत्य, गीत आदि के द्वारा 'रस' की रचना की जाया करती है उनका काव्य से कोई सम्बन्ध नहीं हुआ करता है, उसी भाँति यह 'ध्वनि' भी कोई ऐसी वस्तु है कि जिसका काव्य के साथ कोई सम्बन्ध नहीं हुआ करता है। अतएव उसे काव्य की आत्मा नहीं कहा जा सकता है। प्रस्तुत विवेचन द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि ध्वनि तो एक कमनीय तत्व है तथा वह 'काव्यविशेष' है। नृत्य-गीत आदि तो रस की रचना में सहायक अवश्य होते है किन्तु दृश्यकाव्य अथवा नाटक आदि से उनका कोई सम्बन्ध नहीं हुआ करता है। 'ध्वनि' के बारे में ऐसा कभी भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि वह तो कवि के व्यापार का विषय है तथा काव्य का तो सर्वस्व ही है।

जहाँ पर ध्वनि नहीं हुआ करती हैं वहाँ पर प्रमुख काव्य न होकर 'चित्र-काव्यमात्र' ही रह जाया करता है। वस्तुतः काव्य का प्रभाव दो प्रकार का दृष्टिगोचर हुआ करता है। प्रथम तो यह है कि काव्य को श्रवणकर अथवा पढ़कर अथवा अभिनय देखकर अध्येता, श्रोता अथवा दर्शक रसमग्न हो जाया करता है तथा वह स्वयं को भी भूल जाया करता है। दूसरे प्रकार का काव्य वह हुआ करता है कि जिसे पढ़कर केवल विस्मय आदि की अनुभूति मात्र होकर ही रह जाया करती है। कवि द्वारा जिन शब्दों तथा अर्थों का उपादन किया जाया करता है वे हमारे अन्दर उत्सुकतामात्र को जागृत कर दिया करते हैं, उनमें इतनी सामर्थ्य नहीं हुआ करती है कि वे हमें आनन्द-विभोर कर हमारे अस्तित्व पर ही अधिकार कर सकें। ऐसे काव्यों को 'चित्रकाव्य' की श्रेणी में रखा जाया करता है। उन्हें चित्रकाव्य इस कारण कहा जाया करता है कि उनमें भी काव्य के समान ही शब्द और अर्थ का प्रयोग हुआ करता है अथवा

इसलिये कि उनमें भी विष्णु इत्यादि का चित्रण हुआ करता है अथवा उनमें कला की प्रधानता हुआ करती है। इसका विस्तृत विवेचन तृतीय उद्योत में किया जायेगा।

ध्वन्यालोकः

यदप्युक्तम् —'कमनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तालङ्कारादिप्रकारेष्वन्तर्भावः' इति, तदप्यसमीचीनम्, वाच्यवाचकमात्राश्रयिणि प्रस्थाने व्यङ्ग्यव्यञ्जकसमाश्रयेण व्यवस्थितस्य ध्वनेः कथमन्तर्भावः, वाच्यवाचकचारुत्वहेतवो हि तस्याङ्गभूताः, स त्वङ्गिरूप एवेति प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्।

परिकरश्लोकश्चात्र—

व्यङ्ग्यव्यञ्जकसम्बन्धनिबन्धनतया ध्वनेः।
वाच्यवाचकचारुत्वहेत्वन्तः पातिता कुतः॥

और जो यह कहा था कि यदि वह 'रमणीयता का अतिक्रमण नहीं करता है तो उक्त [गुण, अलङ्कार आदि] चारुत्वहेतुओं में ही उस [ध्वनि] का अन्तर्भाव हो जाता है' वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि केवल वाच्यवाचकभाव पर आश्रित मार्ग के अन्दर व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव पर आश्रित ध्वनि का अन्तर्भाव कैसे हो सकता है ? वाच्य-वाचक [अर्थ और शब्द] के चारुत्व हेतु [उपमा आदि तथा अनुप्रास आदि अलङ्कार] तो उस ध्वनि के अङ्गरूप हैं तथा वह [ध्वनि] तो अङ्गी [प्रधान] रूप है, यह आगे प्रतिपादन करेंगे। इस सम्बन्ध में एक परिकरश्लोक भी है—

'ध्वनि के व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव सम्बन्धमूलक होने से वाच्यवाचकचारुत्व हेतुओं [अलङ्कारादि] में [उसका] अन्तर्भाव किस भाँति हो सकता है।

[लोचनम्]

परिकरार्थं कारिकार्थस्याधिकावापं कर्तुं श्लोकः परिकरश्लोकः।

अर्थात् कारिका में अनुक्त किन्तु अपेक्षित अर्थ को कहनेवाला श्लोक 'परिकरश्लोक' कहा जाता है। अथवा (परिकरार्थम्) परिकर के लिए (कारिकार्थस्याधिकावापंकर्तुम्) कारिका के अर्थ को आधिक्य प्राप्त कराने के लिए (श्लोकः) श्लोक परिकर श्लोक कहलाता है।

(आशुबोधिनी)

अब यह अभाववादियों का तृतीय पक्ष है कि 'यदि ध्वनि को चारुता का हेतु मान भी लिया जाय तथा वह शब्द, अर्थ, गुण और अलङ्कारों के अन्तर्गत सिद्ध भी हो जाय तो इससे भी ध्वनि नाम की किसी अपूर्व वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती है। ऐसी दशा में ध्वनि भी चारुता के हेतुओं में से एक होगी। अतएंव चारुता के हेतु गुण, अलङ्कार, रीति और वृत्तिरूप प्रसिद्ध प्रस्थान में उसका भी अन्तर्भाव हो जायगा।' किन्तु यह मत भी उचित प्रतीत नहीं होता है क्योंकि प्रसिद्ध प्रस्थान तो केवल शब्द और अर्थ का ही आश्रय प्राप्त कर स्थित रहा करता है। उसमें ध्वनि का अन्तर्भाव कैसे सम्भव हो सकता है? जिसका आधार व्यङ्ग्यार्थ होता है तथा जिसमें पद, वाक्य आदि अनेक भाँति के व्यञ्जकों का समावेश रहा करता है। जब आश्रयों में ही भिन्नता है तब दोनों का ऐक्य कैसे स्थापित हो सकता है? सत्यता तो यह है कि वाच्य और वाचक की चारुता में हेतु जो प्रसिद्ध प्रस्थान हैं वे तो ध्वनि के मात्र उपकारक ही हुआ करते हैं। अतएव गुण, अलङ्कार आदि काव्य के मार्ग ध्वनि के अङ्गरूप में ही हुआ करते हैं। ध्वनि तो अङ्गी [प्रधान] हुआ करती है। इसका विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा।

अलङ्कार दो प्रकार के होते हैं। प्रथम प्रकार के अलङ्कार वे हैं कि जिनमें व्यङ्ग्यार्थ की स्पष्ट प्रतीति नहीं हुआ करती है। ऐसे अलंकार व्यङ्ग्यार्थ को केवल उपस्कृत करने वाले हुआ करते हैं। द्वितीय प्रकार के अलंकार वे हैं कि जिनमें प्रतीयमान अर्थ की स्पष्ट प्रतीति होती है जैसे समासोक्ति, विशेषोक्ति, अपह्नुति, दीपक आदि। अतएव द्वितीय प्रकार के अलंकारों में ध्वनि का अन्तर्भाव सफलतापूर्वक किया जा सकता है। इस शंका का समाधान तो इसी बात से हो जाता है कि ध्वनि वहीं हुआ करती है कि जहाँ पर शब्द अथवा अर्थ दोनों ही अपने अर्थ को गौण बना दिया करते हैं तथा किसी अन्य अर्थ को अभिव्यक्त किया करते हैं। अतएव अलंकारों में ध्वनि का अन्तर्भाव होना संभव नहीं है। इसी बात को स्पष्ट करते हैं—

ध्वन्यालोकः

ननु यत्र प्रतीयमानार्थस्य वैशद्येनाप्रतीतिः स नाम मा भूद् ध्वनेर्विषयः।

यत्र तु प्रतीतिरस्ति, यथा समासोक्त्याक्षेपानुक्तनिमित्तविशेषोक्तिपर्यायोक्तापह्नुतिदीपकसङ्करालङ्कारादौ, तत्र ध्वनेरन्तर्भावो भविष्यति इत्यादि निराकर्तुमभिहितम् 'उपसर्जनीकृतस्वार्थौ' इति। अर्थो गुणीकृतात्मा, गुणीकृताभिधेयः शब्दो वा यत्रार्थान्तरमभिव्यनक्ति स ध्वनिरिति। तेषु कथं तस्यान्तर्भावः। व्यङ्ग्यप्राधान्ये हि ध्वनिः। न चैतत् समासोक्त्यादिष्वस्ति।

यदि कोई यह कहे कि जहाँ प्रतीयमान अर्थ की स्पष्टरूप से प्रतीति नहीं हुआ करती है वह ध्वनि [के अन्तर्भाव का] का विषय न माना जाय तो न सही, किन्तु जहाँ [उसकी] प्रतीति होती है जैसे—समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्तनिमित्त विशेषोक्ति, पर्यायोक्त, अपह्नुति, दीपक तथा सङ्कर आदि अलङ्कारों में। ऐसे अलङ्कारों में तो ध्वनि का अन्तर्भाव हो ही आवेगा। इसका निराकरण पिछली कारिका में कथित 'उससर्जनीकृतस्वार्थौ' से हो जाता है। जहाँ अर्थ अपने को अथवा शब्द अपने अर्थ को गौण बना करके अर्थान्तर [प्रतीयमान] को अभिव्यक्त किया करते हैं, उसको 'ध्वनि' कहा जाता है। उन [समासोक्ति आदि अलङ्कारों में] उस [ध्वनि] का अन्तर्भाव किस भाँति हो सकेगा? व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता में ध्वनि [काव्य] होता है। समासोक्ति आदि में यह [व्यङ्ग्य अर्थ का प्राधान्य] नहीं है।

[लोचनम्]

यत्रेत्यलङ्कारे। वैशद्येनेति। चारुतया स्फुटतया चेत्यर्थः। अभिहितमिति भूतप्रयोगादौ व्यङ्क्त इत्यस्य व्याखातत्वात्।

यत्र=जहाँ अर्थात् अलङ्कार में। वैशद्येनेति—विशदता के साथ अर्थात् चारुता तथा स्फुटता के साथ। 'अभिहितम्' में भूतकाल का प्रयोग है क्योंकि पहले 'व्यङ्क्तः' [व्यञ्जित करते हैं] की स्पष्ट व्याख्या की जा चुकी है।

(आशुबोधिनी)

'ननु यत्र प्रतीयमानार्थस्य' इत्यादि ध्वन्यालोकीय पंक्तियों से पूर्व कथित 'अलङ्कार दो प्रकार के होते हैं' इत्यादि पंक्तियों में पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है।

[लोचनम्]

गुणीकृतात्मेति। आत्मेत्यनेन स्वशब्दस्यार्थो व्याख्यातः। न चेतदिति। व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यम्। प्राधान्यं च यद्यपि ज्ञप्तौ न चकास्ति; 'बुद्धौ तत्त्वावभासिन्याम्' इति नयेनाखण्डचर्वणा विश्रान्तेः, तथापि विवेचकैर्जीवितान्वेषणे क्रियमाणे यदा व्यङ्ग्योऽर्थः पुनरपि वाच्यमेवानुप्राणयन्नास्ते तदा तदुपकरणत्वादेव तस्यालङ्कारता। ततो वाच्यादेव तदुपस्कृताच्चमत्कारलाभ इति। यद्यपि पर्यन्ते रसध्वनिरस्ति, तथापि मध्यकक्षानिविष्टोऽसौ व्यङ्ग्योऽर्थो न रसोन्मुखी भवति स्वातन्त्र्येण, अपितु वाच्यमेवार्थं संस्कर्तुं धावतीति गुणीभूतव्यङ्ग्यतोक्ता।

'गुणीकृतात्मा' में आत्मा शब्द द्वारा 'स्व' शब्द के अर्थ की व्याख्या की गई है। यह ⋯ नहीं है⋯⋯। व्यङ्ग्य की प्राधानता [नहीं है।] प्रधानता यद्यपि ज्ञप्ति [रस की प्रतीति] के अवसर पर प्रकाशित नहीं हुआ करती है क्योंकि 'बुद्धौ तत्त्वावभासिन्याम्' इस न्याय के अनुसार अखण्डचर्वणा में ही विश्रान्ति हुआ करती है, फिर भी विवेचकों द्वारा जीवित [आत्मा] का अन्वेषण किये जाने पर जब व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य का ही अनुप्राणन किया करता है तब उस वाच्य का उपकरण होने के कारण उसका अलङ्कारत्व माना जाया करता है। ऐसी स्थिति में, उस व्यङ्ग्य के द्वारा उपकृत उस वाच्य से ही चमत्कार का लाभ होता है। यद्यपि अन्त में रसध्वनि होती है तथापि मध्य वाली कक्षा में पड़ा व्यङ्ग्य अर्थ रस की ओर उन्मुख नहीं हुआ करता है, अपितु स्वतन्त्रतापूर्वक वाच्य अर्थ का ही संस्कार करने हेतु दौड़ लगाता है। इसी कारण [उसका] गुणीभूत व्यङ्ग्यत्व कहा है।

(आशुबोधिनी)

अलङ्कारों में जहाँ भी व्यङ्ग्यार्थ रहा करता है वहाँ वह वाच्यार्थ की अपेक्षा गौण रहा करता है, किन्तु ध्वन्यार्थ में व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता हुआ करती है। व्यञ्जनामूलक अलङ्कारों तथा ध्वनि काव्य में यही अन्तर है। इसका उल्लेख पिछली कारिका में किया जा चुका है। कारिका में 'स्व' शब्द का प्रयोग किया गया था जिसकी व्याख्या यहाँ पर आत्मा शब्द द्वारा की गई है।

यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि उस प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति तत्त्वदर्शनसमर्थ बुद्धि में तुरन्त हो जाया करती है जिसके कारण किस भी काव्य का अन्त अखण्डचर्वणा में ही हो जाया करता है तथा उसमें पौर्वापर्य का तनिक भी अनुभव नहीं हो पाया करता है। ऐसा होने पर भी जब विवेचन करने वाले लोग काव्य के जीवन की खोज करने लगते हैं तब उन्हें ज्ञात होता है कि जिस स्थल पर व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ को अनुप्राणित किया करता है वहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ का साधक होने से समासोक्ति आदि अलङ्कार ही हुआ करता है क्योंकि वहाँ पर वाच्यार्थ ही व्यङ्ग्यार्थ से उपस्कृत होकर चमत्कार में कारण हुआ करता है। यद्यपि उसका अन्त रसध्वनि में ही हुआ करता है किन्तु वहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ मध्य में ही सन्निविष्ट हो चुका होता है। ऐसी स्थिति में उस व्यङ्ग्य का रसध्वनि की सहायता में उन्मुख होना संभव नहीं हुआ करता है किन्तु वह वाच्यार्थ की ओर ही दौड़ लगाया करता है। इस भाँति अलङ्कारों में आनेवाला व्यङ्ग्यार्थ गुणीभूतव्यङ्ग्य की सीमा के अन्तर्गत ही आता है, ध्वनि-काव्य के क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं।

ध्वनि सिद्धान्त के विरोधियों द्वारा यह युक्ति दी जा सकती है कि प्राचीन भामह, उद्भट आदि आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में ध्वनि अथवा गुणीभूतव्यङ्ग्य का उल्लेख नहीं किया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वे लोग ध्वनि अथवा व्यङ्ग्य अर्थ से परिचित नहीं थे। उनके द्वारा प्रतिपादित समासोक्ति, आक्षेप, विशेषोक्ति, पर्यायोक्त, अपह्नुति, दीपक, सङ्कर आदि अलङ्कारों में प्रतीयमान अर्थ स्पष्टरूप से अवभासित होता है जो कि वस्तु, रस अथवा अलङ्कार रूप में हो सकता है। अतएव ध्वनि का अन्तर्भाव इन अलङ्कारों के अन्तर्गत हो जायगा। ऐसी स्थिति में ध्वनि को पृथक् रूप से मानने की आवश्यकता न होगी। इस युक्ति का खण्डन करने की दृष्टि से ही ध्वनिकार द्वारा ध्वनि के लक्षण में 'उप-सर्जनीकृतस्वार्थौ' पद का प्रयोग किया गया है।

ध्वन्यालोककार द्वारा लिखे गये उपर्युक्त पद का भाव यही है कि प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति होने पर भी ध्वनि की प्रतीति वहीं हुआ करती है कि जहाँ वाच्य अर्थ स्वयं को गुणीभूत कर अथवा वाचक शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त किया करते हैं। अर्थात् प्रतीयमान अर्थ

के प्रधान होने तथा वाच्य-वाचक के गुणीभूत होने पर ही काव्य ध्वनिकाव्य होगा। यदि प्रतीयमान अर्थ के होने पर भी काव्य में वाच्य-वाचक का ही प्राधान्य रहता है, अर्थ की विश्रान्ति वाच्य-वाचक में ही हो जाती है तो वहाँ गुणीभूत व्यङ्ग्यकाव्य होगा। ऐसी दशा में ध्वन्यालोककार के मतानुसार प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित अलङ्कार दो प्रकार के हो सकते है—एक तो वे कि जिनमें प्रतीयमान अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं होती है, दूसरे वे कि जिनमें प्रतीयमान अर्थ की अभिव्यक्ति होती है किन्तु दूसरे प्रकार के अलङ्कारों में उस अर्थ की प्रधानता न होकर गौणरूपता ही होगी। समासोक्ति, आक्षेप आदि अलङ्कार उसी श्रेणी के हैं तथा इनको ध्वनि न कहकर गुणीभूतव्यङ्ग्य ही कहा जायगा। ध्वन्यालोककार द्वारा इसका विवेचन तृतीय उद्योत की ३७ वीं कारिका में विस्तार के साथ किया गया है। इस भाँति उन्होंने उन अलङ्कारों को, कि जिनमें प्रतीयमान अर्थ की अभिव्यक्ति तो हुई हैं किन्तु उसकी प्रधानता नहीं है,' 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्य के अन्तर्गत माना है।

अब यहाँ सभी प्रकार के प्रतीयमान अर्थों को अलङ्कार की कोटि में रखे जाने वाले पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए ध्वन्यालोककार कहते हैं—

समासोक्ति में ध्वनि के अन्तर्भाव का खण्डन—

समासोक्तौ तावत्—

उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम्॥

इत्यादौ व्यङ्ग्येनानुगतं वाच्यमेव प्राधान्येन प्रतीयते। समारोपितः नायिकानायकव्यवहारयोर्निशाशशिनोरेव वाक्यार्थत्वात्।

समासोक्ति में तो—

अन्वय—उपोढरागेण शशिना विलोलतारकं निशामुखं तथा गृहीतं यथा रागात् तया पुरः अपि गलितं समस्तं तिमिरांशुकं लक्षितम्।

सन्ध्याकालीन लालिमा को धारण किये हुए [अन्यपक्ष में—प्रेमोन्मत्त] शशी अर्थात् चन्द्रमा [पक्षान्तर में—पुलिङ्ग शशी पद से व्यङ्ग्य नायक] ने निशा [रात्रि, पक्षान्तर में—स्त्रीलिङ्ग निशा शब्द से नायिका] के चञ्चल-चञ्चल तारों से युक्त [नक्षत्र, पक्षान्तर में—नायिका के चञ्चल कनीनिका से युक्त]

मुख [प्रारम्भिक अग्रभाग प्रदोषकाल, पक्षान्तर में आनन] का [चुम्बन करने हेतु] इस भाँति ग्रहण किया कि राग [सायंकालीन लालिमा---पक्षान्तर में-नायक के स्पर्श से उत्पन्न अनुरागतिशय] के कारण सम्पूर्ण अन्धकाररूपी वस्त्र-गिर जाने पर भी उसे [रात्रि और नायिका को] दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

यहाँ पर समारोपित नायक नायिका-व्यवहार से युक्त शशी और निशा के ही वाक्यार्थ होने से व्यङ्ग्य से अनुगत वाच्य ही प्रधानतया प्रतीत हो रहा है [अर्थात् व्यङ्ग्य की प्रधानता न होने से यहाँ ध्वनि नहीं है। अतएव ध्वनि का समासोक्ति में अन्तर्भाव होना संभव नहीं है।

[लोचनम्]

समासोक्ताविति—

यत्रोक्तौ गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानैर्विशेषणैः।
सा समासोक्तिरुदिता संक्षिप्तार्थतयाबुधैः॥

इत्यत्र समासोक्तेर्लक्षणस्वरूपं हेतुर्नाम तन्निर्वचनमिति पादचतुष्टयेन क्रमादुक्तम्। उपोढो रागः सान्ध्योऽरुणिमा प्रेम च येन। विलोलास्तारका ज्योतींषि नेत्रत्रिभागाश्च यत्र। तथेति। झटित्येव प्रेमरभसेन च। गृहीतमाभासितं परिचुम्बितुमाक्रान्तं च। निशाया मुखं प्रारम्भो वदनकोकनदं चेति। यथेति। झटिति ग्रहणेन प्रेमरभसेन च। तिमिरं चांशुकाश्च सूक्ष्मांशवस्तिमिरांशुकं रश्मिशबलीकृतं तमःपटलं, तिमिरांशुकं नीलजालिका नवोढाप्रौढवधूचिता। रागाद्रक्तत्वात् सान्ध्यकृतादनन्तरं प्रेमरूपाच्च हेतोः। पुरोऽपि पूर्वस्यां दिशि अग्रे च गलितं पतितं च। रात्र्या करणभूतया समस्तं मिश्रितम्; उपलक्षत्वेन वा। न लक्षित रात्रिप्रारम्भोऽसाविति न ज्ञातं, तिमिरसंवलितांशुदर्शने हि रात्रिमुखमिति लोकेन लक्ष्यते न तु स्फुट आलोके। नायिकापक्षे तु तयेति कर्तृपदम्। रात्रिपक्षे तु अपिशब्दो लक्षितमित्यस्यानन्तरः। अत्र च नायकेन पश्चाद् गतेन चुम्बनोपक्रमे पुरो नीलांशुकस्य गलनं पतनम्। यदि वा 'पुरोऽग्रे नायकेन तथा गृहीतं मुख'मिति सम्बन्धः। तेनात्र व्यङ्ग्ये प्रतीतेऽपि प्राधान्यम्। तथाहि नायकव्यवहारो निशाशशिनावेव शृङ्गारविभावरूपौ संस्कुर्वाणोऽलङ्कारतां भजते। ततस्तु वाच्याद्विभावीभूताद्रसनिःष्यन्दः। यस्तु व्याचष्टे—'तया निशयेति कर्तृपदं, न चाचेतनायाः कर्तृत्वमुपपन्नमिति शब्देनैवात्र नायकव्यवहार

उन्नीतोऽभिधेय एव, न व्यङ्ग्य इत्यत एव समासोक्तिः इति। स प्रकृतमेव ग्रस्यार्थमत्यजद्व्यङ्ग्येनानुगतमिति। एकदेशविवर्ति चेत्थं रूपकं स्यात्, 'राजहंसैरवीज्यन्त शरदैव सरोनृपाः' इतिवत्, न तु समासोक्तिः, तुल्यविशेषणाभात्। गम्यत इति चानेनाभिधाव्यापारनिरासादित्यलमवान्तरेण बहुना। नायिकाया नायके यो व्यवहारः स निशायां समारोपितः, नायिकायां नायकस्य यो व्यवहारः स शशिनि समारोपित इति व्याख्याने नैकशेषप्रसङ्गः।

समासोक्ति में—जिस कथन में उसके समान विशेषणों के आधार पर [प्रस्तुत से अन्य अप्रस्तुत] अर्थ प्रतीत हुआ करता है उसे विद्वान् लोग संक्षिप्त अर्थ होने के कारण 'समास' कहते हैं।

यहाँ श्लोक के चार चरणों [पादों] द्वारा क्रम से समासोक्ति का लक्षण स्वरूप, हेतु, नाम और उसका निर्वचन [व्युत्पत्ति] बतलाया गया है। प्रवृद्ध है राग अर्थात् सन्ध्याकालीन अरुणिमा अथवा लालिमा अथवा प्रेम जिसके द्वारा। विलोल [चंचल] हैं तारक अर्थात् तारे अथवा नेत्रविभाग जिसमें। तथा—। अर्थात् शीघ्र ही [झट ही अथवा प्रेम की उत्सुकता में। गृहीत अर्थात् आभासित अथवा प्रकाशित कर दिया अथवा चुम्बन के लिये आक्रान्त कर लिया। निशा [रात्रि] का मुख अर्थात् प्रारम्भ अथवा मुखकमल। तथा अर्थात् झट पकड़ लेने से अथवा प्रेम के बेग से। तिमिर और अंशुक अर्थात् सूक्ष्म किरणजाल से मिला-जुला अन्धकारसमूह अथवा तिमिरांशुक अर्थात् नवोढा प्रौढवधू द्वारा पहनी हुई नीली जालिका [कामशास्त्र में प्रसिद्ध नीलवर्ण का वस्त्र अथवा नीली साड़ी] राग अर्थात् सायंकालीन अरुणिमा अथवा लालिमा के कारण अथवा प्रेम रूप राग के कारण। पुरोऽपि अर्थात् पूर्व दिशा में अथवा आगे या सामने। 'गलितम्' अर्थात् प्रशान्त और पतित [ढला हुआ] 'तया' अर्थात् करणभूत रात्रि के द्वारा समस्त अर्थात् मिश्रित अथवा उपलक्षण के रूप में रात्रि से। 'न लक्षितम्'—नहीं लक्षित किया, वह रात्रि का प्रारम्भ है, यह नहीं जान पाया क्योंकि अन्धकार से मिश्रित किरणों को देखने पर ही 'रात्रिमुख' को लोग लक्षित कर पाते हैं—समझ पाते है, न कि स्फुट आलोक [प्रकाश] में। 'तया' [उसने] नायिका के पक्ष में यह कर्तृपद है, रात्रिपक्ष में 'अपि' [भी] शब्द 'लक्षितम्' के बाद आया है। यहाँ पीछे की ओर से पहुँचे हुए नायक के द्वारा चुम्बन का उपक्रम

किये जाने पर सामने नीलांशुक का गलन अथवा पतन या गिरना। अथवा 'पुरः' अर्थात् 'आगे नायक ने उस प्रकार मुख को पकड़ा' यह सम्बन्ध करते हैं। ऐसी स्थिति में यहाँ व्यङ्ग्य के प्रतीत होने पर भी उसका प्राधान्य नहीं बनेगा क्योंकि नायक का व्यवहार शृंगार के विभावरूप निशा और शशी को ही उपस्कृत करता हुआ अलङ्कारभाव को प्राप्त कर रहा है, तब तो विभावरूप में स्थित वाच्य से रस प्रवाहित होगा। जिसने यह व्याख्या की—'तया निशया' यह कर्तृपद है; 'निशा' के अचेतन होने के कारण उसका कर्तृत्व बन नहीं सकता, ऐसी स्थिति में यहाँ शब्द ही के द्वारा नायक के व्यवहार का उन्नमन होता है। अतः यह अभिधेय ही है, व्यङ्ग्य नहीं। इसी से यहाँ पर 'समासोक्ति' है। उस व्याख्याकार ने 'व्यङ्ग्येनानुगतम्' इस प्रस्तुत अर्थ को ही छोड़ दिया है। इस भाँति तो एकदेशविवर्ति रूपक हो जायेगा। जैसा कि—सरोवररूपी राजा पर राजहंसरूपी शरद् काल द्वारा हवा की जा रही थी'। समान विशेषणों के न होने से यहाँ समासोक्ति नहीं होगी। समासोक्ति में 'गम्यते' [प्रतीत होता है।] इस पद का प्रयोग कर अभिधाव्यापार का निराकरण किया गया है। इस प्रकार की अधिक अवान्तर चर्चा करना व्यर्थ है। नायिका का नायक में जो व्यवहार है उसका निशा में समारोप कर लिया गया है तथा जो व्यवहार नायिका में नायक का है उसका शशी में समारोप कर लिया गया है। इस भाँति व्याख्यान करने पर एकशेष का प्रसंग ही उपस्थित नहीं होगा।

(आशुबोधिनी)

सर्वप्रथम समासोक्ति को ही ले लिया जाय। समासोक्ति का अर्थ है संक्षिप्त कथन। सादृश्यमूलक अलङ्कारों में प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत दोनों का कथन किया जाया करता है। किन्तु जब एक का ही कथन कर दोनों का कार्य चलाया जाया करता है तब उक्ति [कथन] को संक्षिप्त करने के कारण उसे 'समासोक्ति' नाम से कहा जाया करता है। भामह द्वारा 'समासोक्ति' का यह लक्षण किया गया है—

'यत्रोक्तौ गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः।
सा समासोक्तिरुदिता संक्षिप्तार्थतया बुधैः॥ काव्यालङ्कार ७।७९।'

अर्थात् जिस कथन में समान विशेषणों के कारण प्रस्तुत अर्थ के द्वारा अन्य

[अप्रस्तुत] अर्थ की प्रतीति हुआ करती है, संक्षेप में उस अर्थ का कथन किये जाने के कारण विद्वानों द्वारा उसे समासोक्ति [अलङ्कार] कहा गया है। इस परिभाषा में लक्षण सम्बन्धी चार बातों का कथन चार चरणों में कहा गया है–(१) 'जिस कथन में अन्य अर्थ की प्रतीति हो' इसके द्वारा लक्षण के स्वरूप का कथन किया गया है। (२) समान विशेषणों के होने से 'यह हेतु' है। 'वह समासोक्ति कही जाती है' के द्वारा 'नाम' और 'अर्थ के संक्षिप्त होने के कारण' के द्वारा समासोक्ति शब्द की व्युत्पत्ति की गई है।

समासोक्ति में प्रस्तुत का वर्णन इस प्रकार के शब्दों द्वारा किया जाया करता है कि जिनके द्वारा एक अन्य अप्रस्तुत अर्थ स्वतः ही अवभासित होने लगा करता है तथा उस प्रतीयमान अप्रस्तुत अर्थ के साथ प्रस्तुत अर्थ का उपमानोपमेयभाव बन जाया करता है।

'उपोढरागेण' इत्यादि उपर्युक्त उदाहरण में कवि द्वारा संध्याकालीन चन्द्रोदय का वर्णन किया जा रहा है। उसमें निशा तथा शशी का वर्णन प्रकृत है। निशा तथा शशी के समान लिङ्ग तथा समान विशेषणों के कारण नायिका एवं नायक की प्रतीति हो रही है। उनके व्यवहार का समारोप निशा और शशी पर होने से यहाँ 'समासोक्ति' अलङ्कार माना गया है।

यहाँ पूर्वपक्ष द्वारा यह कहा जा रहा है कि प्रस्तुत वर्णन में नायक-नायिका व्यवहार व्यङ्ग्य है, वाच्य नहीं। कहने का अभिप्राय यह है कि इसमें समासोक्ति के साथ 'ध्वनि' भी है। अतएव ध्वनि का अन्तर्भाव समासोक्ति अलङ्कार के अन्तर्गत किया जा सकता है। इसके उत्तर में ग्रन्थकार का कहना है कि—

उपर्युक्त वर्णन में व्यङ्ग्य की प्रधानता नहीं है। अतएव 'ध्वनि' का समासोक्ति में अन्तर्भाव होना भी संभव नहीं है।

'उपोढरागेण' इत्यादि श्लोक की पूर्व व्याख्या यथास्थान की जा चुकी है। इसमें आये हुए कुछ श्लिष्ट शब्दों का अर्थ समझ लेना आवश्यक है। 'राग' का अर्थ है सायंकालीन लालिमा अथवा प्रेम। 'विलोलतारकम्' का अर्थ है—चञ्चल ताराओं से युक्त अर्थात् नक्षत्र झिलमिला रहे हैं अथवा जिसकी आँख की कनीनिका संभोग की उत्कण्ठा के कारण चञ्चल हो रही है। 'तथेति' का अर्थ है शीघ्रही अथवा प्रेम के आवेश में आकर। 'गृहीतम्' का अर्थ है पकड़ लिया

अर्थात् प्रकाशित कर दिया अथवा चुम्बन के लिये आक्रान्त कर लिया। निशा-मुख' में 'मुख' का अर्थ है प्रारम्भिक रात्रि का समय अथवा मुखकमल। 'कि' का अर्थ है 'शीघ्रही पकड़ लेने के कारण अथवा प्रेम सम्बन्धी उत्सुकता के कारण। 'तिमिरांशुकम्' का अर्थ है सूक्ष्म किरणों से युक्त अन्धकारसमूह अथवा नील-जालिका नामक वस्त्र कि जोकामशास्त्र की दृष्टि से प्रौढ़ नवोढा द्वारा पहनने के योग्य हुआ करता है। 'पुरतः' का अर्थ है पूर्वदिशा की ओर अथवा आगे। 'रागात्'—का अर्थ है—सन्ध्याकालीन लालिमा के पश्चात् [सायंकालीन अरुणिमा के समय ही अन्धकार नष्ट हो जाता हो, ऐसा नहीं है। वह तो उसके पश्चात् नष्ट हुआ करता है।] अथवा नायक के स्पर्श से उत्पन्न हुए प्रेमातिशय के कारण। 'गलितम्'—का अर्थ है—शान्त हुआ अथवा गिर गया। 'तया' में रात्रि के पक्ष में यहाँ कारण में तृतीया विभक्ति हुई है अथवा उपलक्षण में। अर्थ होगा—उसके द्वारा लक्षित नहीं किया गया। अभिप्राय यह है कि लोक यह भी न समझ सका कि अँधेरा समाप्त हो गया है क्योंकि अन्धकारमिश्रित किरणों का आलोकन कर लोक रात्रि के मुख अर्थात् प्रारम्भ को तो समझ लिया करता है किन्तु प्रकाश के स्पष्ट प्रकट हो जाने पर समझ नहीं पाता। [नायिका के पक्ष में—] 'तया' में तृतीया विभक्ति कर्त्ता में है। अतएव अर्थ होगा कि नायिका ने गिरे हुए वस्त्र को भी नहीं जान पाया।

अब उपर्युक्त पद्य का अर्थ होगा—रात्रि का प्रारम्भ होते ही पूर्व दिशा में चन्द्रमा का उदय होने लगा। उस समय आकाश में तारे [नक्षत्र] झिलमिला रहे थे। अन्धकार के साथ चन्द्रमा की किरणों का मिश्रण होने के साथ ही पूर्व दिशा में ललिमा छाने लगी किन्तु लोक को यह ज्ञात न हो सका किस समय रात्रि के अन्धकार का आवरण ढल गया? इस प्रकार का चन्द्रोदय सम्बन्धी वर्णन ही कवि को अभीष्ट है किन्तु समान विशेषणों के कारण निम्नलिखित व्यङ्ग्यार्थ भी अभिव्यक्त होता हुआ प्रतीत होता है—

प्रिय-मिलन की दृष्टि से निशा नाम की नायिका आ उपस्थित हुई। प्रेमोन्मत्त नायक ने चुपके से आकर नायिका के मुखकमल को थामकर चुम्बन करना प्रारम्भ कर दिया। नायिका प्रेमरस में विभोर हो गई। उसके मुख पर पड़ा नीलवस्त्र सामने ही नीचे गिर गया किन्तु प्रेमरसविभोर नायिका यह जान ही न सकी कि उसका वह वस्त्र कब गिर गया?

निःसन्देह उपर्युक्त काव्य में निशा—शशि के वाच्यार्थं द्वारा नायिका-नायक व्यवहार भी व्यञ्जित हो रहा है किन्तु वास्तविकता यह है कि कवि को रात्रि के प्रारम्भिक काल में चन्द्रोदय का वर्णन करना ही अभीष्ट है तथा यही मुख्यार्थ भी है। अतएव इसी की प्रधानता भी है। ऐसी स्थिति में इससे व्यञ्जित होने वाला व्यङ्ग्यार्थ गुणीभूत होगा। वाच्य अर्थ के प्रधान तथा व्यङ्ग्य अर्थं के गुणीभूत होने के कारण इस काव्य को गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य ही कहा जा सकेगा, ध्वनिकाव्य नहीं।

कुछ अन्य लोगों ने इस प्रसंग की व्याख्या निम्नलिखित रूप में की है—

'रात्रि पक्ष में भी—उससे मिलाया हुआ तिमिरांशुक रागवश पुरतः गलित होता हुआ भी लक्षित न किया जा सका'। यह कर्तृपरक अर्थ किया गया है। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि रात्रि तो अचेतन है। ऐसी स्थिति में 'देखना' क्रिया के प्रति उसका कर्ता हो सकना संभव नहीं है। इस भाँति यहाँ पर शब्द [अभिधावृत्ति] के द्वारा ही नायक के व्यवहार की प्रतीति होती है। अतएव नायक का व्यवहार भी अभिधावृत्तिगम्य ही है। उसका [नायक का] व्यवहार व्यङ्ग्य नहीं है। इसी कारण यहाँ 'सामासोक्ति' मानी गई है।'

किन्तु इस प्रकार की व्याख्या किये जाने से प्रस्तुत ग्रन्थ का यह आशय [कि 'उपोढरागेण' इत्यादि पद्य में व्यङ्ग्यार्थ के द्वारा अनुगत होकर वाच्यार्थ की प्रतीति होती है] ही छूट जायगा। साथ ही 'रात्रि' को कर्त्ता मानकर वाच्यार्थ द्वारा ही नायकनायिकापरक अर्थ की प्रतीति स्वीकार करनी होगी तब तो यह एकदेशविवर्ति रूपक ही हो जायेगा, समासोक्ति का उदाहरण न बन सकेगा। अतएव उपर्युक्त व्याख्या ठीक नहीं है।

ध्वन्यालोककार द्वारा 'उपोढरागेण' इत्यादि पद्य की व्याख्या करते हुए 'नायिकानायकव्यवहारयोः' इस पद का प्रयोग किया गया है। 'नायिकानायक' में द्वन्दसमास है। अतएव पाणिनि के 'पुमानस्त्रिया' इस सूत्र के नियमानुसार इसमें एकशेष हो जाना चाहिये था किन्तु यहाँ पर अर्थ में पार्थक्य है—नायिका का नायक में जो व्यवहार है वह 'निशा' पर आरोपित किया गया है तथा नायिका के प्रति नायक का जो व्यवहार है उसका भी चन्द्र पर आरोप किया गया है। ऐसी व्याख्या किये जाने पर एकशेष का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है।

ध्वन्यालोकः

आक्षेपेऽपि व्यङ्ग्यविशेषाक्षेपिणोऽपि वाच्यस्यैव चारुत्वं प्राधान्येन वाक्यार्थं आक्षेपोक्ति सामर्थ्यादेव ज्ञायते। तथा हि तत्र शब्दोपारूढो विशेषाभिधानेच्छया प्रतिषेधरूपो य आक्षेप स एव व्यङ्ग्यविशेषमाक्षिपन् मुख्यं काव्यशरीरम्।

आक्षेप अलङ्कार में 'ध्वनि' के अन्तर्भाव का निषेध—

इसी भाँति आक्षेपालङ्कार में भी व्यङ्ग्यविशेष का आक्षेप कराने वाला होने पर भी वाच्यार्थ की ही [चारुत्वकृत] प्रधानता है क्योंकि आक्षेपवचन के सामर्थ्य से ही प्रधानरूप से वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। जैसा कि–विशेष बात कहने की इच्छा से शब्द द्वारा वाच्य कि जो प्रतिषेधरूप आक्षेप है वही व्यङ्ग्यविशेष को व्यञ्जित करता हुआ मुख्य काव्यशरीर है।

[लोचनम्]

आक्षेप इति।

प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः॥

तत्राद्यो यथा—

अहं त्वां यदि नेक्षेयं क्षणमप्युत्सुका ततः।
इयदेवास्त्वतोऽन्येन किमुक्तेनाप्रियेण ते॥

इति वक्ष्यमाणमरणविषयो निषेधात्माक्षेपः। तत्रेयदस्त्वित्येतदेवात्र प्रिये इत्याक्षिपत्सच्चारुत्वनिबन्धनमित्याक्षेप्येणाक्षेपकमलंकृतं सत्प्रधानम्। उक्तविषयस्तु यथा ममैव —

भो भोः किमकाण्ड एव पतितस्त्वं पान्थ कान्या गति-
स्तत्तादृक्तृषितस्य मे खलमतिः सोऽयं जलं गूहते।
अस्थानोपनतामकालसुलभां तृष्णां प्रतिक्रुध्य भोः
त्रैलोक्यप्रथितप्रभावमहिमा मार्गः पुनर्मारवः॥

अत्र कश्चित्सेवकः प्राप्तः प्राप्तव्यमस्मात्किमिति न लभ इति प्रत्याशाविशस्यमानहृदयः केनचिदमुनाक्षेपेण प्रतिबोध्यते। तत्राक्षेपेण निषेधरूपेण वाच्य-

स्यैवासत्पुरुषसेवातद्वैफल्यतत्कृतोद्वेगात्मनः शान्तरसस्थायिभूतनिर्वेदविभावरूपतया चमत्कृतिदायित्वम्।

विशेष कथन की इच्छा से इष्ट वस्तु का प्रतिषेध-सा किया जाय तो वह 'वक्ष्यमाणविषय' तथा 'उक्तविषय' के भेद से दो प्रकार का 'आक्षेप' [अलंकार] हुआ करता है।

उसमें पहला जैसे—'यदि मैं तुमको क्षण भर भी न देखूं तो उत्कण्ठा से—' इतना ही रहने दो, इसके बाद की दूसरी तेरी अप्रिय बात कहने से क्या लाभ ?' यह वक्ष्यमाण मरणविषयक निषेधरूप आक्षेप है।

'इतना ही रहने दो' केवल यही यहाँ 'मर जाऊँगी' इसका आक्षेप करते हुए चारुत्व का निबन्धन हो जाता है। अर्थात् इसका पहले ही निषेध कर दिया गया है। इस भाँति यहाँ 'म्रिये' [मर जाऊँगी] यह व्यङ्ग्य है। अतएव यहाँ [आक्षेप अलङ्कार] में व्यङ्ग्यार्थ के होने से ध्वनि का अन्तर्भाव आक्षेप अलंकार में किया जा सकता है। यह कथन पूर्वपक्षी का है। इसका उत्तर वही होगा जैसा कि समासोक्ति में कहा जा चुका है। अभिप्राय यहीं है कि 'ध्वनि' वहहुआ करती है कि जहाँ व्यङ्ग्य की प्रधानता हो। व्यङ्ग्य अर्थ तो वहाँ अवश्य है किन्तु उस कि प्रधानता नहीं है। उस व्यङ्ग्यार्थ से वाच्यार्थ ही अलङ्कृत हो रहा है। अत एव यहाँ ध्वनि तो है ही नहीं। ऐसी स्थिति में आक्षेप अलंकार में ध्वनि के अन्तर्भाव का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है।

'उक्तविषय [आक्षेप]'—जैसा मेरा ही [आचार्य अभिनवगुप्त का ही]—

[कोई सेवक अपने कृपण स्वामी की सेवा में संलग्न है। वह अपने प्राप्तव्य-धन को प्राप्त करने का इच्छुक है। उसके द्वारा धन देने से निषेध करने पर अन्य व्यक्ति उसे समझाते हुए इस आक्षेप द्वारा उसको प्रतिबोधित कर रहा है :—]

'हे पथिक ! तुम गलत स्थान पर क्यो आ पहुँचे हो ? 'मुझे ऐसी प्यास ही लगी है तो मैं क्या करता ? यह दुष्ट बुद्धिवाला तो जल को छिपा लेता है।' बिना स्थान के आई हुई तथा बिना अवसर के प्राप्त हुई इस तृष्णा के प्रति क्रोध करो। अन्यथा [यह किसे नहीं मालूम कि] यह तीनों लोंको में प्रसिद्ध प्रभाव एवं महिमावाला मरु का मार्ग है [यहाँ जल की आशा करना व्यर्थ है]।

यहाँ पर कोई सेवक अपने स्वामी के समीप पहुँचता है। इस प्रत्याशा से कि

क्यों नहीं इससे वह अपने प्राप्तव्य धन को प्राप्त करेगा। उसका हृदय विश्वास कर रहा है, तभी कोई व्यक्ति उसे इस 'आक्षेप' के द्वारा उसका प्रतिबोधन करता है। वहाँ निषेधरूप आक्षेप के द्वारा असत्पुरुष की सेवा और उसकी विफलता तथा उससे उत्पन्न उद्वेगरूप वाच्य का शान्त रस के स्थायीभाव निर्वेद के [उद्दीपक] विभाव होने के कारण चमत्कृतिकारित्व है।

(आशुबोधिनी)

अब आक्षेप-अलङ्कार को देखिये। भामह द्वारा इसका लक्षण और उदाहरण निम्नाङ्कितरूप में किया गया है :—'[व्यङ्ग्यभूत] विशिष्ट अर्थ के प्रतिपादन की अभिलाषा से जहाँ अभिलषित अभीष्ट कथन का निषेध जैसा कर दिया जाय, उसे 'आक्षेप' कहते हैं। यह दो प्रकार का हुआ करता है–(१) वक्ष्यमाण [अनुक्त] विषय और (२) उक्त विषय। वक्ष्यमाण अनुक्त विषय का उदाहरण' 'अहं त्वां यदि' इत्यादि है। इसमें प्रस्थान के उद्यत प्रियतम के प्रति कोई नायिका कह रही है :—

'यदि मैं तुमको क्षण भर के लिये भी न देखूं तो उत्कण्ठा के कारण''''अथवा इतना ही रहने दो, मैं तुमसे अप्रिय बात क्यों कहूं ?

इस स्थल पर 'यदि मैं क्षण भर भी तुमको न देखूं तो मैं मर जाऊंगी' ऐसा कहना अभीष्ट था। किन्तु रहने दो, मैं तुमसे अप्रिय बात क्यों कहूँ ? ऐसा कह कर उसको व्यञ्जित किया गया है। यहाँ व्यङ्ग्यार्थ 'मर जाऊँ' की अपेक्षा वाच्यार्थ 'क्यों कहूँ ?' में अधिक चमत्कार है। व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ को केवल अलंकृत करता है, आस्वादन में कारण वाच्यार्थ ही होता है। अतएव उक्त स्थल पर व्यङ्ग्यार्थ ध्वनि के क्षेत्र से पृथक् हो जाता है। इसीको आक्षेप अलङ्कार कहा जाता है। अब 'उक्त विषय' आक्षेप अलङ्कार का उदाहरण देखिए :—यह पद्य आचार्य अभिनवगुप्त का ही है :—

कोई सेवक अपने कृपण स्वामी की सेवा में संलग्न है। वह अपने प्राप्तव्य धन की प्राप्ति की आशा में है किन्तु वह धन उसे प्राप्त हो नहीं रहा है। कोई दूसरा व्यक्ति उसकी सेवा से अपने को पृथक् करने का निर्देश देते हुए कह रहा है :—

हे पथिक ! तुम इस मरुदेश में अपनी पिपासा को शान्त करने की इच्छा से क्यों आ पड़े हो ? [अभिप्राय यह है कि तुम धन की प्राप्ति की आशा से इस

कृपण स्वामी की शरण में क्यों आये हो, यहाँ तुमको एक पैसे की प्राप्ति की आशा नहीं करनी चाहिए]। यह तुम्हारा स्वामी तो साक्षात् मरुस्थल के तुल्य है। जैसे मरुस्थल के मार्ग में पिपासा शान्त करने लिये जल का मिल पाना बहुत कठिन हो जाया करता है, उसी प्रकार से इस कृपण स्वामी से धन की प्राप्ति हो सकना भी संभव नहीं है।

'आक्षेप' अलङ्कार वहीं पर हुआ करता है कि जहाँ प्रकरण के अनुसार किसी बात को कहना अनिवार्य हो किन्तु उसमें किसी प्रकार के वैशिष्टच का आधान करने के निमित्त उसका निषेध कर दिया गया हो। किसी बात को बिना कहे हुए ही यह निषेध इस प्रकार हो सकता है कि श्रोता के लिए उसका विधिपरक तात्पर्य स्पष्ट हो जाय। उपर्युक्त उदाहरण में निषेध विधिपरक है। यहाँ आक्षेप अलंकार है।

उपर्युक्त उदाहरण में असत्पुरुष की सेवा और उसकी विफलता ही विभाव है। चित्त में उद्भूत होने वाले उद्वेग के कारण उत्पन्न हुई विवर्णता आदि अनुभाव है। इस भाँति यहाँ शान्त रस का स्थायीभाव 'निर्वेद' व्यक्त होता है। आक्षेप के द्वारा असत्पुरुष की सेवा से उस सेवक को पृथक् करना ही वक्ता को अभीष्ट है जो कि व्यञ्जनावृत्ति द्वारा आक्षिप्त होता है। इस व्यङ्ग्यार्थ द्वारा उपकृत होकर वाच्यार्थ ही चमत्कृति को प्रदान करने वाला हो गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि यहाँ मरुस्थल का अर्थ वाच्यार्थ है तथा असत्पुरुष का अर्थ व्यङ्ग्य। इस व्यङ्ग्यार्थ से उपकृत होकर वाच्यार्थ 'निर्वेद' का आस्वादन करने में कारण है। अतएव उसी की प्रधानता है।

[लोचनम्]

वामनस्य तु 'उपमानाक्षेपः' इत्याक्षेपलक्षणम्। उपमानस्य चन्द्रादेराक्षेपः। अस्मिन् सति किं त्वया कृत्यमिति। यथा—

तस्यास्तन्मुखमस्ति सौम्यसुभगं किं पार्वणेन्दुना
सौन्दर्यस्य पदं दृशौ यदि च तैः किं नाम नीलोत्पलैः।
किं वा कोमलकान्तिभिः किसलयैः सत्येव तत्राधरे
हा धातुः पुनरुक्तवस्तुरचनारम्भेष्वपूर्वो ग्रहः॥

अत्र व्यङ्ग्योऽप्युपमार्थो वाच्यस्यैवोपस्कुरुते। किं तेन कृत्यमिति स्वपहस्तना-

रूप आक्षेपो वाच्य एव चमत्कारकारणम्। यदि वोपमानस्याक्षेपः सामर्थ्यादाकर्षणम्। यथा—

ऐन्द्रः धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद्दधानार्द्रनखक्षताभम्।
प्रसादयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकं चकार॥

इत्यत्रेर्ष्याकलुषितनायकान्तारमुपमानक्षिप्तमपि वाच्यार्थमेवालङ्करोतीत्येषा तु समासोक्तिरेव। तदाह—चारुत्वोत्कर्षेति।

वामन ने तो 'आक्षेप' का लक्षण 'उपमाक्षेपः' [वामन स० ४।३।२७।] किया है। अभिप्राय यह है कि जहां उपमान का आक्षेप उपमान के निष्फल होने आदि का कथन किया जाय उसे 'आक्षेप अलंकार' कहा जाता है। उपमान चन्द्र आदि का आक्षेप। इसके होते हुए तुम्हारा क्या काम ? जैसे—'उस रमणी का सौम्य तथा सुन्दर मुख विद्यमान है ही फिर पूर्णिमा के चन्द्र की क्या आवश्यकता यदि उसके दोनों नेत्र सौन्दर्य के स्थानभूत हैं तो फिर उन नीलकमलों की आवश्यकता ही क्या ? उसके इधर के रहते हुए कोमल कान्तिवाले किसलयों से क्या ? ओह ! एक वस्तु के पश्चात् पुनः उसी के सदृश अन्य वस्तु के निर्माण में विधाता का अपूर्व आग्रह है।'

इस स्थल पर उपमारूप अर्थ व्यङ्ग्य होता हुआ भी वाच्य का ही उपकरण है। 'उसकी आवश्यकता ही क्या ? यह अपहस्तना [निराकरण] रूप आक्षेप वाच्य होकर ही चमत्कार का कारण है। अथवा उपमान का आक्षेप अर्थात् अर्थ की सामर्थ्य से आकर्षण है। जैसे—

'अपने पाण्डु वर्णवाले पयोधर [मेघ, पक्ष में स्तन] के समान गीले [आर्द्र] नखक्षत की भाँति इन्द्रधनुष को धारण किये हुए तथा कमकलयुक्त चन्द्रमा को प्रसन्न करती हुई शरद् ने सूर्य के सन्ताप को अधिक कर दिया।'

इस स्थल पर ईर्ष्या के कारण कलुषित दूसरे नायक रूप उपमान आक्षिप्त होकर भी वाच्यार्थ को ही अलंकृत कर रहा है। इस भाँति यह तो समासोक्ति ही है। जैसा कि कहा है :—चारुत्व के उत्कर्ष।

(आशुबोधिनी)

वामन द्वारा 'आक्षेप' का लक्षण 'उपमानाक्षेपः' किया है। इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ पर उपमान का आक्षेप अर्थात् निष्फल होने का कथन किया जाय

वहाँ 'आक्षेप' अलंकार होता है। इसमें यह कहा जाया करता है कि अमुक वस्तु के होते हुए उपमान का क्या काम ? जैसे—

'सौम्य एवं सौभाग्य से युक्त उसका मुख विद्यमान है ही, फिर पूर्णिमा के चन्द्र की क्या आवश्यकता ?' सौन्दर्य के स्थानभूत उसके दोनों नेत्र विद्यमान हैं ही, फिर उन नीलकमलों की आवश्यकता ही क्या ? उसके अधर के होते हुए होने पर सुकोमल किसलयों की आवश्यकता क्या ? बड़े दुःख की बात है कि एक बार निर्मित वस्तुओं का दुबारा निर्माण करने में विधाता का अपूर्व आग्रह बना हुआ है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब उनसे भी अधिक सुन्दर वस्तुयें नायिका के अंगों के रूप में विद्यमान हैं तो पुनः उन्हीं वस्तुओं को रचना करने में विधाता का आग्रह क्यों है। वह तो दुराग्रहमात्र ही है।'

उपर्युक्त उदाहरण में 'नायिका का मुख पूर्णिमा के चन्द्र के समान है' इस उपमा की व्यञ्जना होती है। यह व्यङ्ग्य-उपमा वाच्यार्थ को ही अलङ्कृत करती है तथा वाच्य ही चमत्कार में कारण भी है। 'किं पार्वणेनेन्दुना' से उपमानभूत चन्द्रमा की निष्फलता का कथन किये जाने से वाच्य ही अधिक चमत्कारी है। ऐसीस्थिति में यहाँ भी व्यङ्ग्यप्रधानरूप ध्वनि का अस्तित्व न होने के कारण उस [ध्वनि] के 'आक्षेप' अलङ्कार में अन्तर्भाव होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है।

[यहाँ यह विचारणीय बात है कि इन व्यञ्जनामूलक अलङ्कारों के बारे में प्राचीन तथा अर्वाचीन आचार्य एकमत नहीं हैं। वामन के मतानुसार उपर्युक्त उदाहरण में उपमान का आक्षेप स्वीकारकर 'आक्षेप अलङ्कार' माना गया है किन्तु काव्यप्रकाशकार आदि आचार्यों द्वारा यहाँ पर 'प्रतीप' अलङ्कार माना गया है।]

इन सभी उदाहरणों में यह ध्यान रखने योग्य बात है कि 'व्यङ्ग्य' और 'ध्वनि' शब्द समानार्थक नहीं हैं। वैसे तो सभी प्रतीयमान अर्थ व्यङ्ग्य है; किन्तु ध्वनिकाव्य वहीं हुआ करता है कि जहाँ व्यङ्ग्य की प्रधानता हुआ करती है।

कुछ व्याख्याकारों ने 'उपमानाक्षेपः' की व्याख्या में 'उपमानस्य आक्षेपः सामर्थ्यादाकर्षणम्' किया है। अर्थात् जहाँ उपमान का सामर्थ्य से आकर्षण

किया जाय, वह शब्दतः उपात्त न हो, उसे 'आक्षेप' अलङ्कार कहा जाता है। इस व्याख्या के अधार पर 'आक्षेप' अलङ्कार का निम्नलिखित उदाहरण दिया गया है—

"ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद्दधानार्द्रनखक्षताभम्।
प्रसादयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकं चकार॥'

अर्थात् पाण्डुवर्ण के पयोधर–मेघ [पक्षान्तर में–स्तन] पर गीले शीघ्रही उत्पन्न किये गये नखक्षत के समान इन्द्रधनुष को धारण करने वाली, और कलङ्क [चिह्न] सहित [नायिकोपयोग्यजन्य कलङ्क से युक्त] चन्द्रमा को प्रसन्न अर्थात् उज्ज्वल [पक्षान्तर में –हर्षित करती हुई] शरद् ऋतु रूप नायिका ने सूर्य रूप नायक के सन्ताप को और अधिक बढ़ा दिया।

इसमें भी ईर्ष्या से कलुषित अन्य नायक रूप उपमान का आक्षेप कर लिया गया है। किन्तु वह वाच्यार्थ को ही अलङ्कृत करता है। वामन ने इस उपर्युक्त उदाहरण को आक्षेप का उदाहरण माना है किन्तु भामह आदि के मतानुसार तो यहाँ समासोक्ति ही है।

ध्वन्यालोकः

चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा। यथा--

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरःसरः।
अहो दैवगतिः कीदृक् तथापि न समागमः॥

अत्र सत्यामपि व्यङ्ग्यप्रतीतौ वाच्यस्यैव चारुत्वमुत्कर्षवदिति तस्यैव प्राधान्यविवक्षा।

चारुत्वोत्कर्ष ही प्राधान्य का नियामक है—

क्योंकि वाच्य और व्यङ्ग्य प्राधान्य की विवक्षा चारुत्व के उत्कर्ष के आधार पर ही हुआ करती है। जैसे—

'सन्ध्या [नामक अथवा सन्ध्यारूपी नायिका] अनुराग [सायंकालीन लालिमा—पक्षान्तर में—प्रेम] से युक्त है और दिवस [नामक अथवा दिवसरूप नायक] उसके [स्थित ही, नहीं 'पुरः सरति गच्छति इति पुरःसरः'] सामने आ रहा है। दैव की गति कैसी विलक्षण है कि फिर भी उनका मिलन नहीं हो पाता'

यहाँ [नायिकाव्यवहाररूप] व्यङ्ग्य की प्रतीति होने पर भी वाच्य का ही चारुत्व अधिक होने के कारण उसी का प्राधान्य विवक्षित है।

[लोचनम्]

अत्रैव प्रसिद्धं दृष्टान्तमाह। अनुरागवतीति। तेन आक्षेपप्रमेयसमर्थनमेवापरिसमाप्तमिति मन्तव्यम्। तत्रोदाहरणत्वेन समासोक्तिश्लोकः पठितः। अहो दैवगतिरिति। गुरुपारतन्त्र्यादिनिमित्तोऽसमागम इत्यर्थः। तस्यैवेति। वाच्यस्यैवेति यावत्। वामनाभिप्रायेणायमाक्षेपः। भामहाभिप्रायेण तु समासोक्तिरित्यमुमाशयं हृदये गृहीत्वा समासोक्त्याक्षेपयोः युक्त्येदमेकमेवोदाहरणं व्यतरद् ग्रन्थकृत्। एषापि समासोक्तिर्वाऽस्तु आक्षेपो वा, किमनेनास्माकम्। सर्वथालङ्कारेषु व्यङ्ग्यं वाच्ये गुणीभवतीति नः साध्यमित्यत्राशयोऽत्र ग्रन्थे अस्मद् गुरुभिर्निरूपितः।

यहीं पर प्रसिद्ध दृष्टान्त को कहते हैं। अनुराग तथा वही संध्या...। अतएव यह मानना चाहिये कि आक्षेप अलङ्कार के प्रमेय [उदाहरण] का समर्थन अभी पूर्णरूपेण समाप्त नहीं हो पाया है। वहाँ उदाहरण के रूप में 'समासोक्ति' का श्लोक पढ़ा गया है। अहो दैवगतिरिति। अर्थात् गुरुजनों की परतन्त्रता आदि के कारण समागम का अभाव है। उसी के...। अर्थात् वाच्य का ही। वामन के अभिप्राय से यह 'आक्षेप' ही है। भामह के अभिप्राय से 'समासोक्ति' है। इस आशय को हृदय में रखकर समासोक्ति और आक्षेप का ग्रन्थकार द्वारा युक्तिपूर्वक एक ही उदाहरण दे दिया गया है। वह भी समासोक्ति हो अथवा आक्षेप, इससे हमारा क्या प्रयोजन? सर्वथा हमारा तो साध्य यह है कि अलङ्कारों में व्यङ्ग्य वाच्य में गुणीभूत होकर रहा करता है। इस प्रकार के आशय को हमारे गुरुओं ने इस ग्रन्थ में निरूपित किया है।

(आशुबोधिनी)

वस्तुतः वाच्य और व्यङ्ग्य के प्राधान्य की विवक्षा चारुत्व सम्बन्धी उत्कर्ष के आधार पर ही हुआ करती है। जैसे—

'सन्ध्या अनुराग से भरी हुई है, तथा दिन उसके आगे आगे चल रहा है। फिर भी देखो कि भाग्य का चक्र कितना विचित्र है कि दोनों का समागम नहीं हो पा रहा है।'

इस स्थल पर संध्या के लिये नायिका का आक्षेप कर लिया जाता है और दिन के लिये नायक का। नायिका प्रेम से भरी हुई है तथा नायक भी सामने ही विद्यमान है किन्तु गुरुजनों की परतन्त्रता आदि के कारण समागम का हो सकना संभव नहीं हो पा रहा है। यद्यपि इस व्यङ्ग्यार्थ की निःसृति यहाँ पर हो रही है किन्तु फिर भी सौन्दर्य का अन्त वाक्यार्थ में ही हो रहा है। इस कारण प्रधानता उसी की कही जायेगी।

उक्त उदाहरण में वामन के मतानुसार आक्षेप अलङ्कार है तथा भामह के मतानुसार समासोक्ति। इस बात को ध्यान में रखकर समासोक्ति तथा आक्षेप—दोनों ही अलङ्कारों का मिश्रित उदाहरण ग्रन्थकार द्वारा दिया गया है। वस्तुतः यहाँ पर समासोक्ति है अथवा आक्षेप, यह विषय यहाँ पर विचारणीय नहीं है। चाहे यहाँ समासोक्ति हो अथवा आक्षेप, इससे हमको कुछ लेना-देना नहीं है। हमको तो इतना ही ध्यान में रखना है कि सभी अलङ्कारस्थलों पर व्यङ्ग्य की प्रधानता होने के कारण उसे ध्वनिकाव्य कहा जा सकना संभव ही नहीं है। ऐसी स्थिति में ध्वनि का अलङ्कारों में अन्तर्भाव होने का प्रश्न उत्पन्न ही नहीं होता है। इसी कारण ध्वन्यालोककार ने यह काव्य लिख दिया कि 'व्यङ्ग्य और वाच्य की प्रधानता चारुत्व के उत्कर्ष पर ही निर्भर हुआ करती है।' इसी बात को अब अन्यरूप से सिद्ध किया जा रहा है :—

ध्वन्यालोकः

यथा च दीपकापह्नुत्यादौ व्यङ्ग्यत्वेनोपमायाः प्रयीतावपि प्राधान्येनाविवक्षितत्वान्न तया व्यपदेशस्तद्वदत्रापि द्रष्टव्यम्।

चारुत्वोत्कर्ष के ही आधार पर 'दीपक' और 'अपह्नुति' का व्यवहार :—

और जिस भाँति दीपक तथा अपह्नुति आदि में व्यङ्ग्यरूप में उपमा की प्रतीति होने पर भी [उपमा जैसा चारुत्वोत्कर्ष न होने से] उसका प्राधान्य विवक्षित न होने के कारण 'उपमा' नाम से व्यवहार नहीं हुआ करता है। इसी भाँति यहाँ [दीपक आदि में] भी समझना चाहिये।

[लोचनम्]

एवं प्राधान्यविवक्षायां दृष्टान्तमुक्त्वा व्यपदेशोऽपि प्राधान्यकृत एव भवतीत्यत्र दृष्टान्तं स्वपरप्रसिद्धमाह—यथा चेति। उपमाया इति। उपमानोप-

मेयभावस्येत्यर्थः तयेत्युपमया। दीपके हि 'आदिमध्यान्तविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते' इति लक्षणम्।

मणिः शाणोल्लीढः समरविजयी हेति दलितः
कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बालललना।
मदक्षीणो नागः शरदि सरिदाश्यानपुलिना
तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु जनाः॥

इत्यत्र दीपनकृतमेव चारुत्वम्। 'अपह्नुतिरभीष्टस्य किञ्चिदन्तर्गतोपमा' इति। तत्रापह्नुत्यैव शोभा। यथा—

नेयं विरौति भृङ्गाली मदेन मुखरा मुहुः।
अयमाकृष्यमाणस्य कन्दर्पधनुषो ध्वनिः॥ इति॥

इस भाँति प्रधानता की विवक्षा के सम्बन्ध में दृष्टान्त कहकर व्यपदेश [नाम का व्यवहार] भी प्रधानता के आधार पर ही हुआ करता है। एतद्विषयक अपने और दूसरे के अनुसार प्रसिद्ध दृष्टान्त भी दे रहे हैं—यथा चेति। उपमा की-। अर्थात् उपमानोपमेयभाव का। उससे-अर्थात् उपमा से। 'दीपक' में 'आदि विषय मध्य विषय और अन्त विषय के भेद से तीन प्रकार का दीपक होता है' यह लक्षण है।

'शान पर घिसी हुई मणि, शस्त्रों के प्रहार से आहत समरविजयी वीर, कला मात्र शेष वाला चन्द्रमा, सुरत के प्रसंग में मसली हुई बालललना, क्षीणमदवाला हाथी, शरद काल में सूखे हुए पुलिन वाली नदी तथा याचकों को दान देकर क्षीण धन वाले व्यक्ति—ये सभी अपनी कृशता [क्षीणता] से ही सुशोभित हुआ करते हैं।'

यहाँ पर चारुत्व दीपन [अनेक में एक धर्म का अन्वयरूप दीपन] से ही उत्पन्न हुआ है। अभीष्ट [अर्थात् वर्ण्यविषय] का निषेध जिसमें उपमा व्यङ्ग्य होती हो, अपह्नुति कहते हैं। वहाँ अपह्नुति [निषेध] से ही शोभा हुआ करती है। जैसे—

'मद के कारण मुखरित भ्रमरों की यह पंक्ति वार-वार गुञ्जार नहीं कर रही है, यह तो खींचे जाते हुए कामदेव के धनुष की ध्वनि है।'

(आशुबोधिनी)

पहले यह स्पष्ट किया जा चुका है कि अलङ्कारों में प्राधान्य की विवक्षा वाच्यार्थपरक ही हुआ करती है। व्यङ्ग्यार्थ तो उस वाच्यार्थ को मात्र अलंकृत किया करता है। साथ ही वह सर्वथा गौण स्थान पर ही रहा करता है। इस सम्बन्ध में एक ऐसा दृष्टान्त दिया गया है कि जिसे ध्वनिवादी तो स्वीकार करते ही हैं, साथ ही ध्वनिविरोधी भी जिसे अस्वीकार नहीं करते हैं। उनका कहना है कि जिस भाँति दीपक तथा अपह्नुति— इन अलङ्कारों में उपमा व्यक्त होती है किन्तु उसका प्राधान्य नहीं हुआ करता है। इस कारण उसे 'उपमा' नाम से कोई भी नहीं कहा करता है, इसी भाँति समासोक्ति, आक्षेप आदि अलङ्कारों में व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति होते रहने पर भी उन्हें कोई भी ध्वनि नाम से नहीं कहा करता है, उन्हें तो उन्हीं अलङ्कारों के नामों से कहा जाया करता है कि जिनकी प्रधानता हुआ करती है। इस स्थल पर उपमा का अर्थ है :—उपमानोपमेयभाव। दीपक तथा समासोक्ति में उपमानोपमेयभाव व्यङ्ग्य हुआ करता है। भामह दीपक के लक्षण के सम्बन्ध में लिखा है कि 'दीपक के तीन भेद हुआ करते हैं (१) आदि विषय, (२) मध्य विषय और (३) अन्त विषय। इस प्रकार यहाँ पर भामह द्वारा किये गये लक्षण को पूर्णरूप से नहीं दिया गया है, पूरा लक्षण यह है :—

'आदिमध्यान्तविषयं त्रिधादीपकमिष्यते।
एकस्यैव व्यवस्थत्वादिति तद्भिद्यते त्रिधा॥
अमूनि कुर्वतेऽन्वर्थामस्याख्यामर्थदीपनात्।'

अर्थात् 'दीपक' तीन प्रकार का माना गया है (१) आदि विषय, (२) मध्य विषय और (३) अन्त विषय। ये तीनों अवस्थाएँ एक की ही हो जाती हैं। इसी दृष्टि से इसको तीन भेदों में विभक्त कर दिया जाता है। ये तीनों ही भेद इसके 'दीपक' नाम को सार्थक बना दिया करते हैं क्योंकि ये अर्थ का दीपन किया करते हैं।' किन्तु परवर्ती आचार्यों को यह लक्षण तथा विभाजन रुचिकर न हो सका क्योंकि शब्द के आदि, मध्य और अन्त में स्थित होने के कारण चमत्कार में कोई अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता। अतएव परवर्ती आचार्यों द्वारा इस लक्षण को ठुकरा दिया गया। अतएव दीपक की परिभाषा निम्नलिखित रूप में स्वीकार की गई :—'जिस भाँति किसी महल पर प्रकाश करने हेतु दीपक जलाया

जाय तो वह समीप के मार्ग को भी प्रकाशित कर दिया करता है उसी भाँति किसी प्रस्तुत के लिए प्रयुक्त शब्द जहाँ अप्रस्तुत से भी अन्वित हो जाय तो उसे 'दीपक' अलङ्कार नाम से कहा जाता है।' इसी परिभाषा को काव्यप्रकाश एवं साहित्यदर्पण आदि में भी अपनाया गया। दीपक का उदाहरण :—

'शान पर निखरी हुई मणि, अस्त्रों द्वारा आहत वीर, कलामात्र में शेष रह गया हुआ चन्द्रमा, सुरत में मसली गई हुई बालललना, मद से क्षीण हुआ हाथी, शरद काल के तट से छूटी हुई नदियाँ—ये सभी अपनी कृशता [क्षीणता] के कारण ही सुशोभित हुआ करते हैं। इसी भाँति याचकों को दान देते रहने के कारण अपने वैभव से रिक्त हुए व्यक्तियों की भी शोभा उनकी अकिञ्चनता के कारण ही हुआ करती है।'

इस वर्णन में गलितविभव व्यक्ति प्रस्तुत है तथा शान पर घिसी हुई मणि इत्यादि अप्रस्तुत हैं। इनका उपमानोपमेयभाव स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। किन्तु इसको 'उपमा' अलंकार नाम से कोई भी नहीं कहता है क्योंकि इसमें सादृश्य के कारण चमत्कार की प्रतीति नहीं होती है अपितु अनेक अप्रस्तुतों के एक साथ दीपन के कारण ही चारुत्व अथवा चमत्कार की प्रतीति होती है। इसी कारण इसे दीपक नाम से कहा जाया करता है। यही बात अपह्नुति अलंकार के बारे में भी कही जा सकती है। अपह्नुति का उदाहरण है :—

'यह मद के कारण मुखरित भ्रमरों की पंक्ति बार-बार शब्द नहीं कर रही है, यह तो कामदेव के खींचे जाते हुए धनुष भी प्रत्यञ्चा का शब्द है।'' इसमें यह 'भ्रमरपंक्ति कामदेव के धनुष की प्रत्यञ्चा के सदृश है' ऐसी उपमा की अनुभूति होती है। किन्तु इसमें सौन्दर्य उपमान होकर 'अपह्नुति' में ही है।'

अतएव उपर्युक्त पूरे विवरण का अभिप्राय यही निकलता है कि जिस भाँति दीपक और अपह्नुति में 'उपमा' की व्यञ्जना होते हुए होने पर भी उन्हें 'उपमा' नाम से नहीं कहा जाया करता है क्योंकि इनके चारुत्व का अन्त उपमा में न होकर दीपन और अपह्नव में ही हुआ करता है, उसी भाँति समासोक्ति तथा आक्षेप अलङ्कारों में व्यङ्ग्यार्थ के रहने पर भी उन्हें कोई भी ध्वनि नाम से नहीं कह सकता है क्योंकि इनके चारुत्व का प्राधान्य वाच्य में ही रहा करता है व्यङ्ग्य में नहीं।

ध्वन्यालोकः

अनुक्तनिमित्तायामपि विशेषोक्तौ—

आहूतोऽपि सहायैरोमित्युक्त्वा विमुक्तनिद्रोऽपि ।
गन्तुमना अपि पथिकः संकोचं नैव शिथिलयति ॥

इत्यादौ व्यङ्ग्यस्य प्रकरणसामर्थ्यात् प्रतीतिमात्रम् । न तु तत्प्रतीतिनिमित्ता काचिच्चारुत्वनिष्पत्तिरिति प्राधान्यम् ।

अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति में भी—

'साथियों द्वारा बुलाये जाने पर भी हाँ कहकर जाग जाने पर भी तथा जाने की अभिलाषा होने पर भी पथिक सङ्कोच को शिथिल नहीं कर रहा है अथवा नहीं छोड़ रहा है ।'

इत्यादि उदाहरणों में प्रकरण की सामर्थ्य से व्यङ्ग्य की केवल प्रतीति होती है । किन्तु उस प्रतीति से किसी प्रकार के चारुत्व की निष्पत्ति नहीं होती है । अतएव उसका प्राधान्य नहीं कहा जा सकता ।

[लोचनम्]

एवमाक्षेपं विचार्योद्देश्यक्रमेणैव प्रमेयान्तरमाह—अनुक्तनिमित्तायामिति ।

एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरसंस्तुतिः ।
विशेषप्रथनायासौ विशेषोक्तिरिति स्मृता ॥

यथा—

स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः ।
हरतापि तनुं यस्य शम्भुना न हृतं बलम् ॥

इयं चाचिन्त्यनिमित्तेति नास्यां व्यङ्ग्यस्य सद्भावः उक्तनिमित्तायामपि वस्तुस्वभावमात्रत्वे पर्यवसानमिति तत्रापि न व्यङ्ग्यसद्भावशङ्का । यथा—

कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने जने ।
नमोऽस्त्ववार्यवीर्याय तस्मै कुसुमधन्वने ॥

इस भाँति 'आक्षेप' के सम्बन्ध में विचार कर उद्दिष्ट क्रम के अनुसार दूसरे प्रमेय को कह रहे हैं—अनुक्तनिमित्ता में इत्यादि ।

'एक देश के न रहने पर किसी अतिशयता के ख्यापन के लिये जो किसी दूसरे गुण की प्रशंसा की जाया करती है। उसे विशेषोक्ति कहा जाता है । जैसे—

'फूलों के बाणों से युक्त वह कामदेव अकेले ही तीनों भुवनों पर विजय प्राप्त लेता है जिसके शरीर को नष्ट करते हुए शिवजी ने जिसके बल को नष्ट नहीं किया ।'

यहाँ अचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्ति है क्योंकि शरीर के हरण होने पर भी बल के हरण न किये जाने का कारण नहीं कहा जा सकता । अतएव यहाँ पर व्यङ्गच का सद्भाव है ही नहीं । 'उक्त निमित्ता' [अर्थात् जिस विशेषोक्ति में निमित्त अथवा कारण का कथन किया गया होता है] में भी वस्तु के स्वभावमात्र में पर्यवसान हो जाया करता है । अतः वहाँ भी व्यङ्गच के सद्भाव की शंका नहीं है । जैसे —

'कपूर के सदृश जला हुआ भी जो जन जन में शक्तिमान् है, अवारणीय पराक्रम वाले उस पुष्पधन्वा कामदेव को नमस्कार है ।'

[लोचनम्]

तेन प्रकारद्वयमवधीर्य तृतीयं प्रकारमाशङ्कते—अनुक्तनिमित्तायामपीति । व्यङ्गचस्येति । शीतकृताखल्वार्तिरत्र निमित्तमिति भट्टोद्भटः, तदभिप्रायेणाह — न त्वत्र काचिच्चारुनिष्पत्तिरिति । यत्तु रसिकैरपि निमित्तं कल्पितम्—'कान्ता समागमे गमनादपि लघुतरमुपायं स्वप्नं मन्यमानो निद्रागमबुद्ध्या सङ्कोचं नात्यजत्' इति तदपि निमित्तं चारुत्वहेतुतया नालङ्कारविद्भिः कल्पितम्, अपितु विशेषोक्तिभाग एव न शिथिलयतीत्येवम्भूतोऽभिव्यज्यमाननिमित्तोपस्कृतश्चारुत्वहेतुः । अन्यथा तु विशेषोक्तिरेवेयं न भवेत् । एवमभिप्रायद्वयमपि साधारणोक्त्या ग्रन्थकृन्न्यरूपयन्न त्वौद्भटेनैवाभिप्रायेण ग्रन्थो व्यवस्थित इति मन्तव्यम् ।

अतः [विशेषोक्ति के इन] दोनों प्रकारों को छोड़कर तृतीय प्रकार की आशङ्का करते हैं—'अनुक्तनिमित्ता में भी ।' व्यङ्गच की—भट्ट उद्भट के अनुसार 'यहाँ शीत के कारण कष्ट निमित्त है' इस अभिप्राय से कह रहे हैं उस व्यङ्गच की प्रतीति के कारण कोई चारुत्व की निष्पत्ति नहीं होती है । जो रसिकजनों के द्वारा यहाँ 'निमित्त' की कल्पना की गई है, कि 'कान्ता के समागम हेतु गमन करने की अपेक्षा स्वपन को लघुतर [शीघ्रतर] उपाय मानते हुए पथिक ने निद्रागम की बुद्धि से संकोच को नहीं छोड़ा ।' इस निमित्त को भी अलंकार

शास्त्र के ज्ञाताओं ने चारुत्वहेतु के रूप में स्वीकार नहीं किया। अपितु 'शिथिल नहीं करता है' इस प्रकार के विशेषोक्ति के अंश को ही अभिव्यक्त होते हुए निमित्त के द्वारा उपस्कृत होकर चारुता में हेतु होता है, [ऐसा माना है] अन्यथा यह विशेषोक्ति ही नहीं होगी। इस भाँति [उपर्युक्त] दोनों अभिप्रायों को ग्रन्थकार ने साधारण उक्ति [व्यङ्ग्य की यह शक्ति] द्वारा निरूपित किया है, न कि उद्भट के ही अभिप्राय से ग्रन्थ व्यवस्थित है, ऐसा मानना चाहिये।

(आशुबोधिनी)

अब 'आक्षेप' अलंकार के बारे में विचार कर लेने के उपरान्त निर्दिष्ट क्रम के अनुसार 'विशेषोक्ति' अलंकार को लेते हैं। भामह के अनुसार विशेषोक्ति का लक्षण:--

'कारणसमूह के एक भाग के कम हो जाने पर जो किसी विशेषता को प्रकट करने के लिये अन्य गुणों की प्रशंसा की जाया करती है उसे 'विशेषोक्ति' कहा जाता है।' दण्डी द्वारा इसका लक्षण यह किया गया है :—

'किसी विशेषता को प्रकट के निमित्त जो गुण, जाति, क्रिया आदि की कमी दिखलाई जाती है उसे 'विशेषोक्ति' कहा जाता है।' साहित्यदर्पकार ने इसका लक्षण यह किया है :—

'सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिः' (सा० द० १०।६७।।)

काव्यप्रकाशकार ने इसी को इस भाँति कहा है :--'विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः' काव्य पृ० १०।१०८।।

इस विशेषोक्ति के तीन प्रकार होते हैं-(१) उक्तनिमित्ता, (२) अनुक्तनिमित्ता और (३) अचिन्तनिमित्ता। इन तीनों भेदों में से (१) चिन्त्यनिमित्ता और उक्तनिमित्ता भेदों में तो व्यङ्ग्य की सत्ता ही नहीं हुआ करती है— जैसे (१) 'शिवजी द्वारा जिसके शरीर को भस्मकर देने पर भी बल का हरण नहीं किया गया, ऐसा कामदेव अकेला [एकाकी] ही तीनों भुवनों को जीत लेता है।' इस अचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्ति में व्यङ्ग्य है ही नहीं। (२) उक्तनिमित्ता जैसे--'कपूर के सदृश जला हुआ होने पर भी जो कामदेव प्रत्येक व्यक्ति पर अपनी शक्ति से सफलता प्राप्त कर लिया करता है, उस अपार शक्तिसंपन्न कामदेव को नमस्कार है।' इसमें भी व्यङ्ग्य के सद्भाव की

कोई शंका नहीं है।इसी कारण ग्रन्थकार ने विशेषोक्ति के उपर्युक्त दोनों भेदों को छोड़कर केवल अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति का ही उल्लेख किया है।

इसमें तो व्यङ्ग्यार्थ की आवश्यकता हुआ करती है जैसे––'पथिक को उसके साथी बुला रहे हैं, हाँ, कहकर उसने उनका उत्तर भी दिया है और उसने निद्रा का त्याग भी कर दिया है, जाने की इच्छा भी है किन्तु वह निद्रा के संकोच को दूर नहीं कर पा रहा है।'

यहाँ संकोच न छोड़ने का निमित्त उक्त न होने के कारण अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति है। भट्टोद्भट ने शीत के आधिक्य को निमित्त माना है। अन्य रसिक व्याख्याओं ने यहाँ पर यह कल्पना की है :–'वह पथिक प्रिया से मिलने जा रहा है किन्तु वह गमन की अपेक्षा स्वप्न में प्रियामिलन को सुकर उपाय समझकर संकोच का त्याग नहीं कर रहा है तथा सिकुड़ा हुआ शय्या पर पड़ा हुआ है।

आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं कि इनमे से चाहें किसी को भी निमित्त मान लिया जाये वह चारुत्व का हेतु नहीं है। ध्वनिकार के अनुसार प्रकरण के सामर्थ्य के उपर्युक्त व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति अवश्य हो जाती है किन्तु इस प्रतीति के द्वारा किसी चारुत्व की निष्पत्ति न होने के कारण यहाँ व्यङ्ग्य अर्थ का प्राधान्य न होने से ध्वनि का अन्तर्भाव इसमें भी किया जा सकना संभव नहीं है। इस भाँति भट्टोद्भट तथा अन्य रसिकजनों के अभिप्राय को मन में रखकर ही ग्रन्थकार द्वारा इस पर वृत्ति लिखी गई है।

ध्वन्यालोकः

पर्यायोक्तेऽपि यदि प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वं तद्भवतु नाम तस्य ध्वनावन्तर्भावः। न तु ध्वनेस्तत्रान्तर्भावः। तस्य महाविषयत्वेन, अङ्गित्वेन च प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। न पुनः पर्यायोक्ते भामहोदाहृतसदृशे व्यङ्गस्यैव प्राधान्यम्। वाच्यस्य तत्रोपसर्जनीभावेनाविवक्षितत्वात्।

पर्यायोक्त अलंकार [के 'भ्रम धार्मिक' सदृश व्यङ्ग्यप्रधान उदाहरणों] में भी यदि व्यङ्ग्य की प्रधानता हो तो उस [अलंकार] का ध्वनि [अलंकार ध्वनि] में अन्तर्भाव संभव हो सकता है न कि ध्वनि का रस [अलंकार] में [अर्थात् ध्वनि का अन्तर्भाव पर्यायोक्त में होना संभव नहीं है।] क्योंकि ध्वनि तो महाविषय [अर्थात् ध्वनि का विषय व्यापक होता है।] और वह अंगी

अर्थात् प्रधान भी होती है, यह विस्तार के साथ प्रतिपादित किया जायगा। दूसरे यह कि भामह द्वारा उदाहृत ['गृहेष्वध्वसु' आदि उदाहरण में] पर्यायोक्त के उदाहरण में तो व्यंग्य [का प्राधान्य है ही नही क्योंकि वहाँ पर वाच्य का गौणत्व [गौण होना] विवक्षित ही नहीं है [अर्थात् वाच्यार्थ की ही प्रधानता है अतः उसे ध्वनि नहीं कहा जा सकता है।]।

[लोचनम्]

पर्यायोक्तेऽपीति।

पर्यायोक्तं यदन्येय प्रकारेणाभिधीयते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना॥

इति लक्षणम्। यथा—

शत्रुच्छेददृढेच्छस्य मुनेरुत्पथगामिनः।
रामस्यानेन धनुषा देशिता धर्मदेशना॥ इति॥

अत्र भीष्मस्य भार्गवप्रभावाभिभावी प्रभाव इति यद्यपि प्रतीयते तथापि तत्सहायेन देशिता धर्मदेशनेत्यभिधीयमानेनैव काव्यार्थोऽलंकृतः। अतएव पर्यायेण प्रकारान्तरेणावगमात्मना व्यङ्ग्येनोपलक्षितं यदभिधीयते तदभिधीयमानमुक्तमेव सत्पर्यायोक्तमित्यभिधीयत इति लक्षणपदम्, पर्यायोक्तमिति लक्ष्यपदम्, अर्थालङ्कारत्वं सामान्यलक्षणम् चेति सर्वं युज्यते। यदि त्वभिधीयत इत्यस्य बलाद व्याख्यानमभिधीयते प्रतीयते प्रधानतयेति, उदाहरणं च 'भम धम्मिअ' इत्यादि, तदालङ्कारत्वमेव दूरे सम्पन्नमात्मतायां पर्यवसानात्। तदा चालङ्कारमध्ये गणना न कार्या। भेदान्तराणि चास्य वक्तव्यानि। तदाह— यदि प्राधान्येनेति। ध्वनाविति। आत्मन्यन्तर्भावादात्मैवासौ नालङ्कारस्स्यादित्यर्थः।

पर्यायोक्त में भी—'जिसका प्रकारान्तर से कथन किया जाता है अर्थात् वाच्य और वाचक के व्यापारों से रहित व्यञ्जनरूप व्यापार द्वारा जो कहा जाता है उसे 'पर्यायोक्त' अलंकार कहते हैं।'

यह लक्षण है। जैसे—'शत्रु के विनाश की दृढ़ इच्छा रखने वाले उन्मार्गगामी मुनि (परशुराम) को भीष्म के इस धनुष ने धर्मपालन की शिक्षा दी।'

यहाँ पर यद्यपि भीष्म का प्रभाव परशुराम को अभिभूत करने वाला

प्रतीत होता है तथापि उस [प्रतीयमान अर्थ] की सहायता से 'धर्मपालन की शिक्षा दो' इस अभिधीयमान [वाच्यार्थ] से ही काव्यार्थ अलंकृत है। अतएव पर्याय अर्थात् प्रकारान्तर से अवगमरूप व्यङ्ग्य से उपलक्षित होकर जो कहा जाता है वह अभिधीयमान उक्त होकर ही 'पर्यायोक्त' कहलाता है, यह लक्षण पद है और 'पर्यायोक्त' यह 'लक्ष्य' पद है। इसका अर्थालंकार होने रूप अलंकार का सामान्य लक्षण है, यह सभी कुछ उचित ही प्रतीत होता है। यदि 'अभिधीयते' इसके बल यह व्याख्या की जाती है कि 'अभिधीयते' अर्थात् 'प्रधानरूप से प्रतीति' गोचर होता है।' और उदाहरण के रूप में 'भम धम्मिअ' को प्रस्तुत करते हैं तब तो इसका अलंकारत्व ही दूर हो जायगा। क्योंकि उसका पर्यवसान तो आत्मा के रूप में होगा। ऐसी दशा में अलंकारों के मध्य में इसकी गणना ही न होगी और इसके दूसरे भेद भी कहे जायेंगे। इसे कहते हैं :—'यदि प्रधानरूप से' इत्यादि। ध्वनि में। अर्थात् आत्मा में अन्तर्भाव होने के कारण वह आत्मा ही होगी, अलंकार नहीं।

[लोचनम्]

तत्रेति। यादृशोऽलङ्कारत्वेन विवक्षितस्तादृशे ध्वनिर्नान्तर्भवति। न तादृगस्माभिर्ध्वनिरुक्तः। ध्वनिर्हि महाविषयः सर्वत्र भावाद् व्यापकः समस्तप्रतिष्ठास्थानत्वाच्चाङ्गी। न चालङ्कारो व्यापकोऽन्यालङ्कारवत्। न चाङ्गी, अलङ्कारतन्त्रत्वात्। अथ व्यापकत्वाङ्गित्वे तस्योपगम्येते, त्यज्यते चालङ्कारता, तर्ह्यस्मन्नय एवायमवलम्ब्यते केवलं मात्सर्यग्रहात्पर्यायोक्तवाचेति भावः। न चेयदपि प्राक्तनैर्दृष्टमपि त्वस्माभिरेवोन्मीलितमिति दर्शयति—न पुनरिति। भामहस्य यादृक्तदीयं रूपमभिमतं तादृगुदाहरणेन दर्शितम्। तत्रापि नैव व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यं चारुत्वाहेतुत्वात्। तेन तदनुसारितया तत्सदृशं यदुदाहरणान्तरमपि कल्प्यते तत्र नैव व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यमिति सङ्गतिः।

यदि तु तदुक्तमुदाहरणमनादृत्य 'भम धम्मिअ' इत्याद्युदाह्रियते, तदस्मच्छिष्यतैव। केवलं तु नयमनवलम्ब्यापश्रवणेनात्मसंस्कार इत्यनार्यचेष्टितम् यदाहुरैतिहासिकाः—'अवज्ञयाप्यवच्छाद्य शृण्वन्नरकमृच्छति' इति। भामहेन ह्युदाहृतम्—

'गृहेष्वध्वसु वा नान्नं भुञ्जमहे यदधीतिनः ।
विप्रा न भुञ्जते' इति ।

एतद्धि भगवद्वासुदेववचनं पर्यायेण रसदानं निषेधति । यत्स एवाह—'तच्च रसदाननिवृत्तये' इति। न चास्य रसदाननिषेधस्य व्यङ्ग्यस्य किञ्चिच्चारुत्वमस्ति येन प्राधान्यं शङ्क्येत । अपितु तद् व्यङ्ग्योपोद्बलितं विप्रभोजनेन विना यन्न भोजनं तदेवोक्तप्रकारेण पर्यायोक्तं सत्प्राकरणिकं भोजनार्थमलङ्कुरुते । न ह्यस्य निर्विषं भोजनं भवत्विति विवक्षितमिति पर्यायोक्तमलङ्कार एवेति चिरन्तनानामभिमत इति तात्पर्यम् ।

जिसप्रकार का अलङ्कार के रूप में विवक्षित है, वैसे में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं होगा । [क्योंकि] हमने उसप्रकार की ध्वनि को नहीं कहा है । ध्वनि तो महाविषय है, सर्वत्र उसकी सत्ता होने के कारण व्यापक है और सबका प्रतिष्ठान [आधार] होने के कारण अङ्गी [प्रधान] है । कोई एक विशिष्ट अलङ्कार अन्य अलङ्कारों के समान व्यापक नहीं हुआ करता है तथा अपने अलङ्कार्य के आधीन होने के कारण वह अङ्गी भी नहीं हुआ करता है । यदि उस अलङ्कार का व्यापकत्व एवं अङ्गित्व स्वीकार कर लिया जाता है और अलङ्कारता को छोड़ दिया जाता है तो केवल मात्सर्य ग्रहण के कारण पर्यायोक्त के कथन द्वारा भ हमारी नीति ही स्वीकार की जाती है, यह आशय है । केवल इतना भी नहीं, प्राचीन लोगों ने नहीं देख पाया, किन्तु हमने ही उन्मीलित किया है, इस बात को दिखलाते हैं—न पुनः इत्यादि । भामह को जैसा उस [पर्यायोक्त] का रूप स्वीकृत था वैसा उदाहरण के द्वारा दिखला दिया गया । वहाँ भी व्यङ्ग्य की प्रधानता नहीं है क्योंकि वहाँ व्यङ्ग्य चारुत्व का कारण नहीं है । अतएव उसका अनुसरण कर जो कुछ दूसरा भी उसके समान उदाहरण दिया जायगा वहाँ भी व्यङ्ग्य की प्रधानता नहीं होगी । यह ग्रन्थ की सङ्गति है।

यदि उन [भामह] के कहे उदाहरण को हटाकर 'भम धम्मिअ' इत्यादि को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है तब तो हमारी शिष्यता ही हो गई । केवल न्याय का आश्रय न कर अपश्रवण से आत्मा का संस्कार कर लिया, यह अनार्य-चेष्टा ही है । जैसा कि ऐतिहासिकों ने कहा है-- [विद्या में एवं गुरु के विषय में] अवज्ञा के द्वारा भी अपने को छिपाकर सुनता हुआ व्यक्ति नरक को प्राप्त हुआ करता है ।' भामह ने यह उदाहरण दिया है—

घरों में अथवा मार्गों में [उस] अन्न को हम लोग नहीं खाते हैं जो कि जिसको स्वाध्याय करने वाले ब्राह्मण लोग नहीं खाया करते हैं। भगवान् वासुदेव का यह वचन 'पर्याय' द्वारा [प्रकारान्तर से] रसदान [विषदान] का निषेध करता है। जैसा कि उन्होंने कहा भी है–'रसदान [विषदान] की निवृत्ति के लिये'। इस विषदान के निषेधरूप व्यङ्ग्य का कोई चारुत्व नहीं है जिससे कि उसके प्राधान्य की शङ्का की जाये। अपितु उस व्यङ्ग्य से युक्त [उससे बढ़ाया हुआ] जो ब्राह्मण-भोजन के बिना भोजन न करना है वही उक्त प्रकार से पर्यायोक्त होकर प्राकरणिक भोजन के अर्थ को अलङ्कृत करता है। श्रीकृष्ण का शिशुपाल के प्रति यह विवक्षित नहीं है कि विषरहित भोजन हो। इस भाँति पर्यायोक्त अलङ्कार ही प्राचीनों द्वारा अभिमत है, यह तात्पर्य है।

(आशुबोधिनी)

अब 'पर्यायोक्त' को देखिये—

भामह द्वारा पर्यायोक्त का लक्षण यह किया गया है कि–– वाच्य वाचक व्यापारों से भिन्न जब वाच्यार्थ ही किसी अन्य व्यञ्जनात्मक प्रकार द्वारा कथित किया जाय तब उसे 'पर्यायोक्त' नाम से कहा जाता है।'

'पर्याय' का अर्थ है—'समान अर्थ वाला शब्द।' जब वक्ता द्वारा अपने लक्ष्यीभूत अर्थ को उन्हीं शब्दों में न कहा जाकर पर्यायवाची शब्दों द्वारा प्रकट किया जाया करता है तब उसी को 'पर्यायोक्त' कहा जाता है। कहने का अभिप्राय यह है जिस बात का कथन अभिधावृत्ति द्वारा किया जाता है, यदि चमत्कार की दृष्टि से उसी को व्यञ्जना–वृत्ति द्वारा कह दिया जाय तो उसी को 'पर्यायोक्त' नाम से कहा जाया करता है। इसी बात को साहित्यदर्पणकार तथा काव्यप्रकाशकार ने निम्नलिखितरूप में कहा है—

'पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते। (साहि० १०।६० ॥)
'पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन यद्वचः॥ (काव्यप्र० १०।११५॥)

निस्सन्देह पर्यायोक्त एक ऐसा अलङ्कार है कि जिसमें ध्वनि के अन्तर्भाव का सर्वाधिक अवसर है। 'व्यञ्जना' का अर्थ तो यही है कि किसी बात को सीधेरूप में न कहकर उसको घुमाफिराकर इस रूप में कहा जाय कि जिसकी अभिव्यक्ति सहृदय जनों को हो जाय। 'पर्यायोक्त' में भी यही है। प्रायः सभी प्राचीन

काव्यशास्त्र के आचार्यों ने पर्यायोक्त का वर्णन किया है। ऐसी स्थिति में ध्वनि का अन्तर्भाव पर्यायोक्त में किया जा सकना संभव है। फिर 'ध्वनि' इस नवीन नामकरण की क्या आवश्यकता है। आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा इसका उत्तर यह दिया गया है—

'यदि चमत्कार का पर्यवसान व्यङ्ग्यार्थ में ही है तथा उसीकी प्रमुखता है तो हम उसे 'ध्वनि' नाम से कह सकते हैं तथा पर्यायोक्त का अन्तर्भाव ध्वनि में कर लेना होगा। किन्तु ध्वनि तो मात्र पर्यायोक्त में आने वाले व्यङ्ग्यार्थ तक ही सीमित हो, ऐसा नहीं है। उसका क्षेत्र तो बहुत विस्तृत एवं व्यापक है। दूसरी बात यह है कि यदि व्यङ्ग्यार्थ गौण है तथा चमत्कार वाच्यार्थ में है तो फिर प्रधानता वाच्यार्थ की ही होगी। अतएव पर्यायोक्त में ध्वनि के अन्तर्भाव का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होगा। जैसे—

'शत्रु के विनाश की इच्छा रखने वाले तथा उच्छृङ्खल मार्ग पर गमन करने वाले उन मुनि परशुराम को इस [भीष्म] के धनुष ने धर्म का उपदेश दे दिया।'

इसको इस रूप में भी कहा जा सकता है कि मुनि के लिए शत्रुभाव रखना ही अनुचित है। पुनः उस शत्रु के विनाश की बात सोचना तो और भी अनुचित है। उसका भी आग्रह पूर्णतया अनुचित है। अतएव शत्रु के विनाशार्थ कृतसंकल्प तथा उन्मार्गगामी परशुराम [भार्गव] मुनि को भीष्म के इस धनुष ने अपने धर्मपालन की शिक्षा दे दी।

यहाँ भीष्म की शक्ति परशुराम की शक्ति से अधिक है। अतएव यहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ निकलता है कि 'भीष्म द्वारा परशुराम को पराजित कर दिया गया।' इसी बात को 'देशिता धर्मदेशना' इन शब्दों द्वारा अभिधावृत्ति से ही कह दिया गया है। अतएव यह पर्यायोक्त का उदाहरण है। इस स्थल पर व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति तो हो रही है किन्तु उसकी प्रधानता नहीं है। साथ ही वह वाच्य को ही अलङ्कृत करती है। ऐसी स्थिति में यहाँ ध्वनि का होना संभव ही नहीं है।

भामह द्वारा पर्यायोक्त का निम्नलिखित उदाहरण दिया गया है—

"गृहेष्वध्वसु वा नान्नं भुञ्ज्महे यदधीतिनः।
विप्रा न भुञ्जते तच्च रसदाननिवृत्तये॥" भामह ३।९॥

शिशुपालन के प्रति यह कृष्ण की उक्ति है। इसका भाव यह है कि

'अधीती'–ब्राह्मण लोग जिस अन्न को नहीं खाते हैं उसको हम लोग न घर पर खाते हैं और न मार्ग में अर्थात् यात्रा में।' तात्पर्य यह है कि हम घर पर हों अथवा बाहर, हम तो विद्वान् ब्राह्मणों को खिलाने के पश्चात् ही भोजन करते हैं। इस स्थल पर 'रसदाननिवृत्ति' ही व्यङ्ग्य है' जैसा कि उन्होने स्वयं ही कहा है—'तच्च रसदाननिवृत्तये'। यहाँ 'रस' शब्द का अर्थ है 'विष'–'शृंगारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः' इति कोषः। यद्यपि भामह द्वारा प्रदत्त इस उदाहरण में 'रसदाननिवृत्ति 'व्यङ्ग्य है, किन्तु इसमें चारुत्व प्रतीत नहीं होता है। अतएव यहाँ इसका प्राधान्य भी नहीं है। ब्राह्मणों को भोजन कराये बिना भोजन न करना, यह वाच्यार्थ है। वही पर्याय अथवा प्रकारान्तर से उक्त होकर भोजनार्थ को अलङ्कृत करने के द्वारा 'पर्यायोक्त' अलङ्कार का ही उदाहरण बनता है।

उक्त उदाहरण में व्यङ्ग्य की प्रधानता न होने के कारण ध्वनि का कोई अवसर ही नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि 'पर्यायोक्त' अलङ्कार के ऐसे उदाहरण भी मिल सकते हैं कि जिनमें व्यङ्ग्य की प्रधानता हो। ऐसे स्थलों पर हम ध्वनिकाव्य के द्वितीय भेद 'अलङ्कारध्वनि' का उदाहरण स्वीकार कर लेंगे। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होगा कि ध्वनि का अलंकारों में अन्तर्भाव हो गया। इसके विपरित अलंकार का ध्वनि में अन्तर्भाव अवश्य कहा जा सकेगा। क्योंकि ध्वनि तो महाविषय अर्थात् व्यापक है, पर्यायोक्त के व्यङ्ग्यप्रधान उदाहरणों के अतिरिक्त भी ध्वनि का क्षेत्र है। अतएव उसके महाविषय अर्थात् व्यापक होने के कारण ध्वनि का अन्तर्भाव अलंकार में माना जा सकना तो किसी भी दशा में संभव नहीं है।

अतएव 'पर्यायोक्त' अलंकार [के 'भ्रम धार्मिक' इत्यादि व्यङ्ग्यप्रधान उदाहरणों] में भी यदि व्यङ्ग्यार्थ का प्राधान्य हो तो उस [अलंकार] का ध्वनि [द्वितीय भेद—अलंकार-ध्वनि] में अन्तर्भाव किया जा सकता है, किन्तु ध्वनि का किसी अलंकार में अन्तर्भाव किया जा सकना संभव नहीं है, क्योंकि ध्वनि तो महाविषय है अर्थात् व्यापक है तथा अंगी अर्थात् प्रधानरूप से प्रतिपादित किया जाता है।

किन्तु भामह द्वारा उदाहृत ['गृहेषु' इत्यादि] पर्यायोक्त अलंकार के उदा-

हरण में तो व्यङ्ग्यार्थ को प्रधानता है ही नहीं क्योंकि वहाँ पर वाच्यार्थ का गौणत्व विवक्षित ही नहीं है [अर्थात् वहाँ तो वाच्यार्थ की हो प्रधानता है। अतः उसे 'ध्वनि' किसी भी स्थिति में कहा जा सकना संभव हो नहीं है।]।

ध्वन्यालोकः

अपह्नुतिदीपकयोः पुनर्वाच्यस्य प्राधान्यं व्यङ्ग्यस्य चानुयायित्वं प्रसिद्धमेव।

अपह्नुति और दीपक [अलंकारों] के विषय में वाच्यार्थ की प्रधानता होना तथा व्यङ्ग्यार्थ का अनुयायी होना प्रसिद्ध ही है।

[लोचनम्]

अपह्नुतिदीपकयोरिति। एतत्पूर्वमेव निर्णीतम्। अतएवाह—प्रसिद्धमिति। प्रतीतं प्रसाधितं प्रामाणिकं चेत्यर्थः। पूर्वं चैतदुपमादिव्यपदेशभाजनमेव तद्यथा न भवतीत्यमुया छायया दृष्टान्ततयोक्तमप्युद्देशक्रमपूरणाय ग्रन्थशय्यां योजयितुं पुनरप्युक्तं 'व्यङ्ग्यप्राधान्याभावान्न ध्वनिरि'ति छायान्तरेण वस्तु पुनरेकमेवोपमाया एव व्यङ्ग्यत्वेन ध्वनित्वाशङ्कनात्। यत्तु विवरणकृत—दीपकस्य सर्वत्रोपमान्वयो नास्तीति बहुनोदाहरणप्रपञ्चेन विचारितवांस्तदनुपयोगि निस्सारं सुप्रतिक्षेपं च।

मदो जनयति प्रीतिं सानङ्गं मानभञ्जनम्।
स प्रियासङ्गमोत्कण्ठां सासह्यां मनसः शुचम्॥

अत्रापि उत्तरोत्तरजन्यत्वेऽप्युपमानोपमेयभावस्य सुकल्पत्वात्। नहि क्रमिकाणां नोपमानोपमेयभावः। तथाहि—

राम इव दशरथोऽभूद् दशरथ इव रघुरजोऽपि रघुसदृशः।
अज इव दिलीपवंशश्चित्रं रामस्य कीर्तिरियम्॥

इति न भवति। तस्मात्क्रमिकत्वं समं वा प्राकरणिकत्वमुपमां निरुणद्धीति कोऽयं भास इत्यलं गर्दभीदोहानुवर्तनेन।

अपह्नुति, और दीपक में—। यह पहले ही निर्णय कर चुके हैं। अत एव कहते हैं—प्रसिद्ध—। अर्थात् प्रतीत, प्रसाधित तथा प्रामाणिक है। पहले तो यह, 'उपमा इत्यादि नामवाला जिस प्रकार नहीं हो सकता' इस प्रकार से दृष्टान्त के रूप में उक्त होकर भी उद्देश्य क्रम की पूर्ति के लिये एवं ग्रन्थशय्या की

योजना के लिये फिर भी कह दिया गया—'व्यङ्ग्य का प्राधान्य न होने के कारण ध्वनि नहीं है।' प्रकारान्तर से [अप्राधान्यरूप] वस्तु एक ही है, इस भाँति उपमा के व्यङ्ग्य होने से 'ध्वनि' की शंका नहीं। जो कि विवरणकार ने—'दीपक का सर्वत्र उपमा से सम्बन्ध नहीं है' यह अनेक उदाहरणों के विस्तार द्वारा विचार किया है, वह उपयोगी नहीं है, तथा विस्तार एवं सरलता के साथ निराकरणीय है।

'मद प्रीति को उत्पन्न करता है, वह [प्रीति] मान को भङ्ग करने वाले कामदेव को [उत्पन्न करती है।] वह [कामदेव] प्रियतमा के संगम की उत्कण्ठा को उत्पन्न करता है और वह उत्कण्ठा मन के शोक को उत्पन्न करती है।'

यहाँ उत्तरोत्तर उत्पन्न होने पर भी उपमानोपमेयभाव सरलतापूर्वक बन सकता है। यह नहीं कि क्रमिकों का उमानोपमेयभाव नहीं होता। जैसा कि—

'राम के समान दशरथ हुए, दशरथ के सदृश रघु, रघु के सदृश अज एवं अज के समान दिलीप का वंश हुआ। इस भाँति राम की कीर्ति विचित्र है।'

यहाँ [उपमानोपमेयभाव] नहीं है, ऐसा नहीं है। अतएव क्रमिकत्व या समानता अथवा प्राकरणिकत्व उपमा को रोक देता है, यह कौन सा भास है। बस, अब गर्दभी को बार-बार दुहना ठीक नहीं।

(आशुबोधिनी)

अपह्नुति एवं दीपक अलंकारों का उल्लेख 'समासोक्ति' एवं 'आक्षेप' अलंकारों के प्रसङ्ग में किया जा चुका है—'यथा च दीपकापह्नुत्यादौ व्यङ्ग्यत्वेनोपमायाः प्रतीतावपि प्राधान्येनाविवक्षितत्वान्न तया व्यपदेशस्तद्वदत्रापि द्रष्टव्यम्।' वस्तुतः व्यङ्ग्य और वाच्य में जो चारुत्वयुक्त होने के कारण प्रधान हुआ करता है उसी के आधार पर व्यपदेश [नाम] भी होता है। दीपक तथा अपह्नुति अलंकारों में यद्यपि 'उपमा' व्यङ्ग्य है। फिर भी उसमें चारुत्व की विश्रान्ति न होने के कारण वह प्रधानरूप से विवक्षित नहीं है। अतएव इनमें ध्वनि नहीं है। इसी बात को सिद्ध करने की दृष्टि से वहाँ पर दृष्टान्त के रूप में इन दोनों अलंकारों का उल्लेख किया गया था। यहाँ पर पुनः उनका उल्लेख किये जाने का कारण केवल भ्रम ही है:—'समासोक्त्याक्षेपानुक्तनिमित्तविशेषोक्ति-पर्यायोक्तापह्नुतिदीपकसंकरालङ्कारादौ—' वाक्य में पर्यायोक्त अलंकार के पश्चात्

अपह्नुति तथा दीपक अलंकारों का कथन किया गया है। भामह द्वारा दिये गये उदाहरण को देखिये :-

'मद प्रीति को उत्पन्न करता है, वह प्रीति मान को भंग करने वाले अनंग [कामदेव] को उत्पन्न करती है, वह कामदेव प्रियतमा के संगम की उत्कण्ठा को उत्पन्न करता है और वह उत्कण्ठा मानसिक वेदना को उत्पन्न करती है।'

उक्त उदाहरण में यद्यपि एक के पश्चात् दूसरे की उत्पत्ति होती है किन्तु फिर भी इनका उपमानोपमेयभाव सरलता से कल्पित किया जा सकता है। जैसे मद प्रीति को उत्पन्न करता है उसी भाँति प्रीति कामदेव को उत्पन्न करती है, जिस भाँति प्रीति कामदेव की उत्पादिका है उसी भाँति कामदेव प्रियासमागम का उत्पादक है और जिस भाँति कामदेव प्रियासमागम की उत्कण्ठा को करता है उसी भाँति वह उत्कण्ठा मानसिक सन्ताप की जनक है इस भाँति यहाँ सरलतापूर्वक 'उपमा' की कल्पना की जा सकती है। ऐसी बात नहीं है कि क्रम के साथ आने वाले शब्दों का उपमानोपमेयभाव ही न हो। जैसे—

'राम के सदृश दशरथ हुए, दशरथ के सदृश रघु और अज भी रघु के सदृश हुए, अज के सदृश दिलीपवंश हुआ। राम की यह कीर्ति विचित्र है।

इस स्थल पर क्रमशः आने वाले शब्दों का उपमानोपमेयभाव न बनता हो, ऐसी बात नहीं है। ऐसी स्थिति में क्रमिकता अथवा प्रकरण सम्बन्धी समानता उपमा में बाधक बनते हैं, यह कौन-सी डराने की बात आप द्वारा कही जा रही है। होगा, अब गदही को बार-बार दुहने से क्या ?

ध्वन्यालोकः

सङ्करालङ्कारेऽपि यदाऽलङ्कारोऽलङ्कारान्तरच्छायामनुगृह्णाति, तदा व्यङ्ग्यस्य प्राधान्येनाविवक्षितत्वान्न ध्वनिविषयत्वम्। अलङ्कारद्वयसम्भावनायान्तु वाच्यव्यङ्ग्ययोः समं प्राधान्यम्। अथ वाच्योपसर्जनीभावेन व्यङ्ग्यस्य तत्रावस्थानं तदा सोऽपि ध्वनिविषयोऽस्तु, न तु स एव ध्वनिरिति वक्तुं शक्यम्, पर्यायोक्तनिर्दिष्टन्यायात्। अपि च सङ्करालङ्कारेऽपि च क्वचित् सङ्करोक्तिरेव ध्वनिसम्भावनां निराकरोति।

सङ्करालंकार में भी जहाँ एक अलंकार दूसरे अलंकार की छाया [सौन्दर्य] को पुष्ट [अनुगृहीत] करता है [अर्थात् अङ्गाङ्गिभावरूप चतुर्थ भेद में] वहाँ

व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता विवक्षित न होने के कारण वह ध्वनि का विषय बनता है। [सन्देहसंकररूप प्रथम भेद में] दो अलंकारों की सम्भावना होने पर तो वाच्य तथा व्यङ्ग्य दोनों की समानरूप से प्रधानता होती है [अतएव वहाँ पर भी ध्वनि की संभावना नहीं हो सकती है]। और यदि वहाँ [अंगागीभाव संकरालंकार में] व्यङ्ग्य वाच्य के उपसर्जनीभाव [गौणरूप] से स्थित हो तब तो वह भी ध्वनि [अलंकारध्वनि] का विषय हो सकता है, न कि केवल वही ध्वनि है, पर्यायोक्तनिर्दिष्ट न्याय से। और एक बात यह है कि संकरालंकार में सर्वत्र संकर शब्द का प्रयोग ही ध्वनि की सम्भावना का निराकरण कर देता है।

[लोचनम्]

सङ्करालङ्कारेऽपीति।

विरुद्धालंक्रियोल्लेखे समं तद्वृत्यसंभवे।
एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावे च सङ्करः॥

इति लक्षणादेकः प्रकारः। यथा ममैव—

शशिवदनाऽसितसरसिजनयना सितकुन्ददशनपङ्क्तिरियम्।
गगनजलस्थलसम्भवहृद्याकारा कृता विधिना॥

अत्र शशीवदनमस्याः तद्वद्वा वदनमस्या इति रूपकोपमोत्लेखाद्युगपद्वयासम्भवादेकतरपक्षत्यागग्रहणे प्रमाणाभावात् सङ्कर इति व्यङ्ग्यवाच्यताया एवानिश्चयात्का ध्वनिसम्भावना। योऽपि द्वितीयः प्रकारः शब्दार्थालंकाराणामनेकत्र भाव इति तत्रापि प्रतीयमानस्य का शङ्का। यथा 'स्मर स्मरमिव प्रियं रमयसे यमालिङ्गनात्' इति। अत्रैव यमकमुपमा च। तृतीयः प्रकारः—यत्रैकत्र वाक्यांशेऽनेकोऽर्थालङ्कारस्तत्रापि द्वयोः साम्यात्कस्य व्यङ्ग्यता। यथा—

तुल्योदयावसानत्वाद् गतेऽस्तं प्रतिभास्वति।
वासाय वासरः क्लान्तो विशतीव तमोगुहाम्॥ इति॥

अत्र हि स्वामिविपत्तिसमुचितव्रतग्रहणहेवाकिकुलपुत्रकरूपणमेकदेशविवर्तिरूपकं दर्शयति। उत्प्रेक्षा चेवशब्देनोक्ता। तदिदं प्रकारद्वयमुक्तम्।

शब्दार्थवर्त्यलङ्कारा वाक्य एकत्र वर्तिनः।
सङ्करश्चैकवाक्यांश-प्रवेशाद्वाऽभिधीयते॥ इति च॥

चतुर्थस्तु प्रकारो यत्रानुग्राह्यानुग्राहकभावोऽलङ्काराणाम्। यथा—

प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषमधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्या ।
तया गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्यस्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः ।।

अत्र मृगाङ्गनावलोकनेन तदवलोकनस्योपमा यद्यपि व्यङ्ग्या, तथापि वाच्यस्य सा सन्देहालङ्कारस्याभ्युत्थानकारिणीत्वेनानुग्राहकत्वाद् गुणीभूता; अनुग्राह्यत्वेन हि सन्देहे पर्यवसानम् । यथोक्तम्—

परस्परोपकारेण यत्रालङ्कृतयः स्थिताः ।
स्वातन्त्र्येणात्मलाभं नो लभन्ते सोऽपि सङ्करः ।।

तदाह—यदलङ्कार इत्यादि । एवं चतुर्थेऽपि प्रकारे ध्वनिता निराकृता । मध्यमयोस्तु व्यङ्ग्यसम्भावनैव नास्तीत्युक्तम् । आद्ये तु प्रकारे 'शशिवदने'-त्याद्युदाहृते कथञ्चिदस्ति सम्भावनेत्याशङ्क्य निराकरोति । सममिति । द्वयोरप्यान्दोल्यमानत्वादिति भावः ।

ननु यत्र व्यङ्ग्यमेव प्राधान्येन भाति तत्र किं कर्त्तव्यम् । यथा—

होइ ण गुणाणुराओ खलाणं णवरं पसिद्धि सरणाणम् ।
किर पहिणुसइ ससिमणं चन्दे ण पियामुहे दिठ्ठे ।।

अत्रार्थान्तरन्यासस्तावद्वाच्यत्वेनाभाति, व्यतिरेकापह्नुती तु व्यङ्ग्यत्वेन प्रधानतयेत्यभिप्रायेणाशङ्कते—अथेति । तत्रोत्तरम्—तदा सोऽपीति । सङ्करालङ्कार एवायं न भवति, अपि त्वलङ्कारध्वनिनामायं ध्वनेः द्वितीयो भेदः । यच्च पर्यायोक्ते निरूपितं तत्सर्वमात्राप्यनुसरणीयम् । अथ सर्वेषु सङ्करप्रभेदेषु व्यङ्ग्यसम्भावनानिरासप्रकारं साधारणमाह-अपि चेति । 'क्वचिदपि सङ्करालंकारे चे'तिसम्बन्धः, सर्वभेदभिन्न इत्यर्थः । संकीर्णता हि मिश्रत्वं लोलीभावः । तत्र कथमेकस्य प्राधान्यं क्षीरजलवत् ।

सङ्करालङ्कार में भी—

'विरुद्ध दो अलङ्कारों के उपस्थित होने पर, एक ही स्थान पर दोनों की स्थिति संभव न होने पर और उनमें से एक को छोड़कर अन्य के ग्रहण करने में साधक एवं बाधक के अभाव में सङ्कर [अलङ्कार] होता है।'

इस लक्षण के आधार पर एक प्रकार का सङ्कर हुआ । जैसे—मेरा ही—

'चन्द्रमुखी, नीलोत्पलनयना, उज्ज्वलकुन्ददन्तावली इस नायिका को विधाता ने आकाश, जल और स्थल में उत्पन्न होने वाले सुन्दर पदार्थों के आकारवाली बनाया है।'

इस स्थल पर चन्द्रमा है वदन जिसका अथवा चन्द्रमा के समान है वदन जिसका—इन रूपक तथा उपमा दो अलङ्कारों के उल्लेख से एक स्थान पर दोनों के संभव न होने के कारण तथा एकतर पक्ष के त्याग अथवा ग्रहण में प्रमाण के अभाव के होने से 'सङ्कर' नामक अलङ्कार है। इस भाँति जब 'सङ्कर' के व्यङ्ग्य होने अथवा वाच्य होने में हो कोई निश्चय नहीं है तब फिर यहाँ ध्वनि होने की संभावना कैसी? और जो कि दूसरा [सङ्कर अलंकार का] प्रकार है—शब्दालंकार और अर्थालंकार का एक ही स्थल पर होना—वहाँ पर भी प्रतीयमान की संभावना कैसी? जैसे—'कामदेव के समान प्रिय का स्मरण करो जिसको अलिङ्गन के द्वारा [तुम] रमण कराती हो।' यहाँ पर यमक और उपमा है। तीसरा प्रकार—जहाँ एक वाक्यांश में अनेक अर्थालंकार हो वहाँ पर भी दोनों के बराबर होने से किसकी व्यङ्ग्यता होगी? जैसे—

'जिसका उदय और अस्त दोनों समान ही हैं, ऐसे सूर्य के अस्ताचल की ओर चले जाने पर, क्लान्त दिन मानो अन्धकार की गुफा में प्रवेश कर रहा है।'

इस स्थल पर स्वामी की विपत्ति के योग्य व्रत ग्रहण करने में प्रयत्नशील कुलपुत्र का आरोप 'एकदेशविवर्ति रूपक' को प्रकट करता है। तथा 'इव' शब्द द्वारा उत्प्रेक्षा कही गई है। इस प्रकार वह दो प्रकार का बतलाया गया है।

'एक ही वाक्य में शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों होते हैं, यह 'संकर' है। अथवा एक ही वाक्यांश में अनेक अर्थालंकारों का प्रवेश होता है तब भी 'संकर' कहा जाया करता है।'

चौथा प्रकार तो वहाँ पर हुआ करता है कि जहाँ पर अलंकारों का अनुग्राह्यानुग्राहक भाव हुआ करता है। जैसे—

'विशाल नेत्रों वाली उस [पार्वती] ने वायु से हिलते हुए नीलकमल के समान अधीर दृष्टिपात को मृगाङ्गनाओं से ग्रहण किया है अथवा मृगाङ्गनाओं ने उससे ग्रहण किया?'

यहाँ मृगाङ्गनाओं के अवलोकन से पार्वती के अवलोन की उपमा यद्यपि व्यंग्य है तथापि वाच्य सन्देहालंकार के अभ्युत्थान का करनेवाला होने के कारण वह [व्यङ्ग्य-उपमा] गुणीभूत है। क्योंकि अनुग्राह्य होने के कारण सन्देह में उस [अनुग्राहिका व्यङ्ग्य-उपमा] का पर्यवसान हो जाता है। जैसा कि कहा [भी] गया है :—

'जहाँ पारस्परिक उपकार द्वारा अलंकार स्थित हो तथा स्वतन्त्ररूप से आत्मलाभ भी न प्राप्त करते हों, वहाँ भी 'संकर' नामक अलंकार होता है।' [जैसे उपर्युक्त उदाहरण में]

उसे कहते हैं—जब अलंकार इत्यादि। इस भाँति [संकर अलंकार के] चतुर्थ प्रकार में भी ध्वनित्व का निराकरण हो गया। बीच के दो प्रकारों में तो व्यङ्ग्य की सम्भावना ही नहीं है यह कहा जा चुका है। 'शशिवदना' इत्यादि उदाहृत [संकर के] प्रथम प्रकार में किसी न किसी प्रकार से संभावना की जा सकती है, ऐसी आशंका करके निराकरण करते हैं—दो अलंकारों—। बराबर—। भाव यह है कि क्योंकि दोनों ही आन्दोल्यमान [सन्दिह्यमान] हैं। जहाँ प्रधानरूप से व्यङ्ग्य ही ज्ञात होता है-वहाँ क्या करेंगे ? जैसे—

'केवल प्रसिद्धि पर ही ध्यान देनेवाले [वस्तुतत्त्व का विचार न करनेवाले] दुष्टों का गुणानुराग नहीं होता। चन्द्रकान्तमणि चन्द्रमा को देखकर प्रस्नुत होती है, प्रिया का मुख देखने पर नहीं।'

यहाँ पर अर्थान्तरन्यास वाच्य के रूप में शोभित हो रहा है किन्तु 'व्यतिरेक' तथा 'अपह्नुति' व्यङ्ग्यरूप में प्रधानतया ज्ञात हो रहे है, इस अभिप्राय से आशंका करते है:-यदि कहिये कि—। इस सम्बन्ध में यह उत्तर है तब वह भी—। संकरालंकार ही यह नहीं है किन्तु अलंकार ध्वनि नामक यह ध्वनि का द्वितीय भेद है। जो पर्यायोक्त के प्रसङ्ग में निरूपित किया है वह सभी यहाँ अनुसारणीय है।

अब 'संकर' के सभी भेदों में व्यङ्ग्य की संभावना के निराकरण का सामान्य प्रकार कहते हैं—'कहीं भी संकरालंकार में' यह वाक्य का सम्बन्ध है, अर्थात् सब भेदों से भिन्न [संकर के किसी भेद में]। क्योंकि संकीर्णता का अर्थ है मिश्रित हो जाना अर्थात् एक हो जाना। उसमें दूध और पानी की भाँति एक की ही प्रधानता कैसे होगी ?

(आशुबोधिनी)

अब 'संकर' नामक अलंकार को लीजिए। जहाँ पर दो अथवा दो से अधिक अलंकार एक दूसरे के प्रति सापेक्षभाव में स्थित रहा करते हैं वहाँ पर 'संकर' नामक अलंकार हुआ करता है। नवीन आचार्यों द्वारा 'संकर' के तीन भेद माने

गये हैं- (१) अङ्गाङ्गिभाव संकर, (२) एकाश्रयानुप्रवेश संकर, (३) संदेह संकर। भामह आदि आचार्यों ने 'एकाश्रयानु प्रवेशसंकर को दो भागों में विभक्त कर दिया है–(१) एकवाक्यानुवर्त्तन संकर और (२) एकवाक्यांशसमावेशरूप संकर। इस भाँति 'संकर' अलंकार के चार भेद अथवा प्रकार हो गये।

इनके लक्षण भामह तथा उनके उदाहरण भामहविवरणकार भट्टोद्भट ने निम्नलिखितरूप में दिये हैं—

'जहाँ एक ही स्थान पर दो परस्पर विरुद्ध अलंकारों का उल्लेख किया जा सकता हो, दोनों का एक साथ होना संभव ही न हो, न तो एक के ग्रहण करने में कोई न्याय हो तथा न दूसरे के त्याग के लिए कोई बाधक हो, वहाँ पर 'सन्देहसंकर' नामक अलंकार होता है। लोचनकार ने स्वरचित पद्य को इसके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है—

'शशिवदना–इत्यादि–' चन्द्रानना, नीलकमलनयनी तथा श्वेतपुष्पदन्ती इस सुन्दरी को विधाता ने गगन, जल और स्थल से उत्पन्न आकृतिवाली बनाया है।'

यहाँ 'मयूरव्यंसकादयश्च' अष्टा० २।१।७२।। सूत्र से 'शशी एवं वदनं यस्याः सा शशिवदना' ऐसा समास करने से 'रूपक' तथा 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' [अष्टा० २।१।५६।।] सूत्र से 'शशिवद् वदनं यस्याः सा' ऐसा समास करने से 'उपमा' अलङ्कार बनता है। उक्त श्लोक में 'शशिवदना' आदि तीन विशेषण विद्यमान हैं। इन तीनों का क्रमशः सम्बन्ध गगन, जल और स्थल से है। प्रथम पद गगनसम्भवत्व, द्वितीय 'असितसरसिजनयना' पद जल-सम्भवत्व, तथा तृतीय 'सितकुसुमदशनपंक्ति' पद स्थलसंभवत्व का ज्ञान कराते हैं। अतएव श्लोक का भाव यह है कि उस परमात्मा ने उस नायिका का निर्माण गगन, जल तथा स्थल तीनों से किया है।

'शशिवदना' के जो दो प्रकार के समास किए गए हैं उसके अनुसार यहाँ रूपक तथा उपमा दोनों ही अलङ्कार हैं। दोनों अलङ्कारों का एक साथ होना संभव नहीं है। किसी एक को स्वीकार करने तथा दूसरे को छोड़ने में न कोई साधक प्रमाण है और न कोई बाधक। अतएव यहाँ पर 'सन्देहसङ्कर' अलङ्कार है। ऐसी स्थिति में इसमें ध्वनि का अन्तर्भाव होना संभव नहीं है क्योंकि

इसमें कौन वाच्य है कौन व्यङ्ग्य है ? इसका ही जब निर्णय नहीं है तब उसकी प्रधानता अथवा गौणता का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है।

सङ्कर का दूसरा भेद है—'एकाश्रयानुप्रवेशसङ्कर।' भट्टोद्भट द्वारा इसके दो भेद कर दिए गए हैं—(१) एकवाक्यानुप्रवेश तथा (२) एकवाक्यांशानुप्रवेश। इन दोनों भेदों के लक्षण भामह द्वारा निम्नलिखितरूप में किये गये हैं—

"शब्दार्थवर्त्यलङ्कारा वाक्य एकत्र वर्तिनः।
सङ्करश्चैकवाक्यांश-प्रवेशाद्वाभिधीयते॥ भामह० ३।४८॥"

जहाँ शब्दवर्ती अर्थात् शब्दालङ्कार तथा अर्थवर्ती अर्थात् अर्थालङ्कार दोनों एक ही वाक्य में विद्यमान हों वहाँ एकवाक्यानुप्रवेश अथवा एकवाक्यांशानुप्रवेश भेद से दो प्रकार का 'सङ्कर' नामक अलङ्कार होता है। जैसे—

"स्मर स्मरमिव प्रियं रमयसे यमालिङ्गनात्।"

"कामदेव के सदृश जिस प्रिय को आलिङ्गन द्वारा रमण कराती हो, उसका स्मरण करो।" यहाँ पर 'स्मर स्मर' पद की आवृत्ति से 'यमक' नामक शब्दालङ्कार है तथा 'स्मरमिव' में 'उपमा' नामक अर्थालङ्कार है। यहाँ उक्त दोनों अलंकार 'स्मर' शब्द से ही ज्ञात हो रहे हैं। अतएव यह एकाश्रयानुप्रवेश नामक संकर है। इस स्थल पर प्रतीयमान अर्थ शंका का भी अवसर नहीं है, फिर ध्वनि का प्रश्न ही कैसा ?

जहाँ एक ही वाक्यांश में कई अर्थालंकार हों वहाँ 'एकवाक्यांशानुप्रवेश' संकर होता है। जैसे—

"तुल्योदयावसानत्वात् गते अस्तं प्रतिभास्वति।
वासाय वासरः क्लान्तो विशतीव तमोगुहाम्॥"

'सूर्य तथा वासर [दिन] तुल्योदयावसान हैं अर्थात् दोनों का उदय और अस्त साथ ही साथ होता है। अतएव जब सूर्य अस्त होने लगा तब मानो खिन्न होकर दिन भी मानो अन्धकाररूपी गुफा में प्रविष्ट हो रहा है।'

इसमें 'विशतीव' में 'उत्प्रेक्षा' अलंकार है। और 'तमोगुहाम्' में एकदेशविवर्ति 'रूपक' अलंकार है। इस उदाहरण में सूर्य स्वामी है और वासर [दिन] सेवक है। सूर्य का अस्त होना स्वामी का विपत्ति में पड़ना है तथा दिन [वासर] का तमरूपी गुहा में प्रवेश स्वामिविपत्तिसमुचितव्रतग्रहणरूप है। किन्तु इन सभी

आरोप नहीं किया गया है। मात्र तम पर गुहा का आरोप है। इसी कारण यह एकदेशविवर्तिरूपक है। अतएव यहाँ उत्प्रेक्षा तथा रूपक दोनों ही समानरूप से वाच्य हैं, उनमें कौन गौण तथा कौन प्रधान है? इसका कोई विवरण नहीं है। अतः यहाँ 'एकवाक्यांशानुप्रवेश संकर' है।

'संकर' का चतुर्थ भेद—अङ्गाङ्गिभाव संकर। इसका लक्षण है—

'जहाँ अनेक अलंकार एक दूसरे के उपकारक के रूप में स्थित हों, वहाँ 'अङ्गाङ्गिभाव संकर' होता है। जैसे—प्रवातनीलो ....इत्यादि। यह महाकवि कालिदासरचित कुमारसम्भव के प्रथम सर्ग में पार्वती के नखशिखवर्णन में लिखा गया है—'पार्वती के नेत्र विस्तृत तथा विशाल थे। जिस समय अपने स्वाभाविक अधैर्य के कारण पार्वती की दृष्टि चञ्चल हो जाती थी उस समय [उनके] नेत्र इतने सुन्दर प्रतीत होते थे कि मानों तीव्र वायु में पड़ा हुआ कोई कमल चञ्चल हो रहा हो। ऐसी चंचल अधीर दृष्टि न जाने उसने मृगाङ्गनाओं से सीखी थी अथवा मृगाङ्गनाओं ने उससे सीखी थी।'

कहने का तात्पर्य यह है कि 'पार्वती की दृष्टि हरिणियों की दृष्टि के सामान थी।' इस भाँति यहाँ 'उपमा' अलंकार व्यङ्ग्य है। 'उसने हरिणियों से ऐसी दृष्टि सीखी थी अथवा हरिणियों ने उससे ?' इस प्रकार यहाँ सन्देहालंकार वाच्य है। किन्तु व्यङ्ग्य उपमा वाच्य सन्देहालंकार के ही चारुत्व के उत्कर्ष को प्रदान कर उसे अनुगृहीत करती है तथा उसका अन्त सन्देह के पोषण में ही होता है। अतएव यहाँ उपमा गौण हो गई है। साथ ही उपमा से उत्पन्न चमत्कार में सन्देह सहायक है। अतएव दोनों का पारस्परिक अङ्गाङ्गिभाव है।

इस भाँति चारों प्रकार के 'संकर' अलंकारों का वर्णन किया गया। इनमें चतुर्थ है 'अङ्गाङ्गिभाव संकर।' इसके बारे में ही आलोककार ने कहा है कि—'जहाँ पर एक अलंकार दूसरे अलंकार के सौन्दर्य को स्वीकार करता है वहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ का प्रधानरूप में माना जाना अभीष्ट नहीं हुआ करता है। अत एव इसमें ध्वनि का अन्तर्भाव होना संभव नहीं है।

अब यहाँ पर एक शंका यह हो सकती है कि—उपर्युक्त संकर अलंकार के चतुर्थ प्रकार [अङ्गाङ्गिभाव संकर] में यह भी संभव है कि व्यङ्ग्य-अलंकार

की प्रधानता हो और वाच्य अलंकार की गौणता हो। ऐसे स्थल पर क्या मानना उचित होगा ? जैसे--

'भवति न गुणानुरागः खलानां केवलं प्रसिद्धिशरणानाम् ।
किल प्रस्तौति शशिमणिः चन्द्रे न प्रियामुखे दृष्टे ॥'

'केवल प्रसिद्धि का सहारा लेकर चलने वाले दुष्टों को गुणों से प्रेम नहीं हुआ करता है। चन्द्रकान्तमणि चन्द्रमा को देखकर द्रवित हो जाया करती है, किन्तु चन्द्रमा से भी अधिक सुन्दर प्रियतमा के मुख को देखकर द्रवित नहीं होती।'

इस स्थल पर 'चन्द्रकान्तमणि चन्द्रमा को देखकर द्रवित होने लगा करती है, इस विशेष उदाहरण के द्वारा 'प्रसिद्धिमात्र चाहने वाले दुष्टों को गुणों से प्रेम नहीं हुआ करता' इस सामान्य का समर्थन किये जाने से यहाँ 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार है जो कि वाच्य है। 'प्रिया का मुख चन्द्रमा से भी अधिक सुन्दर है' इस 'व्यतिरेक' अलकार की तथा 'यह चन्द्रमा नहीं है, प्रिया का मुख ही चन्द्रमा है' इस अपह्नुति की व्यञ्जना होती है। उपर्युक्त व्यङ्ग्यार्थ में सौन्दर्य का पर्यवसान हो रहा है। अतएव व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता होने पर यहाँ अलङ्कार-ध्वनि कही जायगी। कहने का अभिप्राय यह है कि ऐसे स्थलों पर 'सङ्कर' का अन्तर्भाव अलङ्कार ध्वनि में हो जायगा किन्तु ध्वनि का अन्तर्भाव 'सङ्कर' अलंकार में न हो सकेगा क्योंकि ध्वनि का क्षेत्र विस्तृत है और वह अङ्गी है तथा संकर का क्षेत्र सीमित है। पर्यायोक्त के प्रकरण में इसका विशद विवेचन किया जा चुका है, यहाँ पर भी वही समझना चाहिये।

ध्वन्यालोककार ने स्वयं ही लिखा है—'संकरालंकारेऽपि च क्वचित्'। इसका अन्वय इस भाँति करना चाहिए—'क्वचिदपि संकरालंकारे'। यहाँ 'क्वचिदपि' का अर्थ 'सर्वत्र' होगा। 'क्वचिदपि संकरालंकारे' का अर्थ हुआ—'संकरालंकार में सर्वत्र।' अर्थात् संकरालंकार के सभी भेदों में 'संकर' शब्द का प्रयोग उनकी ही संकीर्णता का द्योतक है। यहाँ यदि किसी एक की प्रधानता हो जाय तो फिर 'संकर' ही कहाँ रह जायगा। अत एव 'संकर' शब्द ही स्वयं व्यङ्ग्य-प्राधान्यरूप से ध्वनि का निराकरण कर देता है।

इस प्रकरण के प्रारम्भ में समासोक्ति''संकर इत्यादि व्यञ्जनामूलक अलंकारों

में ध्वनि के अन्तर्भाव का प्रश्न उत्पन्न किया गया था। इस पर भली भाँति विचार किया जा चुका। यहाँ 'इत्यादि' शब्द का जो प्रयोग किया गया है उससे 'अप्रस्तुतप्रशंसा' नामक एक अन्य अलंकार के सम्बन्ध में ध्वन्यालोककार विचार कर रहे हैं—

ध्वन्यालोकः

अप्रस्तुत प्रशंसायामपि यदा सामान्यविशेषभावान्निमित्तनिमित्ति-भावाद्वाभिधीयमानस्याप्रस्तुतस्य प्रतीयमानेन प्रस्तुतेनाभिसम्बन्धस्तदा अभिधीयमानप्रतीयमानयोः सममेव प्राधान्यम्। यदा तावत् सामान्य-स्याप्रस्तुतस्य अभिधीयमानस्य प्राकरणिकेन विशेषेण प्रतीयमानेन सम्बन्धस्तदा विशेषप्रतीतौ सत्यामपि प्राधान्येन तत्सामान्येनाविनाभावात् सामान्यस्यापि प्राधान्यम्।

अप्रस्तुतप्रशंसा [अलंकार] में भी सामान्यविशेषभाव से अथवा निमित्ति-निमित्तभाव से अभिधीयमान अप्रस्तुत का प्रतीयमान प्रस्तुत के साथ सम्बन्ध होता है तब अभिधीयमान और प्रतीयमान दोनों का समान ही प्राधान्य हुआ करता है। और जब अभिधीयमान अप्रस्तुत सामान्य का प्राकरणिक प्रतीयमान प्रस्तुत विशेष के साथ सम्बन्ध होता है तब प्रधानरूप से विशेष की प्रतीति होने पर भी [निर्विशेषं न सामान्यम्' नियम के अनुसार] उसका सामान्य से अविना-भाव [व्याप्यव्यापक भाव] सम्बन्ध होने के कारण सामान्य की भी प्रधानता हुआ करती है।

[लोचनम्]

अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः।
अप्रस्तुतप्रशंसा सा त्रिविधा परिकीर्तिता ॥ भा० ३।२९ ॥

अप्रस्तुतस्य वर्णनं प्रस्तुताक्षेपिण इत्यर्थः। स चाक्षेपस्त्रिविधो भवति— सामान्यविशेषभावात्, निमित्तनिमित्तिभावात्, सारूप्याच्च। तत्र प्रथमे प्रकारद्वये प्रस्तुताप्रस्तुतयोस्तुल्यमेव प्राधान्यमिति प्रतिज्ञां करोति। अप्रस्तुते-त्यादिना प्राधान्यमित्यन्तेन। तत्र सामान्यविशेषभावेऽपि द्वयी गतिः—सामा-न्यमप्राकरणिकं शब्देनोच्यते, गम्यते तु प्राकरणिको विशेषः स एकः प्रकारः। यथा—

अहो संसारनैर्घृण्यमहो दौरात्म्यमापदाम् ।
अहो निसर्गजिह्मस्य दुरन्ता गतयो विधेः ॥

अत्र हि दैवप्राधान्यं सर्वत्र सामान्यरूपमप्रस्तुतं वर्णितं सत्प्रकृते वस्तुनि क्वापि विनष्टे विशेषात्मनि पर्यवस्यति । तत्रापि विशेषांशस्य सामान्येन व्याप्तत्वाद् व्यङ्ग्यविशेषवद्वाच्यसामान्यस्यापि प्राधान्यम् । नहि सामान्यविशेषयो-र्युगपत्प्राधान्यं विरुध्यते ।

अधिकार [प्रस्तुतत्व] से पृथक्भूत [अप्रस्तुत] अन्य वस्तु की जो स्तुति अथवा प्रशंसा की जाया करती है उसे 'अप्रस्तुतप्रशंसा' कहते हैं । यह तीन प्रकार की कही गई है ।

अर्थात् प्रस्तुत का आक्षेप करने वाले अप्रस्तुत का वर्णन । वह आक्षेप तीन प्रकार का होता है—(१) सामान्यविशेषभाव से, (२) निमित्तनिमित्तिभाव से और (३) सारूप्य से । उनमें से प्रथम दो प्रकारों में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत की प्रधानता तुल्य ही होती है, ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं । 'अप्रस्तुत' इत्यादि से 'प्राधान्यम्' यहाँ तक । उनमें सामान्यविशेषभाव में भी दो स्थितियाँ हुआ करती हैं । जहाँ सामान्य अप्राकरणिक शब्द द्वारा कहा जाता है और विशेष प्राकरणिक है और व्यञ्जित होता है यह एक प्रकार है । जैसे—

'संसार की निर्दयता आश्चर्यजनक है, आपत्तियों की दुरात्मता [दुष्टता] आश्चर्यजनक है, स्वभाव से कुटिल विधाता की न समझी जा सकने वाली गतियाँ भी आश्चर्यजनक हैं ।'

यहाँ दैव [विधाता] की प्रधानता सामान्यरूप अप्रस्तुत कहा जाता हुआ किसी प्रकृत विनष्ट वस्तु के विशेषरूप में पर्यवसित होता है । उसमें भी विशेषांश के सामान्य से व्याप्त होने के कारण व्यङ्ग्यविशेष की भाँति वाच्य सामान्य की भी प्रधानता है । सामान्य और विशेष की एक साथ प्रधानता विरुद्ध नहीं हुआ करती है ।

(आशुबोधिनी)

अप्रस्तुतप्रशंसा में ध्वनि के अन्तर्भाव का निषेध—

अप्रस्तुत के वर्णन से जहाँ प्रस्तुत का आक्षेप किया जाता है वह 'अप्रस्तुतप्रशंसा' नामक अलंकार हुआ करता है । अप्रस्तुतप्रशंसा तीन

प्रकार की हुआ करती है—(१) सामान्यविशेषभावमूलक, (२) कार्यकारणभावमूलक और (३) सादृश्यमूलक। इनमें से प्रथम और द्वितीय प्रकार की अप्रस्तुतप्रशंसा के दो-दो भेद हो जाते हैं। इस भाँति प्रथम दोनों के चार भेद तथा एक सादृश्यमूलक—मिलकर पाँच भेद हो जाते हैं। (१) सामान्यविशेषभावमूलक के दो भेद--(१) प्रथम भेद में सामान्य अप्रस्तुत होता है तथा उससे प्रस्तुतविशेष का आक्षेप कर लिया जाया करता है। (२) द्वितीय भेद में अप्रस्तुत विशेष हुआ करता है तथा उससे प्रस्तुत सामान्य का आक्षेप कर लिया जाया करता है। इसी भाँति कार्यकारणभावमूलक के भी दो भेद हो जाया करते हैं :—(१) प्रथम भेद में कारण अप्रस्तुत होता है तथा उससे प्रस्तुत कार्य का आक्षेप कर लिया जाया करता है। (२) द्वितीय भेद में---अप्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण का आक्षेप कर लिया जाया करता है। इस भाँति चार भेद तो ये हुए। पाँचवा है सादृश्यमूलक। इसके भी तीन भेद होते हैं—(१) श्लेषनिमित्तक, (२) समासोक्तिनिमित्तक और (३) सादृश्यमात्रनिमित्तक। इस भाँति अप्रस्तुतप्रशंसा के कुल सात भेद हो जाते हैं। किन्तु भामह ने प्रथम तीन भेदों को ही स्वीकार किया है—(१) सामान्यविशेषभावमूलक, (२) कार्यकारणभावमूलक और (३) सादृश्यमूलक। इनमें से प्रथम दो भेदों में वाच्य और व्यङ्ग्य प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत दोनों की प्रधानता समानरूप से होने के कारण ध्वनि का कोई अवसर ही नहीं है। अतएव उनमें ध्वनि के अन्तर्भाव का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता इस बात को ध्वन्यालोककार ने 'अप्रस्तुतप्रशंसायाम्' से लेकर 'प्राधान्यम्' तक कहा है। तृतीय सादृश्यमूलक भेद में यदि अभिधीयमान अप्रस्तुत की अप्रधानता तथा प्रतीयमान प्रस्तुत की प्रधानता होगी तो वहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार होगा।

अब सामान्यविशेषभावमूलक के प्रथम भेद का उदाहरण देखिए। अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुतविशेष का आक्षेप—

'यहाँ सर्वत्र दैव की ही प्रधानता है इस अप्रस्तुत सामान्य द्वारा किसी प्रस्तुत वस्तु के विनाशरूप विशेष का आक्षेप किया गया है। यहाँ पर वाच्य अर्थ सामान्य है तथा प्रतीयमान अर्थ विशेष। दोनों की समानरूप से प्रधानता है। अप्रस्तुत कथन का पर्यवसान प्रस्तुत में हुआ करता है।

विशेष तथा सामान्य का व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध हुआ करता है। बिना सामान्य के विशेष रह नहीं सकता। इसलिए विशेष अंश के सामान्य द्वारा व्याप्त होने की दृष्टि से जिस भाँति विशेषपरक व्यङ्ग्य-अर्थ की प्रधानता हुआ करती है उसी भाँति सामान्यपरक वाच्यार्थ की भी प्रधानता हुआ करती है। सामान्य तथा विशेष की एक साथ हुई प्रधानता को विरुद्ध नहीं कहा जा सकता है। दोनों की समान प्रधानता होने के कारण यहाँ ध्वनिविषयत्व ही नहीं है।

ध्वन्यालोकः

यदा तावत्सामान्यस्याप्रस्तुतस्याभिधीयमानस्य प्राकरेणिकेन विशेषेण प्रतीयमान सम्बन्धस्तदा विशेषप्रतीतौ सत्यामपि प्रधान्येन तत्सामान्येनाविनाभावात्सामान्यस्यापि प्राधान्यम्। यदापि विशेषस्य सामान्यनिष्ठत्वं तदापि सामान्यस्य प्राधान्ये सामान्ये सर्वविशेषाणामन्तर्भावाद्विशेषस्यापि प्राधान्यम्।

जब सामान्य अप्रस्तुत अभिधीयमान का प्राकरणिक विशेष प्रतीयमान के साथ सम्बन्ध होगा तब प्रधानरूप से विशेष को प्रतीति होने पर भी उसका सामान्य के साथ अविनाभाव [व्याप्ति] होने की दृष्टि से सामान्य को भी प्रधानता होगी। और जब विशेष सामान्यनिष्ठ होगा तब भी सामान्य की प्रधानता होने पर सभी विशेषों का [सामान्य में] अन्तर्भाव होने के कारण विशेष की भी प्रधानता होगी।

[लोचनम्]

यदा तु विशेषोऽप्राकरणिकः प्राकरणिकं सामान्यमाक्षिपति तदा द्वितीयः प्रकारः। यथा—

एतत्तस्य मुखात्कियत्कमलिनी पत्रे कणं पाथसो
यन्मुक्तामणिरित्यमंस्त स जडः शृण्वन्यदस्यादपि।
अङ्गुल्यग्रलघुक्रियाप्रविलयिन्यादीयमाने शनैः-
कुत्रोड्डीय गतो हहेत्यनुदिनं निद्राति नान्तः शुचा॥

अत्रास्थाने महत्त्वसम्भावनं सामान्यं प्रस्तुतं, अप्रस्तुतं तु जलबिन्दौ मणित्वसम्भावनं विशेषरूपं वाच्यम्। तत्रापि सामान्यविशेषयोर्युगपत्प्राधान्ये न विरोध

इत्युक्तम् । एवमेकः प्रकारो द्विभेदोऽपि विचारितः, यदा तावदित्यादिना विशेषस्यापि प्राधान्यमित्यन्तेन ।

और जब अप्राकरणिक विशेष प्राकरणिक सामान्य का आक्षेप करता है तब इस प्रकार होता है । जैसे—

[किसी मूर्ख के वृत्तान्त को कही से सुनकर आश्चर्य के साथ कहते हुए किसी के प्रति किसी का वचन]

'उस मूर्ख ने कमलिनी के पत्ते पर स्थित पानी के कण को मोती समझ लिया यह उसके लिए कौन बड़ी बात है ? इससे आगे की बात को सुनो । जब वह उन जल-कणों को मोती समझकर उठाने लगा तब उँगली का स्पर्श होते ही धीरे-धीरे उसका जलकण के विलुप्त हो जाने पर 'हाय ! हाय !, 'न जाने मेरा मोती उड़कर कहा चला गया ?' इस अन्तःशोक के कारण वह कई दिनों से नहीं सोता है ।'

यहाँ पर विना अवसर के ही महत्व की सम्भावनारूप सामान्य प्रस्तुत है । तथा अप्रस्तुत जलबिन्दु में मणित्व की सम्भावनारूप वाच्य [अथवा अभिधीयमान] है । वहाँ भी सामान्य और विशेष की एक साथ प्रधानता में विरोध नही है, यह कहा जा चुका है । इस भाँति दो भेदों वाले प्रथम प्रकार पर विचार कर लिया गया 'यदा तावत्' से 'विशेषस्यापि प्राधान्यम्' तक ।

(आशुबोधिनी)

सामान्यविशेषभावमूलक के द्वितीय प्रकार को बतलाते हैं । इसमें अप्राकरणिक विशेष से प्राकरणिक सामान्य का आक्षेप किया जाता है । जैसे—

'उस मूर्ख द्वारा कमलिनी के पत्ते पर पड़े हुए जल के कण को मुक्तामणि समझ लिया, यह उसके लिए कौन सी बड़ी बात है ? इससे भी आगे की बात सुनिए—जब वह अपनी उस मुक्तामणि को धीरे से उठाने लगा तो अँगुली के अग्रभाग की क्रिया से ही उसके कहीं विलीन हो जाने पर 'न जाने मेरा मुक्तामणि उड़कर कहाँ चला गया ? इसी सोच में उसको नींद नहीं आती है ।

'मूर्खों की ममता ऐसे ही स्थानों पर हुआ करती है जहाँ उसके होने का कोई अवसर नहीं हुआ करता है' यह प्रस्तुत है और व्यङ्ग्य है । 'कमलिनी के पत्ते पर जलकणों में मुक्तामणियों की संभावना' यह विशेष है तथा वाच्य है ।

दोनों की एक साथ ही प्रधानता है जिसे विरुद्ध नहीं कहा जा सकता है जैसा कि पहले प्रकार के विवरण में कहा जा चुका है। इस भाँति सामान्यविशेषभावमूलक अप्रस्तुतप्रशंसा के प्रथम भेद के दोनों प्रकारों का विचार किया गया। अतएव इसमें ध्वनि के अन्तर्भाव होने का अवसर ही नहीं है।

ध्वन्यालोकः

निमित्तनिमित्तिभावे चायमेव न्यायः।

निमित्तनिमित्तभाव नामक द्वितीयभेद में भी यही नियम लागू होगा।

[लोचनम्]

एतमेव न्यायं निमित्तनैमित्तिकभावेऽतिदिशंस्तस्यापि द्विप्रकारतां दर्शयति—निमित्तेति। कदाचिन्निमित्तमप्रस्तुतं सदभिधीयमानं नैमित्तिकमाक्षिपति। यथा—

ये यान्त्यभ्युदये प्रीतिं नोज्झन्ति व्यसनेषु च।
ते बान्धवास्ते सुहृदो लोकः स्वार्थपरोऽपरः॥

अत्राप्रस्तुतं सुहृद्बान्धवरूपत्वं निमित्तं सज्जनासक्त्या वर्णयति नैमित्तिकी श्रद्धेयवचनतां प्रस्तुतमात्मनोऽभिव्यङ्क्तुम्; तत्र नैमित्तिकप्रतीतावपि निमित्तप्रतीतिरेव प्रधानीभवत्यनुप्राणकत्वेनेति व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोः प्राधान्यम्। कदाचित्तु नैमित्तिकमप्रस्तुतं वर्ण्यमानं सत्प्रस्तुतं निमित्तं व्यनक्ति। यथा—सेतौ—

सग्गं अपारिजाअं कोत्थुहलच्छिरहिअं महुमहस्स उरम्।
सुमरामि महणपुरओ अमुद्धअन्दं च हरजडापब्भारम्॥

अत्र जाम्बवान कौस्तुभलक्ष्मीविरहितहरिवक्षःस्मरणादिकमप्रस्तुतनैमित्तिकं वर्णयति प्रस्तुतं वृद्धसेवाचिरजीवित्वव्यवहारकौशलादिनिमित्तभूतं मन्त्रितायामुपादेयमभिव्यङ्क्तुम्। तत्र निमित्तप्रतीतावपि नैमित्तिकं वाच्यभूतं प्रत्युत तन्निमित्तानुप्राणितत्वेनोद्धुरकन्धरीकरोत्यात्मानमिति समप्रधानतैव वाच्यव्यङ्ग्ययोः।

इसी [इस ही] नियम को [न्याय को] 'निमित्तनैमित्तिकभाव' में भी अतिदेश [लागू] करते हुए उसकी भी द्विप्रकारता को दिखलाते है :—'निमित्त' इत्यादि। कभी निमित्त [कारण] अप्रस्तुत अभिधीयमान होकर नैमित्तिक [कार्य] प्रस्तुत का आक्षेप करता है। जैसे—

'जो अभ्युदय होने पर प्रेम को प्राप्त होते हैं और आपत्ति पड़ने पर त्याग नहीं करते हैं, वे ही बान्धव हैं, वे ही मित्र हैं, अन्य लोग स्वार्थपरायण हैं।'

यहाँ अप्रस्तुत मित्र बान्धवरूप निमित्त को प्रस्तुत नैमित्तिक श्रद्धेयवचनता को प्रकट करने के लिए सज्जन के प्रति गौरव के कारण वर्णन करते हैं। वहाँ नैमित्तिक की प्रतीति में भी निमित्त की प्रतीति ही अनुप्राणक होने के कारण प्रधान हो जाती है। इस प्रकार व्यङ्ग्य और व्यञ्जक दोनों की प्रधानता है। कभी तो नैमित्तिक अप्रस्तुत अभिधीयमान होता हुआ प्रस्तुत निमित्त को प्रकट करता है। जैसे 'सेतुबन्ध में—

'समुद्रमन्थन से पूर्व पारिजात नामक वृक्ष से रहित स्वर्ग को, कौस्तुभमणि और लक्ष्मी से रहित मधुसूदन [विष्णु] के वक्षस्थल को तथा सुन्दर चन्द्र से रहित शिव जी के जटाभार को स्मरण करता हूँ।'

यहाँ जाम्बवान्, वृद्धसेवा, चिरजीवितत्व एवं व्यवहारकौशल आदि निमित्तभूत प्रस्तुत को मन्त्रित्व में उपादेय के रूप में प्रकट करने हेतु, कौस्तुभ और लक्ष्मी [अथवा कौस्तुभमणि की शोभा] से रहित विष्णु के वक्षस्थल के स्मरण आदि अप्रस्तुत नैमित्तिक का वर्णन करते हैं। वहाँ पर निमित्त की प्रतीति में भी नैमित्तिक वाच्यभूत है, इसके विपरीत उस निमित्त के द्वारा अनुप्राणित होने के कारण अपने को प्रधान बना लेता है। अतः यहाँ वाच्य और व्यङ्ग्य की समप्रधानता ही है।

(आशुबोधिनी)

जिस बात को सामान्य विशेष मे होने वाली अप्रस्तुतप्रशंसा के लिए कहा गया है वही बात निमित्तनैमित्तिकभाव में होने वाली अप्रस्तुप्रशंसा के लिए भी कही जा सकती है। इसी बात को 'निमित्तिनैमित्तिकभावे चायमेव न्यायः' यह कहकर स्पष्ट किया गया है। निमित्तनैमित्तकभाव [कार्यकारणभाव] में अप्रस्तुतप्रशंसा एक तो इस प्रकार की हुआ करती है कि उसमें निमित्त अप्रस्तुत होकर वाच्य हुआ करता है तथा वह प्रस्तुत नैमित्तिक की व्यञ्जना किया करता है। जैसे कोई जन स्वकीय बान्धवों की अपेक्षा अपने किसी समीपवर्ती मित्र का विशेषरूप से पक्षपाती है तथा उसी की बात को मानता भी है। जब उससे इसका कारण पूछा जाया करता है तब वह कहता है :—

'जो व्यक्ति उन्नति में प्रसन्न हुआ करते हैं तथा आपत्ति में भी साथ नहीं छोड़ा करते हैं वे ही [सच्चे] बन्धु हैं, वे ही मित्र हैं। वैसे लोक में तो अन्य लोग स्वार्थ के ही हुआ करते हैं।'

इस स्थल पर सज्जनों द्वारा स्वीकृत मित्र एवं बन्धु के वास्तविक सत्यस्वरूप का चित्रण किया गया गया है जो कि अप्रस्तुत है। 'अपने किसी विशेष हितैषी की बात को स्वीकार करना' प्रस्तुत है। यहाँ मित्र तथा बन्धु का सामान्य स्वरूप ही निमित्त है तथा 'बात को स्वीकार करना' नैमित्तिक है। इस भाँति यहाँ निमित्त का कथन नैमित्तिक को अभिव्यक्त करने की दृष्टि से किया गया है। यद्यपि नैमित्तिक की प्रतीति हो जाती है, फिर भी निमित्त का कथन ही प्रधान है क्योंकि उसी के द्वारा नैमित्तिक का अनुप्राणन किया जाना है अतएव यहाँ व्यङ्ग्यव्यञ्जक का प्राधान्य नहीं है। इसी कारण इसे ध्वनिकाव्य कहा जाना संभव नहीं है।

कभी नैमित्तिक अप्रस्तुत हुआ करता है तथा उसका कथन इस कारण किया जाता है कि जिससे प्रस्तुत निमित्त की अभिव्यक्ति हो सके। जैसे—'सेतुबन्ध' नामक काव्य में जाम्बवान् द्वारा एक मन्त्री के गुणों पर प्रकाश डालते हुए कहा जा रहा है—

'समुद्र का मन्थन किये जाने से पहले पारिजात नामक वृक्ष से रहित स्वर्ग, मधु नामक राक्षस के विनाशक भगवान् विष्णु का कौस्तुममणि तथा लक्ष्मी से रहित वक्षस्थल और सुन्दर चन्द्रमा से रहित भगवान् शंकर की जटाओं का भार स्मरण आ रहा है।'

इस स्थल पर जाम्बवान् द्वारा यह अभिव्यक्त किया जा रहा है कि एक मन्त्रि में अनेक उपादेय गुणों का होना आवश्यक है। जब तक गुण विद्यमान नहीं होंगे तब तक मन्त्रिपद का उत्तमरूप से निर्वाह किया जा सकना संभव नही होगा। जाम्बवान् इन गुणों से युक्त थे। इसी कारण वे इतने अधिक समय तक सफलता प्राप्त करते रहे। वे समुन्द्रमन्थन होने से पहले से ही मन्त्रीपद का कार्य करते रहे हैं। इस स्थल पर जाम्बवान् में इतने अधिक गुणों का होना कारण हैं, जिसके कारण इतने अधिक समय तक मन्त्रीपद पर सफल बने रहना कार्य है। जाम्बवान् द्वारा कौस्तुभ एवं लक्ष्मी से रहित भगवान् विष्णु के वक्षस्थल के स्मरण इत्यादि

कार्यों का वर्णन किया गया है जो कि 'अप्रस्तुत' है। इस प्रस्तुत वर्णन द्वारा मन्त्रि पद सम्बन्धी वृद्धसेवा व्यवहारकुशलता एवं चिरजीवन आदि उपादेय गुणों को अभिव्यक्त किया गया है जो कि पारिजातवृक्ष से शून्य स्वर्ग आदि के स्मरण किये जाने रूप कार्य में निमित्त है। यद्यपि यहाँ निमित्त की प्रतीति हो रही है किन्तु नैमित्तिक [कार्य] वाच्य है। यहाँ वक्ता द्वारा अभीष्ट होने के कारण व्यङ्ग्यार्थ निमित्त की प्रधानता है। किन्तु उस व्यङ्ग्यार्थ निमित्त के द्वारा अनुप्राणित होने की दृष्टि से वाच्यार्थ नैमित्तिक की भी प्रधानता है। अतएव व्यङ्ग्यार्थ और वाच्यार्थ दोनों की ही समान रूप से प्रधानता हो गई। ऐसी स्थिति में हम इसे न तो ध्वनिकाव्य ही कह सकते हैं और न ध्वनि का अप्रस्तुत-प्रशन्सा के इस भेद में अन्तर्भाव होने का प्रश्न ही उत्पन्न होता है।

[लोचनम्]

एवं द्वौ प्रकारौ प्रत्येकं द्विविधौ विचार्य तृतीयः प्रकारः परिक्ष्यते सारूप्यलक्षणः।

इस भाँति अप्रस्तुतप्रशंसा सम्बन्धी दोनों भेदों तथा प्रत्येक के दो-दो प्रभेदों के बारे में विचार कर अब 'सारूप्य' नामक तृतीय भेद की परीक्षा करते हैं।

ध्वन्यालोकः

यदा तु सारूप्यमात्रवशेनाप्रस्तुतप्रशंसायामप्रकृतप्रकृतयोः सम्बन्धस्तदाप्यप्रस्तुतस्य सरूपस्याभिधीयमानस्य प्राधान्येनाविवक्षायां ध्वनावेवान्तःपातः। इतरथा त्वलङ्कारान्तरमेव।

जब सारूप्य [सादृश्य] मात्रमूलक अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रकृत और प्रकृत का सम्बन्ध हुआ करता है तब भी अभिधीयमान अप्रस्तुत तुल्य पदार्थ का प्राधान्य अविवक्षित होने की स्थिति में [वस्तु] ध्वनि में अन्तर्भाव हो जायगा। अन्यथा [प्राधान्य न होने की दशा में] एक प्रकार का अलङ्कार ही होगा।

[लोचनम्]

तत्रापि द्वौ प्रकारौ—'अप्रस्तुतात्कदाचिद्वाच्याच्चमत्कारः, व्यङ्ग्यं तु तन्मुखप्रेक्षम्। यथास्मदुपाध्यायभट्टेन्दुराजस्य—

प्राणा येन समर्पितास्तव बलाद् येन त्वमुत्थापितः
स्कन्धे यस्य चिरं स्थितोऽसि विदधे यस्ते सपर्यामपि ।
तस्यास्य स्मितमात्रकेण जनयन् प्राणापहारक्रियां
भ्रातः प्रत्युपकारिणां धुरि परं वेताल लीलायसे ।।

अत्र यद्यपि सारूप्यवशेन कृतघ्नः कश्चिदन्यः प्रस्तुत आक्षिप्यते । तथाप्यप्रस्तुतस्यैव वेतालवृत्तान्तस्य चमत्कारकारित्वम् । न ह्यचेतनोपालम्भवदसम्भाव्यमानोऽयमर्थो न च न हृद्य इति वाच्यस्यात्र प्रधानता । यदि पुनरचेतनादिनात्यन्तासम्भाव्यमानतदर्थविशेषणेनाप्रस्तुतेन वर्णितेन प्रस्तुतमाक्षिप्यमाणं चमत्कारकारि तदा वस्तुध्वनिरसौ । यथा ममैव —

भावव्रात हठाज्जनस्य हृदयान्याक्रम्य यन्नर्तयन्
भङ्गीभिर्विविधाभिरात्महृदयं प्रच्छाद्य संक्रीडसे ।
स त्वामाह जडं ततः सहृदयम्मन्यत्वदुःशिक्षितो
मन्येऽमुष्य जडात्मता स्तुतिपदं त्वत्साम्यसम्भावनात् ।।

कश्चिन्महापुरुषो वीतरागोऽपि सरागवदिति न्यायेन गाढविवेकालोकतिरस्कृततिमिरप्रधानोऽपि लोकमध्ये स्वात्मानं प्रच्छादयँल्लोकं च वाचालयन्नात्मन्यप्रतिभासमेवाङ्गीकुर्वंस्तेनैव लोकेन मूर्खोऽयमिति यदवज्ञायते तदा तदीयं लोकोत्तरं चरितं प्रस्तुत व्यङ्ग्यतया प्राधान्येन प्रकाश्यते । जडोऽयमिति ह्युद्यानेन्दूदयादिर्भावो लोकेनावज्ञायते, स च प्रत्युत कस्यचिद्विरहिण औत्सुक्यचिन्तादूयमानमानसतामन्यस्य प्रहर्षपरवशतां करोतीति हठादेव लोकं यथेच्छं विकारकारणाभिर्नर्तयति न च तस्य हृदयं केनापि ज्ञायते कीदृगयमिति, प्रत्युत महागम्भीरोऽतिविदग्धः सुष्ठुगर्वहीनोऽतिशयेन क्रीडाचतुरः स यदि लोकेन जड इति तत एव कारणात् प्रत्युतवैदग्ध्यसम्भावनानिमित्तात्सम्भावितः, आत्मा च यत एव कारणात्प्रत्युत जाड्येन सम्भाव्यस्तत एव सहृदयः सम्भावितस्तदस्य लोकस्य जडोऽसीति यद्युच्यते तदा जाड्यमेव विषस्य भावव्रातस्यातिविदग्धस्य प्रसिद्धमिति सा प्रत्युत स्तुतिरिति । जडावपि पापीयानयं लोक इति ध्वन्यते ।

तदाह—यदा त्विति । इतरथा त्विति । इतरथैव पुनरलङ्कारान्तरत्वमलङ्कारविशेषत्वं न व्यङ्ग्यस्य कथञ्चिदपि प्राधान्यम्, इति भावः ।

उस [सारूप्यलक्षण तृतीय प्रकार वाली अप्रस्तुप्रशंसा] के भी दो प्रकार

होते हैं:—कभी अप्रस्तुत वाच्य से चमत्कार होता है तथा व्यङ्ग्य तन्मुखापेक्षी होता है [अर्थात् अप्रधान होता है ।] जैसे हमारे उपाध्याय भट्टेन्दुराज का—

'हे भाई बेताल ! जिसने तुमको प्राण समर्पित किये, बलपूर्वक जिसने तुमको उठाया, जिसके कन्धे पर बहुत समय तक तुम बैठे रहे, जिसने तम्हारी पूजा भी की, उस प्रकार के इसके मात्र मुस्कुराहट के द्वारा ही, प्राणों का अपहरण करने वाले तुम प्रत्युपकार करनेवालों के आगे पहुँच जाते हो ।'

यहाँ यद्यपि सारूप्य [सादृश्य] के कारण कोई अन्य कृतघ्न आक्षिप्त किया जाता है, तथापि अप्रस्तुत वेताल-वृत्तान्त की ही चमत्कार-कारिता है । न कि अचेतन के उपालम्भ की भाँति यह अर्थ असंभाव्यमान होने से हृद्य नही है, अतएव वाच्य की प्रधानता है । फिर यदि अत्यधिक असंभाव्यमान उस [अप्रस्तुत अर्थ] के विशेषण वाले वर्णित अचेतन आदि के द्वारा प्रस्तुत आक्षिप्यमाण होकर के चमत्कारकारी हो तो वह वस्तुध्वनि हुआ करती है । जैसे—मेरा ही—

'हे भावसमूह ! [हे पदार्थसमूह !] व्यक्तियों के हृदयों को हठपूर्वक आक्रान्त कर उन्हें नानाप्रकार की चेष्टाओं के साथ नाचते-गाते हुए अपने हृदय को आच्छादित कर जो तुम क्रीड़ा किया करते हो, तब भी स्वयं को सहृदय मानने के कारण दुर्ललित जन तुमको 'जड़' कहता है, किन्तु मैं मानता हूँ कि उसे जड़ कहना भी उसकी स्तुति [प्रशंसा] है क्योंकि इस अंश में तुमसे उसकी समानता की संभावना होती है ।'

'वीतराग होते हुए भी सराग जैसा' इसके अनुसार कोई महापुरुष अपने अत्यधिक विवेक के आलोक से फैले हुए अन्धकार को तिरस्कृत करके भी लोगों के मध्य स्वयं को छिपाता हुआ, लोगों को मुखर करता हुआ, स्वयं में अज्ञान को स्वीकार करता हुआ उन्हीं लोगों के द्वारा 'यह मूर्ख है' कहकर जो तिरस्कृत होता है, ऐसी दशा में उसका प्रस्तुत लोकोत्तर चरित व्यङ्ग्य के रूप में प्रधानता से प्रकाशित होता है । क्योंकि उद्यान, चन्द्रोदय आदि भाव [पदार्थ] लोगों द्वारा 'यह जड़ है' कहकर अपमानित होता है । प्रत्युत वह किसी विरही के मन को उत्सुकता, चिन्ता के कारण दुःखी करता है, दूसरे को प्रसन्न करता है । इस भाँति स्वेच्छा से लोगों को विकार के प्रवर्त्तनों द्वारा नचाता रहा करता है । 'यह कैसा है' इस भाँति कोई भी उसके भेद को नहीं जानता है प्रत्युत महागम्भीर, अत्यन्त

विदग्ध, शोभन, गर्वरहित, क्रीड़ा में अतिचतुर वह [भावव्रात=भावसमूह अथवा पदार्थसमूह] लोगों द्वारा 'जड़ रूप में' उस कारण उस वैदग्ध्य के संभावन रूप निमित्त द्वारा ही सम्भावित किया जाया करता है। जिस कारण से आत्मा को जड़रूप से सम्भावन किया जाय उसी कारण यदि लोग सहृदय सम्भावित हैं तो उन लोगों की, यदि 'तुम जड़ हो' तो इस भाँति के अविदग्ध पदार्थसमूह की जड़ता प्रसिद्ध है, इस प्रकार स्तुति [प्रशंसा] ही है। यह लोक [संसार के लोग] जड़ से भी अधिक पापवाला है, यह ध्वनित होता है।

तो कहते हैं जब कि—। इतरथा —। अन्य प्रकार से ही अलङ्कारान्तरत्व अर्थात् विशेष प्रकार का अलङ्कार होता है। तात्पर्य यह है कि किसी प्रकार भी व्यङ्ग्य की प्रधानता नहीं होती है।

(आशुबोधिनी)

सारूप्य अथवा सादृश्य के आधार पर अप्रस्तुत की व्यञ्जना दो प्रकार से की जा सकती है—(१) कभी ऐसा होता है कि चमत्कार अप्रस्तुत वाच्यार्थ के आधीन होता है तथा व्यङ्ग्यार्थ तन्मुखापेक्षी होकर गौण हो जाया करता है। अथवा इसको यों कहिए कि यदि प्रस्तुत प्रतीयमान अर्थ की अप्रस्तुत वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रधानता नहीं है। ऐसी स्थिति में ध्वनि न होकर अलंकार ही होगा। जैसे—हमारे उपाध्याय भट्टेन्दुराज का पद्य—

'हे भाई वेताल ! जिसने तुमको अपने प्राण समर्पित किये, जिसने अपने बल से तुमको उठाया, जिसके कन्धे पर तुम बहुत समय तक बैठे रहे, जिसने तुम्हारी पूजा भी की, उस प्रकार के इस व्यक्ति के प्राणों को केवल अपनी मुस्कराहट द्वारा ही अपहरण करते हुए, तुम प्रत्युपकार करने वालों के सर्वतो अग्रणी शोभित होते हो।'

यहाँ अप्रस्तुत वेताल के वृत्तान्त के सारूप्य [सादृश्य] से किसी अन्य प्रस्तुत कृतघ्न का वृत्तान्त आक्षिप्त होता है। किन्तु उस प्रस्तुत प्रतीयमान कृतघ्न के वृत्तान्त की अपेक्षा यहाँ प्रस्तुत वाच्य वेताल सम्बन्धी वृत्तान्त ही अधिक चमत्कारपूर्ण है [अर्थात् 'मैने तो तुम्हारा उपकार किया किन्तु तुम मेरा अपकार कर रहे हो, यह तुम्हारे लिए उचित प्रतीत नहीं होता' इस आक्षिप्त व्यङ्ग्य की वेताल के प्रति कहे गए प्राणसमर्पण इत्यादि कथित वाक्य अधिक चमत्कारपूर्ण

हैं।] अतएव यहाँ पर वाच्यार्थ की ही प्रधानता होने के कारण सारूप्यनिबन्धन अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार ही है, ध्वनि नहीं।

अप्रस्तुतप्रशंसा का सारूप्य सम्बन्धी द्वितीय प्रकार यह है कि यदि अप्रस्तुत वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रस्तुत प्रतीयमान अर्थ अधिक चमत्कारपूर्ण है तो वह ध्वनि का विषय होगा। इसमें प्रतीयमान अर्थ की ही प्रधानता हुआ करती है। इसी कारण इसका समावेश ध्वनि-काव्य में हो जायगा। जैसे श्री अभिनवगुप्त का ही पद्य—

'सौन्दर्य की खान चन्द्रमा आदि हे पदार्थसमूह ! तुम नानाप्रकार की भङ्गिमाओं द्वारा अपने हृदय के रहस्य को छिपाकर लोगों के हृदयों को बलपूर्वक अपनी ओर आकृष्ट कर नाचते हुए क्रीडा किया करते हो। इसी कारण अपने आपको सहृदय मानने से दुःशिक्षित व्यक्ति तुमको जड़ [मूर्ख] कहता है। किन्तु मेरी दृष्टि में तुम्हारे साम्य की संभावना से उनको जड़ कहना भी उसकी प्रशंसा ही है।'

उपर्युक्त पद्य में प्रस्तुत अर्थ यह है कि कोई महापुरुष वीतराग है, वह स्वकीय ज्ञानालोक के प्रकाश से अज्ञानान्धकार के विस्तार का सर्वथा निराकरण कर चुका है, किन्तु 'रागान्ध व्यक्तियों के समक्ष स्वयं भी रागान्धता को ही प्रकट करना उचित है' इस नीत का आश्रय लेकर लोक में स्वकीय वीतरागता को छिपाकर लोक को मूर्ख बनाने की दृष्टि से इस प्रकार की बातें करता है जिसके कारण अन्य व्यक्ति उसे अज्ञानतिमिर में पड़ा मानकर उसको मूर्ख कहते हैं। वह भी अपने अन्दर उस अज्ञानान्धकार को मान लेता है। उसका इसप्रकार का लोकोत्तर चरित्र प्रस्तुत है जिसकी अभिव्यक्ति उक्त पद्य में की जा चुकी है। यह व्यङ्ग्यार्थ अप्रस्तुत से प्रकट होकर प्रधानता को प्राप्त हो जाता है।

अप्रस्तुत वाच्यार्थ —'भाव' का अर्थ है—स्वयं की सत्ता को स्थापित रखते हुए, सहृदयों को अभ्यन्तर किसी भावना को जागृत करने वाले चन्द्रोदय, उद्यान इत्यादि संसार के सुन्दरतम पदार्थ। लोक इनको जड़ समझकर इनका निरादर किया करता है। इसके विपरीत ये भाव किसी बिरही के मन को अत्यन्त उत्कण्ठित एवं चिन्तित कर दिया करते हैं। साथ ही किसी संयोगी के मानस को हर्षित कर दिया करते हैं। इस भाँति ये भावपदार्थ लोगों के हृदयों में

विकारों को उत्पन्न कर बलपूर्वक उन्हें नचाया करते हैं। अतएव ये भावपदार्थ अत्यन्त चतुर तथा निपुण हैं। तात्पर्य यह है कि यह संसार जड़ जगत् की अपेक्षा कहीं अधिक पापी [जड़—मूर्ख] है। अभिप्राय यह है कि 'जड़-जगत् को जड़ कहने वाले स्वयं जड़ [मूर्ख] हैं।' इस वाच्यार्थ में उतना चमत्कार नहीं है कि जितना ज्ञानी पुरुषों को बनाने की दृष्टि से स्वयं को अज्ञानी बन जाने के व्यङ्ग्यार्थ में है। अतएव यहाँ प्रधानता भी इसी व्यङ्ग्यार्थ [प्रतीयमान-अर्थ] की है। इसी कारण यहाँ 'वस्तुध्वनि' है, 'अप्रस्तुतप्रशंसा' अलंकार नहीं।

[लोचनम्]

उद्देश्ये यदादिग्रहणं कृतं समासोक्तीत्यत्र द्वन्द्वे तेन व्याजस्तुतिप्रभृतिरलङ्कारवर्गोऽपि सम्भाव्यमानव्यङ्ग्यानुप्रवेशः सम्भावितः। तत्र सर्वत्र साधारणमुत्तरं दातुमुपक्रमते—तदयमत्रेति। कियद्वा प्रतिपदं लिख्यतामिति भावः। तत्र व्याजस्तुतिर्यथा —

किं वृत्तान्तैः परगृहगतैः किन्तु नाहं समर्थ-
स्तूष्णीं स्थातुं प्रकृतिमुखरो दाक्षिणात्यस्वभावः।
गेहे गेहे विपणिषु तथा चत्वरे पानगोष्ठ्या-
मुन्मत्तेव भ्रमति भवतो वल्लभा हन्त कीर्तिः॥

अत्र व्यङ्ग्यं स्तुत्यात्मकं यत्तेन वाच्यमेवोपस्क्रियते। यत्तूदाहृतं केनचित्—

आसीन्नाथ पितामही तव मही जाता ततोऽनन्तरं
माता सम्प्रति साम्बुराशिरशना जाया कुलोद्भूतये।
पूर्णे वर्षशते भविष्यति पुनः सैवानवद्या स्नुषा
युक्तं नाम समग्रनीतिविदुषां किं भूपतीनां कुले॥

इति तदस्माकं ग्राम्यं प्रतिभात्यत्यन्तासभ्यस्मृतिहेतुत्वात्। का चानेन स्तुतिः कृता। त्वं वंशक्रमराजेति हि कियदिदम्? इत्येव प्राया व्याजस्तुतिः सहृदयगोष्ठीषु निन्दितेत्युपेक्ष्यैव।

यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबन्धस्तु हेतुना येन।
गमयति तमभिप्रायं तत्प्रतिबन्धं च भावोऽसौ॥ इति॥

अत्रापि वाच्यप्राधान्ये भावालङ्कारता। यस्य चित्तवृत्तिविशेषस्य सम्बन्धी

वाग्व्यापारादिर्विकारोऽप्रतिबन्धो नियतः प्रभवंस्तं चित्तवृत्तिविशेषरूपमभिप्रायं येन हेतुना गमयति स हेतुर्यथेष्टोपभोग्यत्वादिलक्षणोऽर्थो भावालङ्कारः। यथा—

एकाकिनी यदबला तरुणी तथाहमस्मिन्गृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम्।
कं याचसे तदिह वासमियं वराकी श्वश्रूर्यमान्धबधिरा ननु मूढ पान्थ॥

अत्र व्यङ्ग्यमेकंकत्र पदार्थे उपस्कारकारीति वाच्यं प्रधानम्। व्यङ्ग्य-प्राधान्ये तु न काचिदलङ्कारतेति निरूपितमित्यलं बहुना।

उद्देश्य [नामनिर्देश] में जो 'आदि' ग्रहण किया है, समासोक्ति के द्वन्द्व-समास में उससे व्याजस्तुति इत्यादि अलङ्कार वर्ग में भी सम्भाव्यमान व्यङ्ग्य के अनुवेश की संभावना की गई है। उसमें सर्वत्र साधारण उत्तर देने का उपक्रम करते हैं—तो यह वहाँ—इत्यादि। भाव यह है कि प्रति पद-पद पर कितना लिखा जाये? उसमें व्याजस्तुति—जैसे—

'दूसरे व्यक्ति के घर की बातों की चर्चा करने से क्या लाभ? किन्तु मैं मौन होकर स्थित रहने में असमर्थ हूँ। क्योंकि दाक्षिणात्यों का स्वभाव प्राकृतिक रूप से मुखर होता है। खेद है कि हे राजन्! आपकी प्रियतमा कीर्ति घर-घर में, चौराहों पर, पानगोष्ठियों [मधुशालाओं] में, उन्मत्त [पागल] के सदृश घूमती रहती है।'

इस स्थल पर जो स्तुत्यात्मक व्यङ्ग्य है, उससे वाच्य ही उपस्कृत होता है। जो कि किसी ने उदाहरण दिया है—

'हे राजन्! पहले पृथ्वी तुम्हारी पितामही थी, तदनन्तर वह तुम्हारी माता बन गई, इस समय समुद्र की रशना से युक्त वह कुलोत्पत्ति के लिए तुम्हारी पत्नी बन गई है और जब सौ वर्ष पूरे हो जायेंगे तब वह तुम्हारी अनिन्द्य पुत्रवधू [पतोहू] बन जावेगी। सभी प्रकार की नीतियों में निपुण राजाओं के घर में क्या इसे ठीक कहा जा सकता है?'

यह [उदाहरण] हमको ग्राम्य प्रतीत होता है क्योंकि वह अत्यन्त असभ्य स्मृति को उत्पन्न करता है। और भी, इससे स्तुति ही क्या की? 'तुम तो वंशक्रम से राजा हो' यह कितनी स्तुति है? इस भाँति की व्याजस्तुति सहृदयों की गोष्ठियों में निन्दनीय होने के कारण उपेक्षणीय ही है।

'जिसका विकार अप्रतिबन्ध [नियत] होता हुआ जिस कारण से उस

अभिप्राय को तथा उसके प्रतिबन्ध को व्यञ्जित किया करता है वह 'भाव' होता है।'

यहाँ पर भी वाच्य की प्रधानता होने से भावालङ्कार है। जिस विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति से सम्बद्ध वाग्व्यापार आदि विकार अप्रतिबन्ध अर्थात् नियत होता हुआ उस चित्तवृत्तिविशेषरूप अभिप्राय को जिस हेतु से व्यञ्जित करता है वह हेतु अर्थात् यथेष्ट उपभोग्यत्वादि रूप अर्थ [मैं तुम्हारे यथेष्ट उपभोग्य के योग्य हूँ, कोई प्रतिबन्धक नहीं है, इस प्रकार के नायिका के मनोगत, आदि अर्थ] ही भावालङ्कार होता है। जैसे—

'जो कि मैं इस घर में एकाकी अबला तथा तरुणी हूँ, गृहस्वामी विदेश चले गये हैं। हे मूर्ख पथिक! तो यहाँ निवास की प्रार्थना किससे कर रहे हो? यह मेरी सास निश्चितरूप से अन्धी भी है और बहरी भी।'

यहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ एक एक पदार्थ में सहकारी है। अतः वाच्य की ही प्रधानता है। व्यङ्ग्य की प्रधानता में तो कोई अलङ्कारता नहीं हुआ करती, यह निरूपण किया जा चुका है, अधिक कहने से क्या?

(आशुबोधिनी)

व्यञ्जनामूलक जिन अलङ्कारों में ध्वनि के अन्तर्भाव का निराकरण करने के निमित्त प्रतिज्ञा की थी उन समासोक्ति, आक्षेप इत्यादि अलङ्कारों में द्वन्द्व समास कर 'इत्यादि' शब्द जोड़ दिया था। इसके द्वारा व्याजस्तुति आदि व्यङ्ग्यार्थमूलक अलङ्कारों में भी ध्वनि के अन्तर्भाव हो जाने की संभावना का निराकरण हो जाता है। ध्वन्यालोककार द्वारा 'इत्यादि' शब्द से 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' पर विचार कर लिया गया। उन सभी अवशिष्ट अलंकारों में ध्वनि के समावेश का एक सामान्य उत्तर आगामी श्लोकों में दिया जा रहा है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक अलंकार को लेकर कहाँ तक लिखा जाय? लोचनकार ने 'इत्यादि' शब्द से 'व्याजस्तुति' और 'भाव' इन दो अलंकारों पर और विचार किया है। पहले 'व्याजस्तुति' के सम्बन्ध में ही विचार कर लिया जाय।

प्राचीन आचार्य 'व्याजेन स्तुतिः' ऐसा तत्पुरुष समासकर 'जहाँ निन्दा वाच्य हो' उसे व्याजस्तुति स्वीकार करते हैं। किन्तु नवीन आचार्यों द्वारा 'व्याजरूपा स्तुतिः' ऐसा कर्मधारय समास कर निन्दा तथा प्रशंसा दोनों ही स्थानों पर व्याज-

स्तुति मानी गई है जहाँ प्रशंसा की अभिव्यक्ति के लिए निन्दा की जाय अथवा जहाँ निन्दा की अभिव्यक्ति के निमित्त प्रशंसा की जाय। इन दोनों में से लोचन-कार द्वारा प्रथम प्रकार से सम्बन्धित उदाहरण दिया है :—

'अन्य लोगों के घर की बातों से हमको क्या ? किन्तु मैं तो चुप बैठने में सर्वथा असमर्थ हूँ। दक्षिणात्य जन तो प्रकृत्या ही मुखर हुआ करते हैं। बड़े दुःख की बात है कि हे राजन् ! आपकी प्रियतमा कीर्ति घर-घर में, बाजारों में, चौराहों पर तथा पानगोष्ठियों में पागल के सदृश घूमती रहा करती है।

इस स्थल पर यद्यपि व्यङ्ग्यार्थ प्रशंसात्मक है किन्तु फिर भी अपेक्षाकृत वाच्यार्थ अधिक चमत्कारी है। किसी ने व्याजस्तुति का निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया है :—

'हे राजन् ! यह पृथ्वी पहले आपकी दादी थी, इसके पश्चात् वह अपनी माँ बन गई। अब वही समुद्र की मेखला से अलंकृत पृथ्वी आपके वंश की वृद्धि की दृष्टि से आपकी पत्नी बन गई है। सौ वर्ष पूरे हो जाने पर वही पृथ्वी आपकी अनिन्दनीय पुत्रवधू बन जायेगी। सभी प्रकार की नीतियों में पारङ्गत आप राजाओं के वंश में क्या यह उचित है ?

यह उदाहरण पूर्णतया ग्राम्य ही प्रतीत होता है क्योंकि इसमें प्रशंसापरक कोई बात दृष्टिगोचर नहीं हो रही है। वंशपरम्परा से राजा तो हुआ ही करते हैं। अतएव यह उपेक्षणीय ही है।

'भाव' नामक अलंकार को रुद्रट ने स्वीकार किया है। उनके द्वारा इसकी परिभाषा यह की गई है।

"जिस अनुराग आदि विशिष्ट प्रकार की चित्तवृत्ति के द्वारा उत्पन्न वाणी का व्यापार आदि विकार निश्चितरूप से उस चित्त की वृत्ति को जिस हेतु से व्यक्त किया करता है, वह हेतु ही 'भावालंकार' कहा जाता है।"

'भाव' नामक अलंकार तभी अलंकार बनता है कि जब वाच्य की प्रधानता हो। विशिष्ट प्रकार की चित्त की वृत्ति के कारण वाणी का व्यापार इत्यादि जो भी विकार उत्पन्न हुआ हो वह यदि उस चित्त की वृत्ति को प्रकट करने में पूर्ण-रूपेण समर्थ हो तो जिस कारण से उस अभिव्यक्ति की उत्पत्ति होती है वह कारण ही 'भाव' नामक अलंकार कहलाता है। जैसे—

'जिसका पति परदेश गया हुआ है ऐसी कोई नायिका कुछ काल तक ठहरने की इच्छा रखने वाले पथिक से कह रही है :—'हे मूर्ख पथिक ! तुम यह तो देख ही रहे हो कि मैं अकेली ही घर में तरुणी स्त्री हूँ। मेरा पति परदेश गया हुआ है। मेरी वृद्धा सास अन्धी तथा बहरी हैं। फिर तुम यहाँ ठहरने सम्बन्धी अपनी प्रार्थना किससे कर रहे हो ?'

उपर्युक्त उदाहरण में व्यङ्ग्यार्थ के द्वारा अपनी इच्छानुसार उपभोग करने रूप अभिप्राय की सूचना प्राप्त होती है। यहाँ व्यङ्ग्यार्थ सहकारी है। अतएव यहाँ वाच्यार्थ की ही प्रधानता है।

इस भाँति उपर्युक्त विवरण द्वारा यह सिद्ध हो गया कि 'ध्वनि' का समावेश अलंकारों में नहीं हो सकता। अब इसके और अधिक विस्तार से क्या लाभ ?

अब अपने उपर्युक्त प्रतिपादन को ध्वन्यालोककार संक्षेप में श्लोकों द्वारा प्रदर्शित करते हैं :—

ध्वन्यालोकः

तदयमत्र संक्षेपः।

व्यङ्ग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालंकृतयः स्फुटाः॥
व्यङ्ग्यस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थानुगमेऽपि वा।
न ध्वनिर्यत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते॥
तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यङ्ग्यं प्रतिस्थितौ।
ध्वनेः स एव विषयो मन्तव्यः सङ्करोज्झितः॥

तस्मान्न ध्वनेरन्तर्भावः।

अलंकारों में ध्वनि के अन्तर्भाव सम्बन्धी वाद के खण्डन का उपसंहार

इससब का सारांश यह है कि—

वाच्य का अनुमान करनेवाले [वाला होने से] व्यङ्ग्य को जहाँ अप्रधानता है वहाँ 'समासोक्ति' आदि अलंकार स्पष्ट है।

जहाँ व्यङ्ग्य की केवल प्रतीति [आभास] मात्र हो अथवा वह वाच्यार्थ का अनुगामी हो अथवा जहाँ उस व्यङ्ग्य की स्पष्टरूप से प्रधानता नहीं है वहाँ भी ध्वनि नहीं है।

जहाँ शब्द और अर्थ व्यङ्ग्यबोधन के लिए ही तत्पर हैं उसी को सङ्कर-रहित ध्वनि का विषय समझना चाहिए। अतएव ध्वनि का [अन्यत्र अलङ्कार आदि में] अन्तर्भाव नहीं हो सकता है।

[लोचनम्]

यत्रेति काव्ये अलंकृतय इति। अलङ्कृतित्वादेव च वाच्योपस्कारकत्वम्। प्रतिभामात्र इति। यत्रोपमादौ क्लिष्टार्थप्रतीतिः। वाच्यार्थानुगम इति। वाच्येनार्थेनानुगमः समं प्राधान्यमप्रस्तुतप्रशंसायामिवेत्यर्थः। न प्रतीयते इति। स्फुटतया प्राधान्यं न चकास्ति। अपितु बलात्कल्प्यते। तथापि हृदये वानुप्रविशति। यथा—'दे आ पसिअ णिवत्तसु' इत्यत्रान्यकृतासु व्याख्यासु। तेन चतुर्षु प्रकारेषु न ध्वनिव्यवहारः सद्भावेऽपि व्यङ्ग्यस्य, अप्राधान्ये क्लिष्टप्रतीतौ। वाच्येन समप्राधान्येऽस्फुटप्राधान्ये च। क्व तर्ह्यसावित्याह-तत्परावेवेति। सङ्करेणालङ्कारानुप्रवेशसम्भावनया उज्झित इत्यर्थः। सङ्करालङ्कारेणेतित्वसत्, अन्यालङ्कारोपलक्षणत्वे हि क्लिष्टं स्यात्।

यत्र [जहाँ पर] का अर्थ है—काव्य में। अलङ्कार—। अलंकार होने के कारण ही वाच्य के उपस्कारक होते हैं। प्रतिभा मात्र—। अर्थात् जहाँ उपमा इत्यादि में मलिन [अस्पष्ट] अर्थ की प्रतीति होती है।

वाच्य अर्थ का अनुगम—अर्थात् जहाँ वाच्यार्थ के साथ अनुगम [समप्राधान्य] हो, अप्रस्तुतप्रशंसा के समान। प्रतीत नहीं होती है—। स्पष्टरूप में प्रधानता प्रकाशित नहीं होती है, अपितु बलात् कल्पित कर ली जाती है, तथापि हृदय में अनुप्रविष्ट नहीं होती। जैसे—'प्रार्थये तावत् प्रसीद' इस गाथा में दूसरों द्वारा की गई व्याख्याओं में। इससे चारो प्रकारों में ध्वनि का व्यवहार नहीं होता है।

(आशुबोधिनी)

उपर्युक्त विवरण द्वारा व्यञ्जनामूलक अलङ्कारों से 'ध्वनि' का अन्तर दर्शाया गया है। इस विवरण के सारांश को उपर्युक्त तीन कारिकाओं द्वारा सूत्ररूप में स्पष्ट किया गयो है। इन कारिकाओं का भाव यह है—

(१) जहाँ व्यङ्ग्यार्थ अपने प्राधान्य को मात्र वाच्यार्थ के अनुगमन के कारण खो बैठता है वहाँ समासोक्ति आदि वाच्य-अलंकार हुआ करते हैं।

(२) जहाँ पर व्यङ्गयार्थ की प्रतीति स्पष्टरूप से नहीं हुआ करती है अर्थात् जहाँ पर व्यङ्गयार्थ का केवल आभास ही होता है अथवा जहाँ व्यङ्गयार्थ वाच्यार्थ का अनुगमन करने वाले होते हैं अथवा जहाँ पर व्यङ्गयार्थ की प्रधानता प्रतीत न हो रही हो, ऐसे स्थलों पर 'ध्वनि' नहीं हुआ करती है ।

(३) जहाँ पर वाच्य अर्थ और वाचक शब्द व्यङ्गयार्थ परक ही हों अर्थात् जहाँ पर व्यङ्गयार्थ की ही प्रधानता हो और जिसमें 'सङ्कर' के अनुप्रवेश की संभावना न हो, उसे ही ध्वनि का क्षेत्र समझना चाहिये ।

यहाँ 'यत्र' शब्द का अर्थ है—काव्य में । 'अलङ्कृतय;' शब्द से अभिप्राय है कि जो अलङ्कृत करने वाला हो । जिसको अलङ्कृत किया जाय वह अलङ्कार्य कहलाता है । अतएव अलङ्कार कभी भी अलङ्कार्य नहीं हो सकता । इसलिए 'वाच्यालङ्कार' कहने से तात्पर्य यह है कि अलङ्कार वाच्यार्थ को सौन्दर्य प्रदान किया करते हैं । अतएव उनकी स्वयं प्रधानता कभी नहीं हुआ करती है । 'प्रतिभा-मात्र में' का अर्थ है कि जहाँ 'उपमा' इत्यादि में अर्थ की प्रतीति मलिन अथवा अस्पष्ट हो । 'प्रधानता प्रतीत नहीं होती' का अभिप्राय यह है कि जहाँ पर स्पष्टरूप से प्रधानता का प्रकाशन नहीं होता है अपितु जबरदस्ती प्रधानता की कल्पना कर ली जाया करती है । किन्तु फिर भी वह हृदय में अनुप्रविष्ट नहीं हुआ करती है जैसे='प्रार्थये तावत् प्रसीद' इस गाथा में अन्य लोगों द्वारा की गई व्याख्याओं में । इस भाँति प्रथम दो कारिकाओं में यह स्पष्ट किया गया है कि चार प्रकार के व्यङ्गयार्थों में 'ध्वनि' का व्यवहार नहीं हुआ करता है—(१) व्यङ्गयार्थ के होने पर भी जहाँ उसकी प्रधानता न हो, (२) जहाँ व्यङ्ग्यार्थ की मलिन अथवा अस्पष्ट प्रतीति हो । (३) जहाँ वाच्यार्थ और व्यङ्गयार्थ दोनों में समानरूप से प्रधानता की प्रतीति होती हो । (४) जहाँ व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता स्पष्ट न हो । अब यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि फिर वह व्यङ्गयार्थ होता कहाँ पर है । इसका उत्तर तीसरी कारिका में दिया गया है:—कि जहाँ पर शब्द और अर्थ दोनों ही व्यङ्गयार्थपरक हुआ करते हैं वहीं पर 'संकर' से रहित विषय ध्वनि का हुआ करता है । इस स्थल पर 'संकर' का अर्थ है 'किसी भी अलङ्कार का अनुप्रवेश ।' तात्पर्य यह है कि जहाँ पर व्यङ्गयार्थ के किसी दूसरे अलङ्कार में प्रविष्ट होने की संभावना नहीं रहा करती है वही पर व्यङ्गयार्थ 'ध्वनि' का रूप धारण कर लिया करता है । इस स्थल पर 'संकर' से तात्पर्य

'संकरालंकार' से नहीं है। क्योंकि इस स्थल पर लेखक को किसी भी अलङ्कार में ध्वनि के समाविष्ट होने का निराकरण ही करना है। यदि यहाँ पर संकर को अन्य अलङ्कारों का उपलक्षण मानकर व्याख्या की जायगी तो यह एक प्रकार की क्लिष्ट कल्पना ही होगी।

इस भाँति यह सिद्ध हो गया कि ध्वनि का अन्तर्भाव कहीं अन्यत्र होना संभव नहीं है।

ध्वन्यालोकः

इतश्च नान्तर्भावः, यतः काव्यविशेषोऽङ्गी ध्वनिरिति कथितः। तस्य पुनरङ्गानि अलङ्कारा गुणा वृत्तयश्चेति प्रतिपादयिष्यन्ते। न चावयव एव पृथग्भूतोऽवयवीति प्रसिद्धः। अपृथग्भावे तु तदङ्गत्वं तस्य। न तु तत्त्वमेव। यत्रापि तत्त्वं तत्रापि ध्वनेर्महाविषयत्वान्न तन्निष्ठत्वमेव।

इस कारण भी ध्वनि का [अन्यत्र अलङ्कार आदि में] अन्तर्भाव नहीं हो सकता कि अङ्गीभूत [व्यङ्ग्य की प्रधानता से युक्त] काव्यविशेष को ध्वनि कहा गया है। अलङ्कार, गुण और वृत्तियाँ तो उसके अङ्ग हैं, इसका प्रतिपादन आगे किया जायगा। और पृथग्भूत अर्थात् अलग-अलग अवयव ही अवयवी नहीं कहे जाते हैं। अपृथग्भूत अर्थात् मिलकर समुदायरूप में [भी] वह [अवयव रूप अलङ्कार आदि] उस [ध्वनि] के अङ्ग ही हैं न अङ्गी [ध्वनि] हैं। जहाँ कहीं व्यङ्ग्य का अङ्गित्व अथवा ध्वनित्व होता भी है वहाँ भी ध्वनि के महाविषय [अधिकदेश में होने अर्थात् उन उदाहरणों से भिन्न स्थलों पर भी विद्यमान] होने से ध्वनि अलङ्कार आदि में अन्तर्भूत नहीं होती है।

[लोचनम्]

इतश्चेति। न केवलमन्योन्यविरुद्धवाच्यवाचकभावव्यङ्ग्यव्यञ्जकभावसमाश्रयत्वान्न तादात्म्यमलङ्काराणां ध्वनेश्च यावत्स्वामिभृत्यवदङ्गिरूपाङ्गरूपयोर्विरोधादित्यर्थः। अवयव इति। एकैक इत्यर्थः। तदाह—पृथग्भूत इति। अथ पृथग्भूतस्तथा मा भूत्। समुदायमध्यनिपतितस्तर्ह्यस्तु तथेत्याशङ्क्याह—, अपृथग्भावे त्विति। तदापि न स एक एव समुदायः, अन्येषामपि समुदायिनां तत्र भावात्; तत्समुदायिमध्ये च प्रतीयमानमप्यस्ति। न च तदलङ्काररूपं, प्रधानत्वादेव। तत्वलङ्काररूपं तदप्रधानत्वान्न ध्वनिः। तदाह—न तु तत्त्व-

मेवेति। नन्वलङ्कार एव कश्चित्त्वया प्रधानताभिषेकं दत्वा ध्वनिरित्यात्मेति चोक्त इत्याशङ्क्याह—यत्रापि वेति। न हि समासोक्त्यादीनामन्यतम एवासौ तथास्माभिः कृतः, तद्विविक्तत्वेऽपि तस्य भावात्। समासोक्त्याद्यलङ्कार-स्वरूपस्य समस्तस्याभावेऽपि तस्य दर्शितत्वात् 'अत्ता एत्थ' इति 'कस्स वाण' इत्यादि; तदाह—न तन्निष्ठत्वमेवेति।

और इस कारण भी। अर्थात् न केवल अलङ्कारों का तथा ध्वनि का परस्पर विरुद्ध वाच्यवाचकभाव और व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव का आश्रय लेने के कारण तादात्म्य [एकरूपता] नहीं, अपितु स्वामी और भृत्य की भाँति अङ्गीरूप और अङ्गरूप के विरोध के कारण भी [तादात्म्य] नहीं है। अवयव—। अर्थात् प्रत्येक। वही कहते हैं—पृथग्भूत—। अगर उस प्रकार पृथग्भूत मत हो समुदाय बीच रहे, इस प्रकार की शङ्का करके कहते हैं—पृथग्भाव न होने पर—। फिर भी वह एक ही समुदाय नहीं है, क्योंकि अन्य समुदायों की भी वहाँ पर सत्ता हो सकती है। अन्य समुदायों के मध्य में प्रतीयमान भी है; न कि वह अलङ्काररूप है क्योंकि वह प्रधान है। जो कि अलङ्काररूप है वह अप्रधान होने के कारण ध्वनि नहीं है। अतएव कहा—न कि अङ्गी ही होना—। किसी अलङ्कार को ही तुमने प्रधान होने का अभिषेक देकर 'ध्वनि' और 'आत्मा' कहा है, ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—जहाँ कहीं भी—। न कि यह ध्वनि समासोक्ति आदि अलङ्कार में कोई अन्यतम है जिसे उस प्रकार हमने किया है क्योंकि समासोक्ति आदि के अभाव में भी उस [ध्वनि] का अस्तित्व है। समासोक्ति आदि अलंकार के स्वरूप के समानस्वरूपवाले अलंकार के अभाव में भी उसे [ध्वनि को] दिखलाया जा चुका है। [जैसे] 'अत्ता एत्थ' इत्यादि तथा 'कस्स वाण' इत्यादि। अतएव कहा है—उसमें अन्तर्भाव नहीं है।

(आशुबोधिनी)

यह पहले कहा जा चुका है कि अलंकार वाच्यवाचकभाव का आश्रय लेकर प्रवृत्त होते हैं और ध्वनि व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव का आश्रय लेकर प्रवृत्त हुआ करती हैं। यही एक दूसरे का विरोध है। ऐसी स्थिति में, अलंकार तथा ध्वनि का तादात्म्य [एकरूपता] होना संभव नहीं है। केवल इसी कारण दोनों का तादात्म्य नहीं है, अपितु इसके अतिरिक्त अन्य भी कारण हैं। 'ध्वनि' तथा

अलंकारों का स्वामी और भृत्य की भाँति भी विरोध है । अर्थात् ध्वनि अङ्गीरूप है और अलंकार अंगरूप । जिस भाँति स्वामी का समावेश भृत्यवर्ग में होना संभव नहीं है तथा जिस भाँति अंगी का समावेश अंग में होना संभव नहीं है, उसी भाँति ध्वनि का भी अन्तर्भाव अलंकारों में होना संभव नहीं है । इस भाँति दोनों का तादात्म्य सामान्य नियम के विरुद्ध है । 'ध्वनि' तो काव्यविशेष होने के कारण अंगी है तथा अलंकार, गुण और वृत्तियाँ आदि सब उस [काव्य] के अंग हैं ।

अलंकार आदि को ध्वनि का अंग अथवा अवयव मान लेने पर यह शंका उत्पन्न होती है कि अवयव के अलावा जब कि कोई अवयवी नहीं प्राप्त हुआ करता है तो ऐसी स्थिति में यह क्यों न स्वीकार कर लिया जाय कि अवयवरूप अलंकार भी अवयवी ध्वनि है ।

इस शंका का समाधान—पृथक्-पृथक् रूप में विद्यमान अवयव किसी भी प्रकार अवयवी नहीं बन सकता । कहने का अभिप्राय यह है कि एक-एक अंग अथवा अवयव को लेकर उसे अवयवी की संज्ञा नहीं दी जा सकती है ।

इस पर पुनः यह शंका उत्पन्न होती है कि तो फिर समुदाय के बीच में आये हुए अवयव को ही क्यों न अवयवी मान लिया जाय ? इसके उत्तर में लोचनकार का यह कहना है कि समुदाय किसी एक प्रकार को नहीं कहा करते हैं । अवयवों के समुदाय का ही नाम है अवयवी । ऐसी स्थिति में एक अवयव का पूरे अवयवी के साथ तादात्म्य हो ही नहीं सकता । एक बात यह भी है उस समुदाय में प्रतीयमान अर्थ भी एक अवयव होगा जो कि प्रधानरूप में अवस्थित होने के कारण अलंकाररूपता को कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता है । किन्तु यदि 'प्रतीयमान अर्थ' अप्रधान होगा तो उसे किसी भी दशा में 'ध्वनि' नहीं कहा जा सकेगा । अतएव यह कहा जा सकना संभव ही नहीं है कि अंगरूप में विद्यमान अलकार ही अंगी ध्वनि का रूप धारण कर लिया करता है ।

इस पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि तुमने किसी अलंकार को ही प्रधानता देकर 'ध्वनि' यह नाम रख लिया है तथा उसी को काव्य की आत्मा मान लिया है । इसके उत्तर में यह कहना है कि कभी ऐसा भी हो जाता है कि अलंकार भी ध्वनि का रूप धारण कर ले । उस स्थिति में उसे 'अलंकारध्वनि' नाम से कहा

जाया करता है जो कि ध्वनिकाव्य का ही एक प्रकार है। किन्तु यह कहना उचित नहीं कि अलंकारों में ही हमने किसी एक को 'ध्वनि' नाम से कह दिया है; क्योंकि 'ध्वनि' वहाँ पर भी हुआ करती है कि जहाँ 'अलंकारध्वनि' नहीं हुआ करती है। इस बारे में पहले भी कहा जा चुका है। जैसे 'अत्ता एत्थ' और 'कस्स वाण' इन उदाहरणों में अलंकाररहित 'ध्वनि' दिखलाई जा चुकी है। इसलिये कहा भी गया है कि ध्वनि अलंकारनिष्ठ नहीं हुआ करती है।

ध्वन्यालोकः

'सूरिभिः कथितः' इति विद्वदुपज्ञेयमुक्तिः न यथाकथञ्चित्प्रवृत्तेति प्रतिपाद्यते। प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः। सूरिभिः काव्यतत्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद्ध्वनिरित्युक्तः।

सूरियों [विद्वानों] ने कहा है। अर्थात् यह कथन विद्वानों के मतानुसार [विद्वदुपज्ञा] है; न कि जिस किसी प्रकार चल पड़ी है [अर्थात् किसी प्रकार मानमाने ढंग से प्रचलित नहीं हो गयी।] इसका प्रतिपादन कर रहे हैं। प्रमुख विद्वान् वैयाकरण हैं क्योंकि सभी विद्याओं का मूल व्याकरण ही है। वे [वैयाकरण विद्वान्] सुनाई पड़ने वाले वर्णों के भाग को 'ध्वनि' कहते हैं। उसी भाँति उनके मत का अनुसरण करने वाले दूसरे काव्यतत्त्व के द्रष्टा सूरियों अथवा विद्वान वाच्य [अर्थ], वाचक [शब्द], सम्मिश्र [अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ], शब्दरूप [व्यञ्जनाव्यापार] तथा काव्य कहे जाने वाले को [अर्थात् काव्य को] व्यञ्जकत्व की समानता के कारण 'ध्वनि' कहा है।

[लोचनम्]

विद्वदुपज्ञेति। विद्वद्भ्यः उपज्ञा प्रथम उपक्रमो यस्या उक्तेरिति बहुव्रीहिः तेन 'उपज्ञोपक्रम' इति तत्पुरुषाश्रयं नपुंसकत्वं निरवकाशम्।

विद्वदुपज्ञ—। विद्वानों से उपज्ञा अर्थात् सबसे पहले उपक्रम [प्रारम्भ] है जिस उक्ति का, यह बहुव्रीहि है। अतएव 'उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्' [अष्टा० २।४।२१] सूत्र के अनुसार तत्पुरुष में होने वाले नपुंसकत्व का कोई अवसर नहीं है।

(आशुबोधिनी)

यह पहले कहा जा चुका है कि 'ध्वनि' काव्य की आत्मा है। इस विषय में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या यह सिद्धान्त मनमाने ढंग से कल्पित कर लिया गया है अथवा इसके लिए कोई शास्त्रीय प्रमाण भी है ? इसके उत्तर में आचार्य आनन्दवर्धन ने लिखा है :—'सूरिभिः कथितः [कारिका सं. १३ में]। ध्वन्यालोककार ने लिखा है कि यह कथन 'विद्वदुपज्ञा' है। 'उपज्ञा' शब्द का अर्थ है पहला ज्ञान। 'विद्वदुपज्ञा' में दो समास हो सकते हैं—(१) तत्पुरुष और (२) बहुव्रीहि। तत्पुरुष समास—विदुषां उपज्ञा इति। इसका अर्थ होगा विद्वानों का प्रथम ज्ञान अथवा उपक्रम। किन्तु तत्पुरुष समास होने पर 'उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्' अष्टा० २।४।२१।। से उपज्ञा में नपुंसकलिङ्ग होकर 'विद्वदुपज्ञं' रूप बनेगा, 'विद्वदुपज्ञा' नहीं। अतएव तत्पुरुष समास का होना उचित नहीं है। ऐसी स्थिति में यहाँ बहुव्रीहि [विद्वद्भ्य उपज्ञा प्रथम उपक्रमो ज्ञानं वा यस्याः उक्तेः सा] समास ही मानना उचित होगा। अब अर्थ होगा—'विद्वानों से प्रथम उपक्रम [ज्ञान] हुआ है जिसका' इससे यह 'उक्ति' का विशेषण बन जायगा तथा स्त्रीलिङ्ग होना भी संगत हो जायेगा।

[लोचनम्]

श्रूयमाणेष्विति। श्रोत्रशष्कुलीसन्तानेनागता अन्त्याः श्रूयन्त इति प्रक्रियायां शब्दजाः शब्दाः श्रूयमाणा इत्युक्तम्। तेषां घण्टानुरणनरूपत्वं तावदस्ति; ते च ध्वनिशब्देनोक्ताः। यथाह भगवान् भर्तृहरिः—

यः संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजन्यते।
स स्फोटः शब्दजाश्शब्दा ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः ।। इति ।।

एवं घण्टादिनिर्ह्रादस्थानीयोऽनुरणनात्मोपलक्षितो व्यङ्ग्योऽप्यर्थो ध्वनिरिति व्यवहृतः। तथा श्रूयमाणा ये वर्णा नादशब्दवाच्या अन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यस्फोटाभिव्यञ्जकास्ते ध्वनिशब्देनोक्ताः। यथाह भगवान् स एव—

प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा।
ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ।। इति ।।

तेन व्यञ्जकौ शब्दार्थावपीह ध्वनिशब्देनोक्तौ। किञ्च वर्णेषु तावन्मात्रपरिमाणेष्वपि सत्सु। यथोक्तम्—

अल्पीयसापि यत्नेन शब्दमुच्चारितं मतिः
यदि वा नैव गृह्णाति वर्णं वा सकलं स्फुटम् ॥ इति ।

तेन तावत्स्वेव श्रूयमाणेषु वक्तुर्योऽन्यो द्रुतविलम्बादिवृत्तिभेदात्मा प्रसिद्धादुच्चारणव्यापारादभ्यधिकः स ध्वनिरुक्तः । यदाह स एवाह—

शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्ते वृंत्तिभेदे तु वैकृताः ।
ध्वनयः समुपोह्यन्ते, स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते ॥ इति ।

श्रूयमाण—। शष्कुलीसदृश श्रोत्रदेश के प्रकाश में सन्तानक्रम [परम्पराप्रवाह] से [वीचीतरङ्ग की भाँति] आए हुए अन्त वाले शब्द सुने जाया करते हैं इस प्रक्रिया में शब्द से उत्पन्न शब्द 'श्रूयमाण' होते हैं, ऐसा कहा जा चुका है। उन [श्रूयमाण अन्तिम शब्दज शब्दों] का घण्टानुरणन का साम्य है। वे 'ध्वनि' शब्द के द्वारा कहे गये हैं। जैसा कि भगवान् भर्तृहरि ने कहा है :—

"करणों अर्थात् जिह्वा आदि स्थानों के साथ संयोग और वियोग के कारण जो उत्पन्न हुआ करता है वह 'स्फोट' कहलाता है। श्रूयमाण शब्दों से उत्पन्न शब्दों को अन्य लोगों द्वारा 'ध्वनि' कहा गया है।

इस भाँति घण्टा इत्यादि की आवाज़ के सदृश अनुरणनरूपोपलक्षित व्यङ्ग्यार्थ भी 'ध्वनि' के नाम से व्यवहृत किया जाता है तथा श्रूयमाण जो 'नाद' शब्दवाच्य एवं अन्तिम बुद्धि से पूर्णरूपेण ग्रहण किये जाने योग्य स्फोट को अभिव्यक्त करने वाले जो वर्ण हैं वे 'ध्वनि' शब्द के द्वारा कहे गये हैं। जैसा कि उन्हीं भगवान् भर्तृहरि ने कहा है :—

'अनिर्वचनीय एवं व्यक्तरूप स्फोट के ग्रहण के अनुकूल प्रत्ययों के द्वारा उस शब्द में कि जो ध्वनियों के द्वारा प्रकाशित हुआ करता है, स्फोट का स्वरूप ज्ञात होता है।'

इसके द्वारा व्यञ्जक शब्द और अर्थ को भी 'ध्वनि' शब्द द्वारा कहा गया है। और भी, जिस रूप से कर्णेन्द्रिय द्वारा गृहीत होते हैं, उस परिणाम के वर्णों में भी ['ध्वनि' शब्द द्वारा व्यवहार होता है।] जैसा कि कहा गया है—

'थोड़े से प्रयत्न द्वारा उच्चरित शब्द को बुद्धि या तो ग्रहण ही नहीं किया करती है अथवा सम्पूर्ण वर्ण को स्पष्टरूप से ग्रहण किया करती है।'

उतने ही अंश में सुने जाने वाले वर्णों में वक्ता का जो अन्य द्रुत, विलम्बित

वृत्तिभेद रूप प्रसिद्ध उच्चारण-व्यापार से अधिक है, उसे 'ध्वनि' कहा गया है। जैसा कि उन्होंने ही कहा है :--

'[स्फोटरूप] शब्द की अभिव्यक्ति से पहले जो वैकृत शब्द [द्रुत आदि] वृत्तियों के भेद में 'ध्वनि' ज्ञान होते हैं, 'स्फोट उनसे भिन्न नहीं हुआ करता है।'

(आशुबोधिनी)

पहले हमें 'स्फोट' के स्वरूप को समझ लेना चाहिए। 'स्फोटवाद' भारतीय वैयाकरणों की अपनी कल्पना है। अलङ्कारशास्त्र में 'ध्वनि' की कल्पना का आधार वैयाकरणों का स्फोट-सिद्धान्त ही है। जिससे अर्थ का स्पष्टीकरण [स्फुटन] होता है उसे स्फोट कहते हैं [स्फुटत्यस्मादर्थ इति स्फोटः]। इस स्फोट को जान लेने से पूर्व यह आवश्यक है कि हम शब्दश्रवण की प्रक्रिया को समझ लें। शब्द की उत्पत्ति तीन प्रकार से हुआ करती है--(१) संयोग से, (२) वियोग से और (३) शब्द से। इस आधार पर शब्द भी तीन प्रकार के माने गये हैं-(१) संयोगज, (२) वियोगज अथवा विभागज और (३) शब्दज। किसी पदार्थ अथवा वस्तु का किसी अन्य पदार्थ अथवा वस्तु के साथ जोर से संयोग होने पर जो शब्द उत्पन्न होता है वह संयोगज शब्द कहलाता है। कागज के फाड़ने अथवा किसी वस्तु का किसी अन्य वस्तु से पार्थक्य करने में जो शब्द होता है उसे वियोगज अथवा विभागज शब्द कहा जाता है। इसी भाँति जिह्वा आदि के संयोग वियोग द्वारा भी शब्द की उत्पत्ति हुआ करती है। मूलरूप से उत्पन्न शब्द 'स्फोट' कहलाता है। किन्तु जिस शब्द की उत्पत्ति हुआ करती है, श्रोता को वही शब्द सुनाई नहीं पड़ा करता है। वह तो उत्पन्न होकर नष्ट हो जाया करता है। अपने नष्ट होने से पूर्व वह दूसरे शब्द को उत्पन्न कर दिया करता है। इसी भाँति दूसरा तीसरे को, तीसरा चौथे को, चौथा पाँचवे को इत्यादि इत्यादि। इसी का नाम है—'वीचीतरङ्गन्याय।' जैसे सरोवर के स्थिर जल में कोई ढेला डाल देने पर एक गोलाकार छोटा सा घेरा उत्पन्न हो जाया करता है। वह क्रमशः दूसरी-दूसरी तरङ्गों को उत्पन्न करते हुए सम्पूर्ण सरोवर में व्याप्त हो जाया करता है। इसी भाँति एक शब्द से दूसरे-दूसरे शब्द उत्पन्न होते चले जाया करते हैं और अन्तिम शब्द ही श्रवणगोचर हुआ करता है। इसी का नाम है शब्दज शब्द।

जिस भाँति घण्टे के नाद में अनुरणनरूपता हुआ करती है तथा उस अनुरणन को 'ध्वनि' नाम से अभिहित किया जाया करता है उसी भाँति शब्द और अर्थ से अनुरणनरूप में उपलक्षित होने वाला व्यङ्ग्यार्थ भी 'ध्वनि' नाम से अभिहित किया जाया करता है। इस उपर्युक्त विवरण को ही संक्षेप में भर्तृहरि द्वारा 'यः 'संयोगवियोगाभ्यां' इत्यादि कारिका द्वारा प्रकट किया गया है।

घण्टा के एक बार बज जाने के पश्चात् उसमें जिस प्रकार ध्वनिरूप अनुरणन हुआ करता है उसी भाँति अनुरणनरूप द्वारा उपलक्षित 'व्यङ्ग्यार्थ' को भी अलंकारशास्त्र में 'ध्वनि' नाम से कहा गया है। इस भाँति वैयाकरणों की 'ध्वनि' को अनुरणनरूपता के आधार पर अलङ्कारशास्त्रियों ने अपने अनुरूप बना लिया।

केवल व्यङ्ग्य अर्थ ही ध्वनि नहीं है, अपितु व्यञ्जक को भी 'ध्वनि' कहा गया है। इस भाँति व्यञ्जक होने की दृष्टि से वाचक शब्द और वाच्य अर्थ भी 'ध्वनि' शब्दवाच्य हुआ करते हैं। इस बात को सिद्ध करने के लिए वैयाकरणों के 'नाद' को लिया गया है। श्रूयमाण वर्णों का ही नाम है 'नाद'। जिस क्रम से वर्ण सुने जाया करते हैं, उसी क्रम से स्फोट रूप नित्य शब्द की भी अभिव्यक्ति हुआ करती है। जैसे—किसी ने 'घट' शब्द को सुना। तो यहाँ यह क्रम रहा—घ्+अ+ट्+अ। पूर्व पूर्व वर्ण उत्पन्न होकर अपना संस्कार उत्पन्न करके अगले वर्ण के उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाया करते हैं। नैयायिक इसे वर्णों का नाश स्वीकार करते हैं किन्तु वैयाकरण इसे 'तिरोभाव' नाम से कहते हैं। इस भाँति 'स्फोट' को पूर्व पूर्व वर्णों के संस्कार के सहयोग से अन्तिम वर्ण के श्रवण करने के पश्चात् बुद्धि द्वारा ग्रहण किया जाता है। इस भाँति स्फोट रूप नित्य शब्द के ये वर्ण अभिव्यञ्जक होने के कारण 'ध्वनि' कहे जाते है। इसी बात को भर्तृहरि ने 'प्रत्ययैरनुपाख्येयैः' इत्यादि द्वारा स्पष्ट किया है।

अभिप्राय यह है कि जो शब्द सुने जाने वाले वर्ण रूप ध्वनियों से ग्रहण के योग्य, अनिवर्चनीय प्रत्ययों द्वारा प्रकाशित हुआ करता है, उसी से 'स्फोट' के स्वरूप का अवधारण किया जाया करता है। इस भाँति वैयाकरणों द्वारा व्यञ्जक को ध्वनि मान लिये जाने पर आलङ्कारिकों ने भी उसी की समानता के आधार पर व्यञ्जक शब्द और अर्थ को ध्वनि नाम से कहा। अब यहाँ तक व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जक शब्द और व्यञ्जक अर्थ को 'ध्वनि' कहे जाने की चर्चा हुई।

अब व्यञ्जकत्वरूप व्यापार को किस आधार पर 'ध्वनि' कहा गया है? इसे

स्पष्ट करते हैं। वैयाकरणों के अनुसार हम जिन वर्णों का उच्चारण किया करते हैं वे कभी धीरे-धीरे और कभी शीघ्रता के साथ उच्चरित हुआ करते हैं। इस भाँति वर्णों के उच्चारण में अन्तर पड़ जाया करता है। किन्तु शब्दों में अन्तर हो जाने पर भी अर्थ में कोई अन्तर नहीं हुआ करता है। वैयाकरणों द्वारा शब्दों के दो रूप माने गये हैं–(१) प्राकृत (२) वैकृत। हम जो उच्चारण करते हैं वे वैकृत शब्द हैं। और उन वैकृत शब्दों के उच्चारण के पश्चात् उत्पन्न होने वाला नित्य स्फोटरूप शब्द ही प्राकृत शब्द है। द्रुत, विलम्बित आदि वृत्तियाँ अथवा स्वरभेद वैकृत शब्दों में हुआ करते हैं। इस भाँति वक्ता को सुनने वाले वर्णों के उच्चारण रूप प्रसिद्ध व्यापार के आलावा द्रुत, विलम्बित आदि वृत्तिभेद रूप व्यापार अधिक करना होता है। वैयाकरणों ने इस अतिरिक्त व्यापार को भी 'ध्वनि' शब्द द्वारा अभिहित किया है। इसी को आधार मानकर आलङ्कारिकों ने भी प्रसिद्ध अभिधा तात्पर्य और लक्षणा रूप शब्दवृत्तियों के अतिरिक्त व्यञ्जकत्व नामक वृत्ति अथवा व्यापार को भी 'ध्वनि' कहा है। इस भाँति वैयाकरणों ने व्यङ्ग्य-अर्थ, व्यञ्जक-शब्द, व्यञ्जक-अर्थ तथा व्यञ्जकत्व व्यापार इन चारों को ध्वनि माना है। अतएव इसी आधार पर आलङ्कारिकों ने भी इन चारों [व्यङ्ग्य, वाच्य, वाचक और व्यापार] के समुदायरूप काव्य को भी 'ध्वनि-काव्य' नाम से कहा है।

[लोचनम्]

अस्माभिरपि प्रसिद्धेभ्यः शब्दव्यापारेभ्योऽभिधातात्पर्यलक्षणारूपेभ्योऽतिरिक्तो व्यापारो ध्वनिरित्युक्तः। एवं चतुष्कमपि ध्वनिः तद्योगाच्च समस्तमपि काव्यं ध्वनिः। तेन व्यतिरेकाव्यतिरेकव्यपदेशोऽपि न युक्तः। वाच्यवाचकसंमिश्र इति। वाच्यवाचकसहितः सम्मिश्र इति मध्यमपदलोपी समासः। 'गामश्वं पुरुषं पशुम्' इति वत्समुच्चयोऽत्र चकारेण विनापि। तेन वाच्योऽपि ध्वनिः वाचकोऽपि शब्दो ध्वनिः, द्वयोरपि व्यञ्जकत्वं ध्वनतीति कृत्वा। संमिश्र्यते विभावानुभावसंवलनयेति व्यङ्ग्योऽपि ध्वनिः, ध्वन्यते इति कृत्वा। शब्दनं शब्दः शब्दव्यापारः, न चासावभिधादिरूपः, अपि त्वात्मभूतः, सोऽपि ध्वननं ध्वनिः। काव्यमिति व्यपदेश्यश्च योऽर्थः सोऽपि ध्वनिः। उक्तप्रकारध्वनिचतुष्टयमयत्वात्। अतएव साधारणहेतुमाह—व्यञ्जकत्वसाम्याविति। व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः सर्वेषु पक्षेषु सामान्यरूपः साधारण इत्यर्थः।

हमारे द्वारा भी अभिधा, तात्पर्य एवं लक्षणारूप प्रसिद्ध शब्दव्यापारों से अतिरिक्त व्यापार को 'ध्वनि' कहा गया है। इस भाँति [ध्वन्यादि] चारों ही ध्वनि हैं। उनके योग से सम्पूर्ण काव्य भी 'ध्वनिकाव्य' कहा जाता है। इस कारण भेदव्यवदेश और अभेदव्यपदेश भी अयुक्त नहीं है। वाच्यवाचकसम्मिश्र–। 'वाच्यवाचकसहितसम्मिश्र' यह मध्यमपदलोपी समास है। गो, अश्व, पुरुष, पशु की भांति यहां चकार 'च' [अर्थात् और] का प्रयोग न होने पर भी समुच्चय [सङ्कलन] है। अतएव वाच्य अर्थ भी ध्वनि है और वाचक शब्द भी ध्वनि है, दोनों की व्यञ्जकता ध्वनन करता है' इस व्युत्पत्ति के अनुसार है। शब्द करना 'शब्द' कहलाता है अर्थात् शब्द का व्यापार। वह अभिधादि रूप नहीं होता है अपितु आत्मभूत होता है। वह भी 'ध्वननं' [व्युत्पत्ति के अनुसार] ध्वनि है। और 'काव्य' शब्द से व्यपदेश्य जो अर्थ है वह भी ध्वनि है क्योंकि वह कथित प्रकार चार प्रकार की ध्वनियों से युक्त है। अतएव साधारण हेतु बतलाते हैं— व्यञ्जकत्व की समानता के कारण—। अर्थात् व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव सभी पक्षों में सामान्यरूप से साधारण होता है, यह अर्थ है।

(आशुबोधिनी)

इस प्रकार अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा इन तीनों शब्दव्यापारों से अतिरिक्त व्यापार को 'ध्वनि' नाम से कहा गया है। अतएव व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जक अर्थ तथा व्यंजना व्यापार इन चारों को ध्वनि कहते हैं। इन सभी के संयोग से सम्पूर्ण काव्य को भी ध्वनि कहा जाता है। 'ध्वनि' शब्द के विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होने के कारण भेद और अभेद दोनों का व्यपदेश करना उचित नहीं है, ऐसी बात नहीं है। अर्थात् भेद, अभेद दोनों का व्यपदेश उचित नहीं है। 'काव्यस्य आत्मा ध्वनिः' भेद का व्यपदेश है क्योंकि काव्य शब्द में तो षष्ठी विभक्ति है और 'ध्वनि' में प्रथमा विभक्ति है। यहाँ पर व्यङ्ग्य, व्यञ्जक आदि 'ध्वनि' के अर्थ हैं। इस कारण यहाँ भेदव्यपदेश किया गया है। 'स ध्वनिः' में दोनों ही शब्दों में प्रथमा विभक्ति है। अतएव यहाँ पर अभेदव्यपदेश है।

ध्वन्यालोक के अध्येता को उपर्युक्त भेद और अभेद के व्यपदेश को देखकर भ्रम हो जाता है। कभी तो 'ध्वनि काव्य की आत्मा है' और कहीं [ध्वनि] स्वयं काव्य ही है। लोचनकार की दृष्टि में उपर्युक्त 'ध्वनि के पाँच प्रकारों' को देखते हुए, यह भेद और अभेद उचित है। जहाँ पर ध्वनि को काव्य का आत्मा

कहा गया है वहाँ यह समझना चाहिए कि 'ध्वनि' से व्यङ्ग्य—अर्थ ही अभिप्रेत है। और जहाँ स्वयं ध्वनि को काव्य कहा गया है वहाँ यह समझना उचित है कि यहाँ वाच्य, वाचक, व्यंजना तथा व्यङ्ग्य का समुच्चय रूप काव्य ही ध्वनि से अभिप्रेत है।

वृत्तिकार ने ऊपर निर्दिष्ट पाँच प्रकार की ध्वनि को संक्षेप में 'वाच्यवाचक-संमिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यः' इन शब्दों के द्वारा कहा है। लोचनकार ने विभिन्न प्रकार की ध्वनि की व्युत्पत्तियों के द्वारा उपर्युक्त पंक्ति को इस प्रकार स्पष्ट किया है। 'ध्वनतीति ध्वनिः' के द्वारा वाच्य अर्थ और वाचक शब्द—दोनों का ग्रहण किया है। 'ध्वन्यते इति ध्वनिः' के द्वारा व्यङ्ग्य अर्थ गृहीत होता है तथा 'ध्वननं ध्वनिः' से व्यंजनारूप शब्द का व्यापार गृहीत है जिसको वृत्तिकार द्वारा 'शब्दात्मा' कहा गया है। उपर्युक्त पंक्ति में 'प्रयुक्त' वाच्यवाचकसंमिश्रः' में उन्होंने मध्यमपदलोपी समास माना है। ऐसा मानने पर अर्थ होता है—वाच्य-वाचक से युक्त संमिश्र। यहाँ 'संमिश्र' का अर्थ है जो विभाव, अनुभाव के सम्मिलन द्वारा जाना जाय ऐसा 'व्यङ्ग्यार्थ।' 'वाच्यवाचकसंमिश्र' में च का प्रयोग नहीं किया गया है फिर भी समुच्चय तो हो ही जाता है। जैसे मैं गाय, घोड़ा, पुरुष, पशु को जानता हूँ। यद्यपि इस वाक्य में 'और' का प्रयोग नहीं किया गया है फिर भी सभी का समुच्चय हो जाता है, इसी भाँति उपर्युक्त समास में भी 'च' का प्रयोग न होने पर भी समुच्चय हो ही गया है। 'शब्दात्मा' में 'शब्द' का अर्थ है 'शब्दन' अर्थात् शब्द-व्यापार। अब 'शब्दात्मा' का अर्थ हुआ— ऐसा शब्दव्यापार जो आत्मा के रूप में स्थित हो। ऐसा शब्द-व्यापार 'अभिधा' होना संभव नहीं है। हाँ, व्यञ्जना अवश्य हो सकता है क्योंकि वही काव्य की आत्मा है। 'काव्य' को ध्वनि इसलिए कहा गया है कि उसमें कोई ऐसा तत्त्व नहीं है कि जो उक्त चारों प्रकारों से पृथक् हो। वैयाकरण ध्वनि के द्वारा ही शब्द की व्यञ्जना मानते हैं तथा साहित्यिकों की ध्वनि का मूलाधार भी व्यञ्जना ही है। अतएव वैयाकरणों के अनुसार ही साहित्य में भी 'ध्वनि' का प्रयोग होने लगा। अतएव 'सूरिभिः कथितः' यह कथन पूर्णतया सही ही है।

ध्वन्यालोकः

न चैवंविधस्य ध्वनेर्वक्ष्यमाणप्रभेदतद्भेदसङ्कलनया महाविषयस्य

यत्प्रकाशनं तदप्रसिद्धालङ्कारविशेषमात्रप्रतिपादनेन तुल्यमिति तद्भावितचेतसां युक्त एव संरम्भः। न च तेषु कथञ्चिदीर्ष्यया कलुषितशेमुषीकत्वमाविष्करणीयम्। तदेवं ध्वनेस्तावदभाववादिनः प्रत्युक्ताः।

ध्वनि के अभाववाद के खण्डन का उपसंहार—

इस भाँति के और आगे कहे जाने वाले भेद-प्रभेद के सङ्कलन से व्यापक [महाविषय] ध्वनि का जो प्रतिपादन है मात्र अप्रसिद्ध अलङ्कारविशेषों के प्रतिपादन के सदृश [नगण्य] नहीं है। अतएव उसका समर्थन करने वालो का उत्साहातिरेक उचित ही है। उनके प्रति किसी भाँति की ईर्ष्या से कलुषित वृत्ति प्रकट नहीं की जानी चाहिए। इस भाँति ध्वनि के अभाववादियों का निराकरण हो गया।

[लोचनम्]

यत्पुनरेतदुक्तं 'वाग्विकल्पानामानन्त्यादिति' तत्परिहरति—न चैवंविधस्येति। वक्ष्यमाणः प्रभेदो यथा—मुख्ये द्वे रूपे। तद्भेदा यथा—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यः, अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य इत्यविवक्षितवाच्यस्येति। तत्राप्यवान्तरभेदाः। महाविषयस्येति अशेषलक्ष्यव्यापिन इत्यर्थः। विशेषग्रहणेनाव्यापकत्वमाह। मात्रशब्देनाङ्गित्वाभावम्। तत्र ध्वनिस्वरूपे भावितं प्रणिहितं चेतो येषां तेन वा चमत्काररूपेण भावितमधिवासितमत एव मुकुलितलोचनत्वादिविकारकरणं चेतो येषामिति। अभाववादिन इति। अवान्तरप्रकारत्रयभिन्ना अपीत्यर्थः।

और जो यह कहा है—'वाणी के विकल्पों [भेदों] के अनन्त होने के कारण' इत्यादि, उसका परिहार करते हैं—इस प्रकार के—। वक्ष्यमाण प्रभेद, जैसे—मुख्य दो रूप। उनके भेद जैसे—'अविवक्षितवाच्य' के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। 'विवक्षितान्यपरवाच्य' के असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य। उनके भी अवान्तर भेद। महाविषय—। अर्थात् पूरे लक्ष्यों में व्याप्त रहनेवाला। 'विशेष' इस कथन से [उसकी] अव्यापकता बतलाई है। 'मात्र' शब्द द्वारा अङ्गित्व का अभाव बतलाया है। ध्वनि के स्वरूप में भावित अर्थात् प्रणिहित चित्त है जिनका अथवा उस चमत्काररूप से भावित अर्थात् अधिवासित चित्त है जिनका, अतएव मुकुलित नेत्र होना इत्यादि विकारों

का कारण चित्त है जिनका। अभाववादी—। अर्थात् अवान्तर तीनों प्रकारों से भिन्न भी।

(आशुबोधिनी)

अभाववाद सम्बन्धी एक पक्ष में यह भी कहा गया था कि 'वर्णों के विकल्प अनन्त हैं अतः ध्वनि भी उन्हीं में से साधारण अलङ्कार कहा जा सकता है।' इसी के उत्तर में यह कहा जा रहा है कि ध्वनि का विषय महान् है। अपने भेदों तथा उपभेदों के कारण इसकी महानता स्वयंसिद्ध है। इसका विवरण द्वितीय उद्योत में किया जायगा। प्रधानरूप से ध्वनि के दो प्रकार हैं—(१) अविवक्षितवाच्यध्वनि, (२) विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि। इनमें से प्रथम दो प्रकार का है—(१) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि और (२) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि। विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के भी दो प्रकार हैं (१) असंल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (२) संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य। इनके भी अनेक अवान्तर भेद हुआ करते हैं। इस भाँति ध्वनि का विषय महान् है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'काव्य शब्द द्वारा जो कुछ भी कहा जाया करता है उन सभी में ध्वनि व्यापकरूप से विद्यमान रहा करती है। मात्र कुछ विशिष्ट प्रकार के अलङ्कारों में उस ध्वनि का अन्तर्भाव किया जाना किसी भी दशा में संभव नहीं है। यहाँ 'विशेष' शब्द का अर्थ है कि अलङ्कारों में व्यापकता नहीं हुआ करती है तथा ध्वनि की काव्य में व्यापकता हुआ करती है। यही ध्वनि का वैशिष्ट्य है। 'केवल' शब्द से अभिप्राय है कि अलङ्कार केवल अलङ्कृत करनेवाले ही हो सकते हैं। वे अङ्गी [प्रधान] कभी नहीं हो सकते। 'तद्भावितचेतसाम्' का अर्थ है—'तेन ध्वनिना भावितानि अधिवासितानि चेतांसि येषां तेषाम्।' अर्थात् जिन लोगों ने ध्वनि के स्वरूप में अपना चित्त [मन] लगा दिया है अथवा ध्वनि सम्बन्धी चमत्कार को जानते हुए जिन्होंने अपने चित्त को उसी में अधिवासित कर लिया है अतएव उनके प्रति अपनी बुद्धि को ईर्ष्या से युक्त नहीं बनाना चाहिए। इस भाँति तीनों प्रकार के अभाववादियों के पक्षों की युक्तियों का निराकरण कर दिया गया।

ध्वनि के अस्तित्व को सिद्ध कर देने के पश्चात् अब उसके दो प्रमुख भेदों को प्रदर्शित करते हैं—

ध्वन्यालोकः

अस्ति ध्वनिः। स चासावविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्विविधः सामान्येन।

[अतएव] ध्वनि है। वह सामान्यरूप से अविवक्षितवाच्य [लक्षणामूल] और विवक्षितान्यपरवाच्य [अभिधामूल] भेद से दो प्रकार की होती है।

[लोचनम्]

तेषां प्रत्युक्तौ फलमाह—अस्तीति। उदाहरणपृष्ठे भाक्तत्वं सुशङ्कं सुपरिहरं च भवतीत्यभिप्रायेणोदाहरणदानावकाशार्थं भाक्तत्वालक्षणीयत्वे प्रथमं परिहरणयोग्ये अप्यप्रतिसमाधाय भविष्यदुद्योतानुवादानुसारेण वृत्तिकृदेव प्रभेदनिरूपणं करोति—स चेति। पञ्चधापि ध्वनिशब्दार्थे येन यत्र यतो यस्य यस्मै इति बहुव्रीह्यर्थाश्रयेण यथोचितं समानाधिकरण्यं सुयोज्यम्। वाच्येऽर्थे तु ध्वनौ वाच्यशब्देन स्वात्मा तेनाविवक्षितोऽप्रधानीकृतः स्वात्मा येनेत्यविवक्षितवाच्यो व्यञ्जकोऽर्थः। एवं विवक्षितान्यपरवाच्येऽपि। यदि वा कर्मधारयेणार्थपक्षे अविवक्षितश्चासौ वाच्यश्चेति। विवक्षितान्यपरश्चासौ वाच्यश्चेति। तत्रार्थः कदाचिदनुपपद्यमानत्वादिना निमित्तेनाविवक्षितो भवति। कदाचिदुपपद्यमान इति कृत्वा विवक्षित एव, व्यङ्ग्यपर्यन्तां तु प्रतीतिं स्वसौभाग्यमहिम्ना करोति। अतएवार्थोऽत्र प्राधान्येन व्यञ्जकः, पूर्वत्र शब्दः। ननु च विवक्षा चान्यपरत्वं चेति विरुद्धम्। अन्यपरत्वेनैव विवक्षणात्को विरोधः? सामान्येनेति। वस्त्वलङ्काररसात्मना हि त्रिभेदोऽपि ध्वनिरूभाभ्यामेवाभ्यां सङ्गृहीत इति भावः। ननु तन्नामपृष्ठे एतन्नामनिवेशनस्य किं फलम्? उच्यते—अनेन हि नामद्वयेन ध्वननात्मनि व्यापारे पूर्वप्रसिद्धाभिधातात्पर्यलक्षणात्मकव्यापारत्रितयावगतार्थप्रतीतेः प्रतिपत्तृगतायाः प्रयोक्त्रभिप्रायरूपायाश्च विवक्षायाः सहकारित्वमुक्तमिति ध्वनिस्वरूपमेव नामभ्यामेव प्रोज्जीवितम्।

उन [अभाववादियों] के निराकरण का फल बतलाते हैं—ध्वनि है। उदाहरण देने पर भाक्तत्व की शङ्का तथा [उसका] परिहार भी सरलतापूर्वक हो जायगा। इस अभिप्राय से उदाहरण देने के अवसर के लिए 'भाक्तत्व' तथा 'अलक्षणीयत्व' के पहले परिहार के योग्य होते हुए होने पर भी उनका प्रतिसमाधान न करके आगे के उद्योत में अनुवाद के अनुसार वृत्तिकार ही भेदों का निरू-

पण करते हैं—वह—। 'ध्वनि' शब्द के पाँचों प्रकार के अर्थ में 'जिसके द्वारा', 'जिसमें', 'जिससे', 'जिसको', 'जिसके लिए' इन बहुव्रीहि समास के अर्थ के आधार से जहाँ जो उचित प्रतीत हो, उसके सामानाधिकरण्य की योजना सुविधापूर्वक की जा सकती है। 'वाच्य' अर्थ में जब ध्वनि का प्रयोग किया जायगा तब वाच्य शब्द से स्वात्मा कहा जायगा। इस भाँति अविवक्षित अथवा अप्रधानीकृत है स्वात्मा जिससे इस भाँति अविवक्षितवाच्य व्यञ्जक अर्थ है। इसी भाँति विवक्षितान्यपर-वाच्य में भी। अथवा कर्मधारय के द्वारा अर्थ करने के पक्ष में 'अविवक्षितश्चासौ वाच्यश्च' यह होगा और 'विवक्षितान्यपरश्चासौ वाच्यश्च' होगा। यहाँ अर्थ कभी अनुपपद्यमान होने आदि निमित्त के द्वारा अविवक्षित होता है तो कभी उपपद्यमान होने के कारण विवक्षित ही होता है। किन्तु व्यङ्ग्यपर्यन्त प्रतीति को अपने सौभाग्य की महिमा से उत्पन्न करता है। इस लिए यहाँ पर अर्थ प्रधानरूप से व्यन्जक होता है। और पहले में शब्द [व्यन्जक होता है।]

यहां पर शङ्का होती है कि 'विवक्षा' और 'अन्यपर' ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। इसका उत्तर यह है कि 'अन्यपर' के रूप में विवक्षा करने पर कौन सा विरोध होगा? [वस्तुतः कोई विरोध नहीं]। सामान्यरूप से—। अभिप्राय यह है कि वस्तु, अलङ्कार और रसात्मक ये तीनों प्रकार की ध्वनियां निस्सन्देह इन दोनों ही भेदो के द्वारा संगृहीत हो जाती है।

अब यहाँ प्रश्न यह होता है कि 'ध्वनि' नाम रख लेने के पश्चात् अब उसकी पीठ पर नये नामों का समावेश करने से क्या लाभ? इसके उत्तर में कहते हैं—इन दोनों नामों के द्वारा ध्वननरूप व्यापार में पूर्वप्रसिद्ध अभिधा, तात्पर्य और लक्षणारूप तीनों व्यापारों के द्वारा अवगत अर्थ की प्रतीति का तथा प्रतिपत्ता अथवा ज्ञाता में रहने वाली प्रयोक्ता के अभिप्रायरूप विवक्षा का सहकारी होना बतलाया गया है। इस भांति दोनों नामों के द्वारा ध्वनि का स्वरूप ही प्रत्यु-ज्जीवित कर दिया गया है।

(आशुबोधिनी)

ध्वनि के अभाववादियों का निराकरण कर देने के पश्चात् आचार्य आनन्द-वर्धन ने 'ध्वनि है' यह कहकर ध्वनि के अस्तित्व को सिद्ध कर दिया। अब क्रमा-नुसार भाक्तवादियों तथा अलक्षणीयतावादियों के निराकरण का प्रसङ्ग प्राप्त है।

किन्तु वृत्ति भाग में ध्वनि के दो भेदो की सोदाहरण चर्चा भी कर दी गई है। चाहिए यह था कि पहले उपर्युक्त दोनों वादों का निराकरण करते और तदनन्तर ध्वनि के भेदों का निरूपण करते। लोचनकार ने इस बात का समाधान यह किया है कि भाक्तवाद का आधार 'लक्षणाव्यापार' है तथा ध्वनि के अविवक्षित वाच्यरूप भेद में जब लक्षणा का परिचय प्राप्त हो जायगा तब ध्वनि सम्बन्धी भाक्तत्व की शङ्का भी सरलतापूर्वक सामने आ जायगी और उसका निराकरण भी सरलता से हो जायेगा। दूसरी बात यह है कि आगे द्वितीय उद्योत में कारिका भाग में ध्वनि के इन दो भेदों का प्रतिपादन न करके उनके अवान्तर भेदों का निरूपण प्रारम्भ कर दिया है। ऐसा करने के कारण यह स्पष्ट हो जाता है कि पहले जो ध्वनि के (१) अविवक्षितवाच्य और (२) विवक्षितान्यपरवाच्य—ये दो भेद किये जा चुके हैं अब उनके अवान्तर भेदों का प्रतिपादन करते हैं। इसी दृष्टि से ध्वनि के दोनों भेदों का पहले ही प्रतिपादन कर दिया गया है।

ध्वनि के दो प्रकार होते हैं—(१) अविवक्षितवाच्यध्वनि, (२) विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि। 'अविवक्षितवाच्य' में दो समास हो सकते हैं (१) बहुव्रीहि और (२) कर्मधारय। बहुव्रीहि द्वारा अर्थ करने में—षष्ठीविभक्ति के अर्थ में अविवक्षित है वाच्य जिसका अर्थात् 'वाचक शब्द', तृतीया के अर्थ मे-अविवक्षित कर दिया गया है वाच्यरूप स्वात्मा जिसके द्वारा अर्थात् 'वाच्यार्थ', सप्तमी के अर्थ में—अविवक्षित कर दिया गया है वाच्य जिसमें अर्थात् व्यञ्जनाव्यापार, चतुर्थी के अर्थ में—अविवक्षित कर दिया गया है वाच्य जिसके लिये अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ, पंचमी के अर्थ में—अविवक्षित कर दिया गया है वाच्य जिससे—अर्थात् व्यञ्जना व्यापार के वाच्यसामर्थ्य इत्यादि कारण। इस प्रकार षष्ठी, तृतीया, सप्तमी, चतुर्थी और पंचमी विभक्तियों के अर्थों में बहुव्रीहि समास करके ध्वनि के पाँचों अर्थों में समानाधिकरण्य हो जाता है। 'ध्वनि' का एक अर्थ 'वाच्यार्थ' भी है। अविवक्षितवाच्य' में 'वाच्य' शब्द का प्रयोग है ही। अतएव ध्वनि का अर्थ 'वाच्यार्थ' कर लेने पर 'वाच्य' का अर्थ 'अपनी आत्मा' कर लेना चाहिए। ऐसी स्थिति में अर्थ होगा-'अविवक्षित अर्थात् अप्रधान या गौण कर दिया है अपनी आत्मा को जिसने-अर्थात् व्यञ्जक अर्थ। यहाँ दूसरा समास कर्मधारय भी हो सकता है। तब अर्थ होगा-'जो अविवक्षित होते हुए वाच्य है।

'व्यञ्जना व्यापार' का आश्रय प्राप्त करने पर वाच्यार्थ की दो प्रकार की स्थितियाँ हो जाया करती हैं (१) कहीं पर वाच्यार्थ अनुपपन्न आदि कुछ ऐसे कारण हुआ करते हैं कि जिनसे वाच्य अविवक्षित हो जाया करता है। कहीं पर वाच्यार्थ उपपन्न [संगत] ही होता है, इसलिए उसका कथन वक्ता को अभीष्ट ही हुआ करता है। हाँ, इतना तो अवश्य है कि उस शब्द का प्रयोग नूतन भङ्गिमा के साथ किया जाया करता है अथवा उस शब्द में ही कोई ऐसा वैशिष्ट्य विद्यमान रहा करता है कि जिसके कारण उसका एक नूतन अर्थ ही प्रकट होने लगा करता है। इस भाँति वह शब्द अपने सौभाग्य के माहात्म्य से उस नूतन अर्थ को प्रकट कर दिया करता है। इसलिए वाच्यार्थ से लेकर व्यङ्ग्यार्थ को प्रतीति तक उस शब्द का व्यापार चलता रहा करता है। अविवक्षितवाच्यध्वनि में व्यङ्ग्य की प्रतीति में वाच्यार्थ अविवक्षित हुआ करता है तथा 'विवक्षितान्यपर-वाच्यध्वनि' में अन्य अर्थ [व्यङ्ग्यार्थ] के साथ वाच्यार्थ विवक्षित हुआ करता है। प्रथम प्रकार में अर्थ के अविवक्षित होने से प्रधानरूप से शब्द व्यञ्जक हुआ करता है। द्वितीय प्रकार में अर्थ अन्य अर्थ को प्रकट किया करता है,अतः यहाँ प्रधानरूप से अर्थ 'व्यञ्जक' हुआ करता है।

महिमभट्ट द्वारा यहाँ यह आशङ्का व्यक्त की गई है कि 'वाच्यार्थ का कथन अभीष्ट भी हुआ करता है तथा वाच्यार्थ के अलावा उसका अन्य अर्थ भी निकलता है—ये दोनों बातें एक-दूसरे के विपरीत हैं। इसके उत्तर में कहा गया है कि यदि कोई शब्द अपने अर्थ को एक अन्य विशिष्ट अर्थ के साथ कहता है तो इसमें विरोध की कौन सी बात है?

ध्वन्यालोक की पंक्ति में कहा गया है कि ध्वनि सामान्यरूप से दो प्रकार की होती है। किन्तु ध्वन्यालोककार द्वारा ही इसके तीन प्रकारों [वस्तुध्वनि, अलङ्कारध्वनि और रसध्वनि] का विवेचन किया जा चुका है। यहाँ 'सामान्येन' का अर्थ है सामान्यरूप से। इसका अर्थ यह है कि यद्यपि ध्वनि के तीन भेद किये जा चुके हैं किन्तु फिर भी इन तीनों भेदों का संग्रह उपर्युक्त दो भेदों में कर दिया गया।। अब यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब ध्वनि के उक्त तीनों नाम चल ही रहे थे तो फिर उन्हीं की पीठ पर ये दो नये नाम सन्निविष्ट करने की क्या उपयोगिता है? उत्तर में कहा गया है कि-इन दो नामों के रखने का एक

विशिष्ट प्रयोजन है और वह यह कि 'ध्वनि' का एक अर्थ 'व्यापार' भी है। इस व्यापार में शब्द तथा अर्थ दोनों ही कारण हैं। प्रतिपत्ता अर्थात् ज्ञाता अथवा श्रोता जब किसी शब्द का श्रवण करता है तब उसे अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा नामक पहले से प्रसिद्ध तीनों व्यापारों द्वारा एक अर्थ का ज्ञान प्राप्त होता हैं। दूसरी ओर प्रयोक्ता अथवा वक्ता का अभिप्राय भी किसी विशेष अर्थ से हुआ करता है जिसे प्रयोक्ता की विवक्षा कहा जाता है। तीनों व्यापारों द्वारा ज्ञात तथा श्रोता के अन्तस्तल में विद्यमान अर्थ का और वक्ता के अभीष्ट विवक्षित अर्थ का सहयोग अवश्य हुआ करता है। इसी बात को सिद्ध करने की दृष्टि से इन नवीन नामों का उल्लेख हुआ है। इन्हीं नामों के द्वारा ध्वनि का स्वरूप प्रोज्जीवित हो गया है।

ध्वन्यालोकः

तत्राद्यस्योदाहरणम्—

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥

उनमें प्रथम [अविवक्षितवाच्य] भेद का उदाहरण—

तीन प्रकार के पुरुष सुवर्णपुष्पा पृथ्वी का चयन किया करते हैं—(१) शूर, (२) विद्वान् और (३) जो सेवा करना जानता है।

[लोचनम्]

सुवर्णपुष्पामिति। सुवर्णानि पुष्प्यतीति। एतच्च वाक्यमेवासम्भवत्स्वार्थमिति कृत्वाऽविवक्षितवाच्यम्। तत एव पदार्थमभिधायान्वयं च तात्पर्यशक्त्यावगमय्यैव बाधकवशेन तमुपहत्य सादृश्यात्सुलभसमृद्धिसम्भारभाजनतां लक्षयति। तल्लक्षणाप्रयोजनं शूरकृतविद्यसेवकानां प्राशस्त्यमशब्दवाच्यत्वेन गोप्यमानं सन्नायिकाकुचकलशयुगलमिव महार्घतामुपनयद् ध्वन्यते इति। शब्दोऽत्र प्रधानतया व्यञ्जकः, अर्थस्तु तत्सहकारितयेति चत्वारो व्यापाराः।

सुवर्णपुष्पा—। सुवर्णों को पुष्पित करती है, अतः 'सुवर्णपुष्पा' यह वाक्य ही ऐसा है कि जिसका स्वार्थ सम्भव नहीं हो रहा है, इसकारण [प्रस्तुत वाक्य] 'अविवक्षितवाच्य' है। उसी से पदार्थ का अभिधान कर तथा तात्पर्य शक्ति द्वारा अन्वय को ज्ञात कराके बाधक के कारण उस अन्वय का उपहनन कर सादृश्य के

बल से सुलभ समृद्धि-सम्भार–पात्रता को लक्षणा द्वारा बोधन कराता है। उस लक्षणा का प्रयोजन शूर, कृतविद्य [विद्वान्] एवं जो प्राशस्त्य है, वह शब्द द्वारा वाच्य न होने के कारण छिपाया जाता हुआ होकर नायिका के कुचकलश-युगल के सदृश चारुत्व [महार्घता] को प्राप्त होता हुआ ध्वनित होता है। यहाँ पर 'शब्द' प्रधानरूप से व्यंजक है और अर्थ शब्द का सहकारी होने के कारण व्यञ्जक है। इस भाँति [अभिधा इत्यादि] चारों व्यापार हो जाते हैं।

(आशुबोधिनी)

प्रस्तुत उदाहरण 'अविवक्षितवाच्यध्वनि' का है। इसमें 'सुवर्णपुष्पा' शब्द प्रयुक्त है। इसका अर्थ है कि 'जो सुवर्ण को फूलाती है।' यह पृथ्वी का विशेषण है। अतएव पृथ्वी पर लता का आरोप कर लिया जाता है। किन्तु वास्तविकता यह है कि पृथ्वी कोई लता नहीं है और न किसी भी लता में सोने के पुष्प ही आते हैं। इस भाँति इस वाक्य का अपना अर्थ [वाच्यार्थ] किया जाना संभव नहीं है। इस कारण यह विवक्षित कैसे हो सकेगा ? इसी दृष्टि से इसे अविवक्षित-वाच्य कहा गया है।

इस उदाहरण में सर्वप्रथम अभिधा वृत्ति द्वारा वाच्यार्थ का ज्ञान होगा। तदनन्तर तात्पर्या वृत्ति के द्वारा अन्वय का ज्ञान होगा। तत्पश्चात् मुख्यार्थबाध की प्रतीति होगी कि यह अर्थ संभव ही नहीं है। इसके द्वारा उस अर्थ का संहार हो जायेगा। ऐसी स्थिति में सादृश्य सम्बन्ध को हेतु मानकर लक्षणा द्वारा 'सुवर्ण-पुष्प' का अर्थ विपुलधन तथा 'चयन' का अर्थ 'समृद्धि का अनायास ही उपार्जन' लक्ष्यार्थ होगा। इस लक्षणा का प्रयोजन होगा—शूर, विद्वान् तथा सेवाकार्य में बिचक्षण पुरुषों का प्राशस्त्य। वास्तव में कहना तो यही है कि शूर, विद्वान् और सेवक प्रशंसनीय हुआ करते हैं। उक्त प्रयोजन व्यङ्ग्यार्थ है। किन्तु इसे शब्दों के द्वारा न कहकर छिपाये हुए रूप में ही कहा गया है। जैसे नायिकाओं के कुचकलश का जोड़ा छिपाये जाने पर ही बहुमूल्य बना करता है उसी भाँति उक्त अर्थ भी छिपाये जाने के कारण बहुमूल्य हो गया है। इस भाँति यह 'अविवक्षित-वाच्यध्वनि' है। यहाँ मुख्यरूप से शब्द 'व्यञ्जक' है और अर्थ भी उसका सहकारी होने के कारण 'व्यञ्जक' है। इस भाँति इस पद्य की व्याख्या में अभिधा, तात्पर्या, लक्षणा और व्यञ्जना—ये चारों वृत्तियाँ कार्य करती हैं।

[इस श्लोक की व्याख्या में लोचनकार ने 'सुवर्णानि पुष्यतीति सुवर्णपुष्पा ऐसी व्याख्या की है। यह विचारणीय है। उक्त विग्रह में कर्म सुवर्ण उपपद है। उसके रहते नामधातु से 'कर्मण्यण्' सूत्र से 'अण्' प्रत्यय तथा उसके प्रभाव से 'टिड्ढाणञ्' इत्यादि सूत्र से ङीप होकर 'सुवर्णपुष्पी' रूप ही बनेगा, सुवर्णपुष्पा नहीं। अब इसका विग्रह यह होगा—'सुवर्णमेव पुष्पं यस्याः सा सुवर्णपुष्पा।']

ध्वन्यालोकः

द्वितीयस्यापि—

शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरं किमभिधानमसावकरोत्तपः।
सुमुखि येन तवाधरपाटलं दशति बिम्बफलं शुकशावकः॥

दूसरे [विवक्षितान्यपरवाच्य, अभिधामूलकध्वनि] का भी उदाहरण—

हे सुमुखि ! इस शुकशावक [तोते के बच्चे] ने किस पर्वतपर, कितने दिनों तक, कौन सा तप किया है कि जिसके कारण तुम्हारे अधर के समान रक्तवर्ण के बिम्बाफल को काट [ने का सौभाग्य प्राप्त कर] रहा है।

[लोचनम्]

न हि निर्विघ्नोत्तमसिद्धयोऽपि श्रीपर्वतादय इमां सिद्धिं विदध्युः। दिव्यकल्पसहस्रादिश्चात्र परिमितः कालः। न चैवंविधोत्तमफलजनकत्वेन पञ्चाग्निप्रभृत्यपि तपः श्रुतम्। तवेति भिन्नं पदम्। समासेन निर्गलिततया प्रतीयेत तव दशतीत्यभिप्रायेण। तेन यदाहुः—वृत्तानुरोधात्त्वदधरपाटलमिति न कृतम्, इति तदसदेव; दशतीत्यास्वादयति अविच्छिन्नप्रबन्धतया, न त्वौदरिकवत्परं भुङ्क्ते; अपितु रसज्ञोऽत्रेति तत्प्राप्तिरदेव रसज्ञताप्यस्य तपः प्रभावादेवेति। शुकशावक इति तारुण्यादुचितकाललाभोऽपि तपस एवेति। अनुरागिणश्च प्रच्छन्नस्वाभिप्रायख्यापनवैदग्ध्यचाटुविरचनात्मकविभावोद्दीपनं व्यङ्ग्यम्।

अत्र च त्रय एव व्यापाराः—अभिधा तात्पर्यं ध्वननं चेति। मुख्यार्थबाधाभावे मध्यमकक्ष्यायां लक्षणायास्तृतीयस्या अभावात्। यदि वाकस्मिकविशिष्टप्रश्नार्थानुपपत्तेर्मुख्यार्थबाधायां सादृश्याल्लक्षणा भवतु मध्ये। तस्यास्तु प्रयोजनं ध्वन्यमानमेव, यत्तुर्यकक्ष्यानिवेशि, केवलं पूर्वत्र लक्षणैव प्रधानं ध्वननव्यापारे सहकारि। इह त्वभिधातात्पर्यशक्ती। वाक्यार्थसौन्दर्यादेव व्यङ्ग्यप्रतिपत्तेः केवलं लेशेन लक्षणाव्यापारोपयोगोऽप्यस्तीत्युक्तम्। असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्ये तु

लक्षणासमुन्मेषमात्रमपि नास्ति, असंलक्ष्यत्वादेव क्रमस्येति वक्ष्यामः। तेन द्वितीयेऽपि भेदे चत्वार एव व्यापाराः ॥ १३ ॥

शिखरिणि–[पर्वत पर] जहाँ बिना किसी विघ्न के उत्तम सिद्धियाँ प्राप्त हो जाया करती हैं ऐसे श्रीपर्वत आदि भी इस सिद्धि को नहीं दे सकेंगे। [ऐसी सिद्धि प्राप्त करने हेतु] दिव्य कल्प-सहस्र आदि तो अतिसीमित समय है। और इस समय के उत्तम फल के जनक के रूप में पञ्चाग्नि आदि तप भी नहीं सुने गये हैं। 'तव' [तुम्हारा]–पद भिन्न [असमस्त] पद है। समास के द्वारा विगलितरूप में [साधारणरूप में] प्रतीत होगा; तुम्हारा दशन करता है [काटता है] इस अभिप्राय से [युष्मदर्थ को असमस्त अथवा भिन्न करके रखा। अतएव जो कि कहते हैं—"छन्द के अनुरोध से 'त्वधरपाटलम्' ऐसा नहीं किया है।," यह तो ठीक ही नहीं; 'दशति' का अर्थ है 'काटता है' अर्थात् अविच्छिन्नरूप से आस्वादन कर रहा है। न कि पेटू व्यक्ति के समान पूरा खा जाता है। अपितु रसज्ञ है, जिस भाँति उस [अधर] की प्राप्ति तप के प्रभाव से हुई उसी भाँति उसकी रसज्ञता भी तप के प्रभाव से ही है। 'शुकशावक' को ही स्थिति में उचित समय का लाभ भी तप के कारण ही है। यहाँ अनुरागी का अपने छिपे हुए अभिप्राय के ख्यापन के वैदग्ध्य से चाटुरचना द्वारा विभाव [तरुणीरूप आलम्बन विभाव] का उद्दीपन व्यङ्ग्य है।

इस स्थल पर तीन ही व्यापार हैं—(१) अभिधा, (२) तात्पर्य और (३) ध्वनन। क्योंकि मुख्यार्थ बाध इत्यादि का अभाव होने से मध्य कक्षा में तृतीय वृत्ति 'लक्षणा' का अभाव है। अथवा आकस्मिक [असम्भावित] एवं विशिष्ट [तोते के द्वारा तप करने सम्बन्धी स्थान को लेकर] प्रश्न के अर्थ की उपपत्ति न बनने के कारण मुख्यार्थबाध के हो जाने पर सादृश्य के कारण बीच में लक्षणा हो सकती है। उस [लक्षणा] का प्रयोजन ध्वन्यमान ही है, वह [ध्वन्यमान प्रयोजन] चतुर्थ कक्ष्या में रहने वाला है। यदि दोनों उदाहरणों में भेद करें तो] प्रथम उदाहरण में मात्र लक्षणा ही प्रधान होकर [ध्वनन व्यापार में] सहकारी है क्योंकि वाक्यार्थ के सौन्दर्य के कारण ही व्यङ्ग्य की जब प्रतीति हो जाया करती है, ऐसी स्थिति में केवल अंशमात्र में यहाँ लक्षणा व्यापार का उपयोग भी है, ऐसा कहा गया। 'असंल्लक्ष्यक्रमव्यंग्य' [जहाँ पर व्यङ्ग्य

के ज्ञान का क्रम लक्षित ही नहीं होता] में लक्षणा का समुन्मेषमात्र [क्रम के संलक्ष्य न होने के कारण ही] भी नहीं है; यह कहेंगे। इस भाँति द्वितीय भेद में भी चार ही व्यापार होते हैं ॥ १३ ॥

(आशुबोधिनी)

अब द्वितीय भेद 'विवक्षितान्यपरवाच्य' का उदाहरण देखिए—हे सुन्दर मुख वाली ! इस तोते के बच्चे ने किस पर्वत पर, कितने समय तक, कौन सा तप किया है कि जिसके कारण यह तुम्हारे अधरोष्ठ के सदृश लाल रंग के बिम्बफल को काटने का सौभाग्य प्राप्त कर रहा है।

श्रीपर्वत दक्षिण देश का प्रसिद्ध पर्वत है। प्राचीनकाल में विशेष रूप से भारत में जब तान्त्रिक साधना का प्रचार था, श्रीपर्वत उसका प्रमुख केन्द्र था। प्राचीन साहित्य में उस पर्वत के बारे में ऐसी धारणा बनी हुई थी कि इस पर्वत पर तप करने से अलौकिक सिद्धियों की प्राप्ति सरलता से ही हो जाया करती थी।

संसार में महान् से महान् जितने भी प्रकार के तप प्रसिद्ध हैं उनके द्वारा इतने उच्चकोटि के फल को प्राप्त किया जाना संभव नहीं है, न कोई ऐसा स्थान ही है कि जहाँ पर इस प्रकार का तप किया जा सके। और उस तप को करने के लिए इतना अधिक समय ही है कि जिनके आधार पर तोते के बच्चे को ऐसे उत्तम फल की प्राप्ति हो रही है।

श्रीपर्वत को तपस्या का सर्वश्रेष्ठ स्थान माना गया है किन्तु वहाँ भी इतनी महान् सिद्धि का प्राप्त किया जा सकना संभव नहीं है। संसार में समय की गणना भी सीमित है जो कि स्वर्गीय सहस्र कल्प से आगे नहीं जाती है। इतना समय भी उक्त सिद्धि के लिए पर्याप्त नहीं है। पंचाग्नि आदि कुछ तप के प्रकार भी सुने गये हैं किन्तु इस भाँति के उत्तम फल को देनेवाला कोई भी तप नहीं है।

प्रस्तुत पद्य में 'तव अधरपाटलं दशति' पर विशेषरूप से विचार किया गया है। लोचनकार ने 'तव' शब्द के प्रयोग को विशेष अर्थ का व्यञ्जक स्वीकार किया है। यद्यपि यहाँ समास होकर 'त्वदधरपाटलम्' रूप बन सकता था तथा 'त्वत्' अधर का विशेषण बनकर ही रह जाता। साथ ही वक्ता का अभीष्ट अर्थ भी स्पष्ट नहीं हो पाता। अतएव कुछ लोगों का यह मानना कि 'छन्द की पूर्ति की दृष्टि से समास नहीं किया गया,' पूर्णतया अमान्य है। यहाँ पर तो वक्ता

प्रमुखरूप से 'तव' शब्द 'पर जोर देकर यह कहना चाहता है कि तेरा अधर तेरे कारण और भी अधिक सुस्वादु हो गया है। अतएव उसके सदृश यह बिम्बफल शुकशावक और भी अधिक मस्ती के साथ काट रहा है। ऐसा नहीं कि पेटू व्यक्ति के समान रसास्वादन का आनन्द लिये बिना ही काट-काटकर खाये चला जा रहा है। इससे तोते के बच्चे की रसज्ञता भी व्यञ्जित हो रही है। तोते का बच्चा इसी कारण धन्य है कि वह तुम्हारे अधर को स्वाद ले-लेकर धीरे-धीरे काट रहा है। यह अभिप्राय तभी व्यक्त हो सकता है कि जब 'तव' शब्द को पृथक् रखा जाय। शुकशावक शब्द से यह भी प्रकट हो रहा है कि यह उसके तप का ही फल है कि उसे तारुण्य के कारण उचित समय पर ही इस प्रकार का सौभाग्य उपलब्ध हो गया। यह अर्थ तथा इसके साथ ही अनुरागी का स्वाभिप्रायख्यापन व्यङ्ग्य है।

इस पद्य के द्वारा किसी कामुक नायक का नायिका के प्रति अभिलाष व्यङ्ग्य हो रहा है। वह चाहता है कि वह भी तेरे अधर का दशन करता।

ध्वनि के इस द्वितीय भेद में अभिधा, तात्पर्य तथा ध्वनन—इन तीन ही वृत्तियों के व्यापार हुआ करते हैं। 'मुख्यार्थबाध न होने के कारण यहाँ लक्षणा नामक व्यापार की आवश्यकता नहीं होती है। अथवा यहाँ पर किसी प्रकार मुख्यार्थबाध की कल्पना भी की जा सकती है। नायक ने अचानक ही युवती से ऐसा विशिष्ट प्रश्न क्यों कर दिया? शुकशावक तो बिम्बफल का स्वाद लिया ही करते हैं, उसके निमित्त इतने महान् तप की आवश्यकता क्या है? इत्यादि प्रश्नों के उत्पन्न होने पर मुख्यार्थबाध हो जायगा। इसके द्वारा नायिका का अतिशय सौन्दर्य लक्ष्यार्थ के रूप में गृहीत होगा। इसका प्रयोजन होगा—चाटुकारिता के समक्ष स्वकीय अधरपान की अभिलाषा को प्रकट करते हुए नायिका को उद्दीप्त कर उद्यत करना। यह प्रयोजन व्यञ्जनाव्यापारगम्य है। इस भाँति बीच में लक्षणा को भी स्वीकार किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में प्रथम भेद के समान ही यहाँ भी चार व्यापार हो जावेंगे। फिर भी इस द्वितीय भेद को पूर्वलक्षणामूलक अविवक्षितवाच्यध्वनि से इस आधार पर पृथक् किया जायगा कि अविवक्षितवाच्य के उदाहरण में लक्षणा ही प्रमुख रूप से व्यञ्जनाव्यापार की सहकारिणी थी किन्तु यहाँ सौन्दर्य से ही व्यङ्ग्य की प्रतीति होने से 'अभिधा' तथा 'तात्पर्य' ये दो वृत्तियाँ प्रधानरूप से सहकारिणी है।

मध्य में ध्वनि के भेद दिखलाने का प्रयोजन—

ग्रन्थ के प्रारम्भ में ध्वनिविरोधी तीन पक्षों को प्रस्तुत किया गया था— १. अभाववादी पक्ष, २. भाक्तवादी पक्ष तथा ३. अलक्षणीयतावादी पक्ष। यहाँ तक प्रथमपक्ष का खण्डन किया जा चुका है। अब शेष दोनों पक्षों का खण्डन किया जाना चाहिए था; किन्तु उसे न कर ग्रन्थकार ध्वनि के दोनों भेदों का प्रतिपादन करने लग गए। इसका कारण यह है कि इन उदाहरणों के आधार पर भाक्तवाद तथा अलक्षणीयतावाद का खण्डन सुलभ होगा।

ध्वन्यालोकः

यदप्युक्तं भक्तिर्ध्वनिरिति, तत्प्रतिसमाधीयते—

भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः।

अयमुक्तप्रकारो ध्वनिर्भक्त्या नैकत्वं बिभर्ति भिन्नरूपत्वात्। वाच्यव्यतिरिक्तस्यार्थस्य वाच्यवाचकाभ्यां तात्पर्येण प्रकाशनं यत्र व्यङ्ग्यप्राधान्ये स ध्वनिः। उपचारमात्रन्तु भक्तिः।

जो यह कहा था कि भक्ति ध्वनि है उसका समाधान करते हैं—

यह उक्त [शब्द, अर्थ, व्यञ्जना व्यापार, व्यङ्ग्यार्थ तथा काव्य—इन पाँच प्रकारों से युक्त] ध्वनि [भक्ति अथवा लक्षणा से] भिन्नरूप होने के कारण भक्ति—[लक्षणा के साथ] अभेद [एकत्व] को प्राप्त नहीं हो सकता है।

यह उक्त प्रकार का [पञ्चविध] ध्वनि [लक्षणा से] भिन्नरूप होने के कारण भक्ति अर्थात् लक्षणा से अभिन्न नहीं हो सकता है। वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ को व्यङ्ग्य की प्रधानता होते हुए जहाँ वाच्यवाचक द्वारा तात्पर्यरूप से प्रकाशित किया जाता है, उसको 'ध्वनि' कहा जाता है। भक्ति तो मात्र उपचार का नाम है। [अतएव 'ध्वनि' 'भक्ति' रूप नहीं हो सकती है, उससे भिन्न है।]

[लोचनम्]

अतएवोभयोदाहरणपृष्ठ एव भाक्तमाहुरित्यनुभाष्यं दूषयति। अयं भाक्तिश्च ध्वनिश्चेति किं पर्यायवत्ताद्रूप्यम्? अथ पृथिवीत्वमिव पृथिव्या अन्यतो व्यावर्तकधर्मतया लक्षणम्? उत काकइव देवदत्तगृहस्य सम्भवमात्रादुपलक्षणम्?

तत्र प्रथमं पक्षं निराकरोति—भक्त्या बिभर्तीति। उक्त प्रकार इति

पञ्चस्वर्थेषु योज्यम्—शब्देऽर्थे व्यापारे व्यङ्ग्ये समुदाये च। रूपभेदं दर्शयितुं ध्वनेस्तावद्रूपमाह— वाच्येति। तात्पर्येण विश्रान्तिधामतया प्रयोजनत्वेनेति यावत्। प्रकाशनं द्योतनमित्यर्थः। उपचारमात्रमिति। उपचारोगुणवृत्ति-र्लक्षणा। उपचरणमतिशयितो व्यवहार इत्यर्थः। मात्रशब्देनेदमाह—यत्र लक्षणाव्यापारात्तृतीयादन्यश्चतुर्थः प्रयोजनद्योतनात्मा व्यापारो वस्तुस्थित्या सम्भवन्नप्यनुपयुज्यमानत्वेनानाद्रियमाणत्वादसत्कल्पः। 'यमर्थमधिकृत्य' इति प्रयोजनलक्षणम्। तत्रापि लक्षणास्तीति कथं ध्वननं लक्षणा चेत्येकं तत्त्वं स्यात्।

अतएव दोनों [ध्वनि के दोनों] भेदों के उदाहरणों के पश्चात् ही 'भाक्त-माहुः' इसका अनुवाद करके दूषित करते हैं। भाव यह है—'भक्ति और ध्वनि' क्या इस प्रकार शक्र, इन्द्र आदि पर्याय की भाँति दोनों में ऐक्य अथवा अभेद है? अथवा पृथिवी के पृथिवीत्व के सदृश अतिरिक्त के व्यावर्तक धर्मरूप होने के कारण, लक्षण है? अथवा देवदत्त के घर के कौवे के सदृश सम्भवमात्र होने से उपलक्षण है?

उसमें प्रथमपक्ष का निराकरण करते हैं—'भक्त्या बिभर्ति' इत्यादि—। 'उक्त प्रकार' इस शब्द को पाँचों अर्थों में लगाना चाहिए—शब्द में, अर्थ में, व्यापार में, व्यङ्ग्य में और समुदाय [रूप काव्य] में। रूपभेद को दिखलाने के लिए ध्वनि के स्वरूप का कथन करते हैं—वाच्य से—। तात्पर्येण का अर्थ है [तात्पर्यरूप से] विश्राम लेने का स्थान होने के कारण प्रयोजन रूप होने से। प्रकाशन का अर्थ है 'द्योतन' उपचारमात्र—। उपचार गुणवृत्ति, लक्षणा। उपचरण अर्थात् अतिशयित व्यवहार। मात्र शब्द से यह कह सकते हैं—जहाँ तीसरे लक्षणाव्यापार से अतिरिक्त प्रयोजनद्योतनरूप चतुर्थ व्यापार वस्तुस्थिति के साथ सम्भव होता हुआ भी उपयुज्यमान न होने के कारण आदर का पात्र न होकर नहीं के बराबर है। प्रयोजन का लक्षण यह है—जिस वस्तु को लेकर कोई प्रवृत्त हुआ करता है, वह प्रयोजन है? [यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम्] वहाँ भी लक्षणा है। इस भाँति 'ध्वनि' और लक्षणा' कैसे एक तत्व हो सकते हैं?

(आशुबोधिनी)

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में 'लक्षणा' का समावेश दिखलाया जा चुका है।

इसी कारण 'उस ध्वनि को कुछ लोग 'भाक्त' [लक्षणागम्य] स्वीकार करते हैं। इस पक्ष का खण्डन किया जाता है। अभाववाद के ही समान इस भाक्तवाद के भी तीन विकल्प बनते हैं। उनमें प्रथम विकल्प यह है—(१) जब पूर्वपक्षी घट, कलश आदि पर्यायवाची शब्द के सदृश भक्ति और ध्वनि को एक मानता है तब क्या भक्ति और ध्वनि एक ही वस्तु है ? दोनों में परस्पर अभेद है। (२) क्या भक्ति अथवा ध्वनि लक्षणा का लक्षण है ? इतरव्यावर्त्तक अर्थात् अन्य समानजातीय अथवा असमानजातीय पदार्थों से भेद कराने वाले असाधारण धर्म को 'लक्षणा' कहा जाता है। जैसे—'गन्धवती पृथिवी' गन्धवत्त्व पृथिवी का लक्षण है। यह 'गन्धयुक्त होना रूप धर्म पृथिवी में रहता है किन्तु उसे छोड़कर उसके समानजातीय एवं असमानजातीय अन्य किसी भी पदार्थ में यह धर्म नहीं रहा करता है। अतएव यह पृथिवी का लक्षण हुआ। पृथिवी एक द्रव्य है। उसके समानजातीय अप्, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक् आत्मा ये ८ द्रव्य तथा नवाँ द्रव्य पृथिवी है। वैशेषिक दर्शन ने इन नौ द्रव्यों को माना है। इन सभी में पृथिवी को छोड़कर 'गन्धवत्त्व' किसी में रहता है। इसी भाँति पृथिवी के असमानजातीय गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय आदि पदार्थ वैशेषिकाभिमत हैं। इनमें भी गन्ध नहीं रहा करता। अतएव गन्धवत्त्व पृथिवी को समान एवं असमानजातीय पदार्थों से भिन्न करने वाला पृथिवी का असधारण धर्म है। अतएव यही लक्षण हुआ। तब क्या इसी भाँति भक्ति अथवा लक्षणा भी ध्वनि का लक्षण है ? (३) क्या भक्ति अपनी सत्तामात्र से ही ध्वनि का उपलक्षण हुआ करती है ? जिस भाँति कौआ अपनी सत्तामात्र से ही देवदत्त के घर का परिचायक हुआ करता है। दो व्यक्ति कहीं जा रहे थे एक ने दूसरे से पूछा–देवदत्त का घर कौन-सा है ? दूसरे ने उत्तर में कहा कि जहाँ वह कौआ बैठा है। यहाँ कौवे का बैठा होना देवदत्त के घर का परिचायक हुआ। [अतएव 'काकवद्' पद देवदत्त के घर का अन्य गृहों से विभेदबोध कराता है। इस भाँति वर्त्तमान व्यावर्त्तक धर्म को विशेषण अवर्त्तमान व्यावर्त्तक धर्म को 'उपलक्षण' कहा जाता है।] तब क्या इसी भाँति लक्षणा भी ध्वनि की परिचायिका है। यही भाक्तवाद सम्बन्धी तीन विकल्प हैं। इनमें प्रथम पक्ष का निराकरण किया जा रहा है—

ध्वनि एवं भक्ति दोनों में न तो एकरूपता अथवा अभेदता ही है और न ये एक दूसरे के पर्याय ही हैं। 'ध्वनि' का प्रयोग पाँच अर्थों में होता है–(१) वाच्यार्थ,

(२) वाचक शब्द, (३) व्यञ्जनाव्यापार, (४) व्यङ्ग्यार्थ तथा (५) सबका समुदाय। इन पाँचों अर्थों में ध्वनि और लक्षणा में रूपभेद होता है। इस रूपभेद को समझाने की दृष्टि से ध्वन्यालोककार ने यहाँ पर ध्वनि का स्वरूप बतलाया है कि जहाँ पर शब्द तथा अर्थ वाच्यव्यतिरिक्त किसी अन्य अर्थ को तात्पर्य द्वारा प्रकाशित किया करते हैं तथा उसी व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता भी हुआ करती है उसे 'ध्वनि' कहा जाता है। 'तात्पर्य के द्वारा कहने' का अभिप्राय यह है कि वक्ता के अभिप्राय की विश्रान्ति व्यङ्ग्यार्थ में ही हुआ करती है। इसलिए विश्रान्ति का स्थान होने के कारण प्रयोजन के रूप में व्यङ्ग्यार्थ ही प्रकट हुआ करता है। 'प्रकाशन' शब्द का अर्थ है 'द्योतन'।

अब 'भक्ति' के बारे में सोच लिया जाय। 'भक्ति' मात्र 'उपचार' है—'उपचारमात्रं भक्तिः' में उपचार शब्द का अर्थ गौण प्रयोग है। जो शब्द जिस अर्थ में सङ्केतित है उस अर्थ को छोड़कर उससे सम्बद्ध अन्य अर्थ को बोधन करना 'उपचार' कहलाता है। ध्वनि उसे कहते हैं कि जहाँ व्यङ्ग्य का प्राधान्य हो। इस रूपभेद के कारण 'ध्वनि' और भक्ति, अभिन्न नहीं हो सकते हैं और न पर्यायवाचक ही। अतएव ध्वनि और भक्ति का अभेद किसी भी दशा में संभव नहीं है।

ध्वन्यालोकः

मा चैतद स्याद् भक्तिर्लक्षणं ध्वनेरित्याह—

अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया ॥ १४ ॥

नैव भक्त्या ध्वनिर्लक्ष्यते। कथम्? अतिव्याप्तेरव्याप्तेश्च। तत्रातिव्याप्तिर्ध्वनिव्यतिरिक्तेऽपि विषये भक्तेः सम्भवात्। यत्र हि व्यङ्ग्यकृतं महत् सौष्ठवं नास्ति तत्राप्युपचरितशब्दवृत्त्या प्रसिद्ध्यनुरोधप्रवर्तितव्यवहाराः कवयो दृश्यन्ते। यथा—

यह भक्ति ध्वनि का लक्षण भी नहीं हो सकती है, यह कहते हैं—

अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के कारण ध्वनि भक्ति से लक्षित भी नहीं हो सकती है ॥ १४ ॥

ध्वनि भक्ति का लक्षण भी नहीं हो सकती है। क्यों? अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के कारण। उसमें अतिव्याप्ति इस कारण है कि ध्वनि से भिन्न विषय

में भी भक्ति [लक्षणा] हो सकती है। जहाँ व्यङ्ग्य के कारण विशिष्ट सुन्दरता नहीं आती वहाँ भी कवि प्रसिद्धिवश, उपचार अथवा गौणी शब्दवृत्ति के द्वारा व्यवहार करते हुए देखे जाते हैं। जैसे—

[लोचनम्]

द्वितीयं पक्षं दूषयति—अतिव्याप्तेरिति। असाविति ध्वनिः। तयेति भक्त्या। ननु ध्वननमवश्यम्भावीति कथं तद् व्यतिरिक्तोऽस्ति विषय इत्याह—महत्सौष्ठवमिति। अतएव प्रयोजनस्यानादरणीयत्वाद्व्यञ्जकत्वेन न कृत्यं किञ्चिदिति भावः। महद्ग्रहणेन गुणमात्रं तद्भवति। यथोक्तम्—'समाधिरन्यधर्मस्य यत्राप्यारोपो विवक्षितः' इति दर्शयति। ननु प्रयोजनाभावे कथं तथा व्यवहार इत्याह— प्रसिद्ध्यनुरोधेति। परम्परया तथैव प्रयोगात्।

[अब] द्वितीय पक्ष में दोष दिखलाते हैं:—अतिव्याप्ति होने से—यह अर्थात् ध्वनि।उससे अर्थात् भक्ति से। अब यहाँ यह शङ्का उत्पन्न होती है कि [लक्षणा में ध्वनन अवश्यम्भावी है, फिर ऐसी स्थिति में उसे ध्वनि से भिन्न विषय कैसे कहा जा सकता है। इसके उत्तर में कहते हैं—'महत् सौष्ठवम् इति' अर्थात् अधिक सौष्ठव [सौन्दर्य] अभिप्राय यह है कि प्रयोजन के आदरणीय न होने के कारण व्यञ्जक होने से [व्यञ्जना-व्यापार से] कोई कार्य नहीं। 'अधिक' [महत्] शब्द के ग्रहण से यह ज्ञात होता है कि वह [व्यञ्जकत्व अथवा व्यञ्जना-व्यापार] गौण [अप्रधान] ही होता है। जैसा कि कहा भी गया है:—अन्य के [अप्रस्तुत के] धर्म का कहीं पर जब आरोप विवक्षित हो तब 'समाधि [नामका गुण] कहते हैं, यह दिखलाते हैं। अब यह शङ्का होती है कि प्रयोजन के अभाव में इस प्रकार का व्यवहार किस भाँति होगा ? इस प्रकार कहते हैं:—परम्परा से उसी प्रकार का प्रयोग होने के कारण।

(आशुबोधिनी)

अब भक्ति सम्बन्धी द्वितीयपक्ष का निराकरण किया जा रहा है—'अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के कारण यह [ध्वनि] उसके द्वारा लक्षित नहीं होती है। यहाँ 'यह' का अर्थ है 'ध्वनि' तथा 'उससे' का अर्थ है 'लक्षणा के द्वारा'। यहाँ पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब लक्षणा में ध्वनि का होना आवश्यक है तब लक्षणा का विषय ध्वनि के अतिरिक्त होना कैसे संभव है ? इसके उत्तर में

कहते हैं कि प्रायः ऐसा भी देखा जाता है कि कवियों द्वारा कुछ ऐसे शब्दों का भी प्रयोग किया जाया करता है कि जिनमें व्यञ्जना तो होती है किन्तु उसके कारण कोई विशिष्ट प्रकार का सौन्दर्य दृष्टिगोचर नहीं हुआ करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि लक्षणा में प्रयोजन की प्रतीति तो सर्वत्र हुआ करती है फिर भी ध्वनिरूपता को प्राप्त करने हेतु इस बात की आवश्यकता हुआ करती है कि उसमें किसी न किसी अंश में निगूढ़ता अवश्य रहे। परन्तु कुछ इस प्रकार के भी स्थल हुआ करते हैं कि जिनमें प्रयोजन तनिक भी गूढ़ नहीं हुआ करता है। उन शब्दों के उपचार सम्बन्धी अर्थ में प्रयोग करने की प्रथा-सी चल पड़ी है तथा कविजन स्वाभाविक रूप में उन शब्दों का प्रयोग करते चले आ रहे हैं किन्तु श्रोताओं को उसमें चमत्कार का ज्ञान नहीं होता। अतएव ऐसे स्थलों पर ध्वनि का हो सकना संभव ही नहीं है। यदि यह लक्षण बना लिया जाय कि 'जहाँ लक्षणा हो वही ध्वनि हो सकती है।' ऐसी स्थिति में लक्षणा होने के कारण उन प्रसिद्ध स्थलों पर भी ध्वनि का लक्षण चला जायेगा कि जहाँ नहीं जाना चाहिए। यही है अलक्ष्य में लक्षण का चला जाना। इसी को 'अतिव्याप्ति' नामक दोष कहा जाता है। प्रयोजन के आदरणीय न होने के कारण वहाँ पर व्यञ्जकता के द्वारा किसी प्रकार की आवश्यकता की पूर्ति ही नहीं होगी। 'चारुत्वमधिकम्' में 'अधिक' शब्द का अभिप्राय यह है कि ऐसे स्थलों पर 'व्यञ्जना' गुणीभूत [अप्रधान] होकर 'अलङ्कार' का रूप धारण कर लिया करती है। जैसा कि 'समाधि' नामक अलङ्कार का लक्षण करते हुए कहा भी गया है। 'जहाँ किसी अन्य धर्म का कहीं दूसरी जगह आरोप कथित हो तो उसे 'समाधि' कहा जाता है। जैसे—

ध्वन्यालोकः

परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयतः
तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम्।
इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः,
कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदतिविसिनीपत्रशयनम्॥

कमलिनी के पत्तों [से निर्मित] यह शयन [शय्या] [सागरिका के] स्थूल स्तनों और जंघाओं के संसर्ग के कारण दोनों ओर मलिनता को प्राप्त हो

गया है और शरीर के मध्य भाग का पत्तों के साथ स्पर्श न होने के कारण [शय्या का] यह भाग हरा बना हुआ है। शिथिल बाँहों के इतस्ततः फेंकने के कारण इसकी रचना अस्तव्यस्त हो गई है। इस भाँति कमलिनी के पत्रों से निर्मित यह शय्या कृशाङ्गी सागरिका के सन्ताप को कह रही है।

यह श्लोक रत्नावलीनाटिका से उद्धृत है। यह उस समय का वर्णन है कि जब सागरिका मदनशय्या को छोड़कर लताकुञ्ज से चली गई है। राजा विदूषक के साथ उस कुञ्ज में प्रवेश करते हैं। उस मदनशय्या की दशा को देखकर राजा विदूषक से उस शय्या का वर्णन करते हुए कह रहे हैं।

[लोचनम्]

वयं तु ब्रूमः प्रसिद्धिर्या प्रयोजनस्यनिगूढतेत्यर्थः। उत्तानेनापि रूपेण तत्प्रयोजनं कोशवन्निगूढतांनिधानवदपेक्षत इति भावः वदतीत्युपचारे हि स्फुटीकरणप्रतिपत्तिः प्रयोजनम्। यद्यगूढं स्वशब्देनोच्येत, किमचारुत्वं स्यात्? गूढतया वर्णने वा किं चारुत्वमधिकं जातम्? अनेनैवाशयेन वक्ष्यति—यत उक्त्यन्तरेण शक्यं यदिति।

हम तो कहते हैं—प्रसिद्ध वह है जो प्रयोजन की अतिगूढता [प्रकटरूपता] है। भाव यह है कि उत्तान [स्फुट] रूप से प्रकाशित होता हुआ प्रयोजन कोष [खजाने] की भाँति निगूढता की अपेक्षा करता है। 'वदति' इसमें उपचार [लक्षणा] होने पर निसन्देह स्फुटोकरण की प्रतीति प्रयोजन है। यदि अनिगूढ अथवा अप्रकटरूप से शब्दतः कह दिया जाता तो क्या अचारुत्व हो जाता अथवा गूढ़ अथवा अप्रकटरूप से वर्णन करने पर क्या चारुत्व का आधिक्य हो गया? इसी अभिप्राय से कहेंगे—क्योंकि 'जो दूसरी उक्ति से अशक्य होता है।' इत्यादि।

(आशुबोधिनी)

अब प्रश्न यह होता है कि 'जब किसी अन्य अर्थ में अन्य शब्द के प्रयोग में कोइ प्रयोजन नहीं हुआ करता है तब उस प्रकार का प्रयोग किया ही क्यों जाता हैं?' इसके उत्तर में कहना है कि 'किसी दूसरे अर्थ में दूसरे शब्द के प्रयोग की परम्परा चल पड़ा करती है जिसके कारण अभिधा के सदृश उस ही प्रकार का प्रयोग होने लगा करता है।

हमारा तो कहना यह है 'प्रसिद्ध' का अर्थ ही यह है कि 'प्रयोजन का छिपा हुआ न होना।' ध्वनि के स्थलों में भी प्रयोजन पूर्णरूप से अस्पष्ट नहीं हुआ करता है। उसको इस रूप में प्रकट किया जाता है कि स्पष्टरूप में प्रतीत होने के सदृश हो जाया करता है। जिस भाँति कोष [खजाने] को छिपे हुए रूप में रखने की आवश्यकता हुआ करती है उसी भाँति उसमें किसी न किसी अंश में निगूढ़ता अपेक्षित अवश्य रहा करती है।

अब 'परिम्लानं'······इत्यादि उदाहरण को देखिए—कमलिनी के पत्तों से निर्मित शय्या कह रही है [वदति]। इस वाक्य में 'वदति' का प्रयोग चेतन व्यक्ति द्वारा ही संभव हो सकता है। अचेतन शय्या कुछ कहने का काम नहीं कर सकती है। अतएव तात्पर्यानुपपत्ति द्वारा उसका यह अर्थ कर लिया जाता है:—'प्रकटयति' [प्रकट कर रहा हैं।]। 'वदति' का प्रयोजन है 'प्रकटन का ज्ञान'। यदि कवि द्वारा 'प्रकटयति' का ही प्रयोग कर दिया गया होता तब भी कोई अचारुत्व न हुआ होता। 'वदति' इस उपचरित व्यवहार अथवा गूढ़रूप में वर्णन करने में किसी प्रकार का चारुत्वोत्कर्ष का आधिक्य भी प्रतीत नहीं होता। अतएव चारुत्वोत्कर्ष का आधिक्य न होने के कारण यह कभी भी ध्वनि का विषय नहीं हो सकता हैं। किन्तु भक्ति [लक्षणा] का विषय तो है हे। अतएव अतिव्याप्ति के कारण भक्ति को ध्वनि का विषय स्वीकार नहीं किया जा सकता है। अगली कारिका में यह स्पष्टरूप से कहा जायगा कि ध्वनि का विषय वहीं हुआ करता है कि जहाँ इस प्रकार की चारुता प्रकट हो कि जिसका प्रकट करना किसी अन्य उक्ति अथवा कथन से संभव ही न हो।

ध्वन्यालोकः

तथा—

चुम्बिज्जइ असहुत्तं अवरुन्धिज्जई सहस्सहूत्तम्मि।
विरमिअ पुणरमिज्जइ प्रियोजणो णत्थि पुनरुत्तं॥
[शतकृत्वोऽवरुध्यते सहस्रकृत्वश्चुम्ब्यते।
विरम्य पुना रम्यते प्रियोजनो पुनरुक्तम्॥]

उसी प्रकार—

प्रिय को सौ बार चुम्बन करते हैं, हजार बार अवरोधन [आलिङ्गन] करते

हैं, रुक-रुककर रमण करते हैं, फिर भी पुनरुक्त नहीं होता।

तथा--

कुविआओ पसन्नाओ ओरण्णमुहीओ विहसमाणाओ।
जह गहिओ तह हिअअं हरन्ति उच्छिन्तमहिलाओ॥

उसी प्रकार—

खिसियानी, प्रसन्न, रुआँसी अथवा हँसती, चाहे जिस रूप में ग्रहण करो, मनचली औरतें दिल हर लिया करती हैं।

[लोचनम्]

अवरुन्धिज्जइ आलिङ्ग्यते। पुनरुक्तमित्यनुपादेयता लक्ष्यते, उक्तार्थस्यासम्भवात्।

कुपिता प्रसन्ना अवरुदितवदना विहसन्त्यः।
यथा गृहीतास्तथा हृदयं हरन्ति स्वैरिण्यो महिलाः॥

अत्र ग्रहणेनोपादेयता लक्ष्यते। हरणेन तत्परतन्त्रतापत्तिः।

'अवरुन्धज्जई' का अर्थ है अवरोधन करता है अर्थात् आलिङ्गन करता है। 'पुनरुक्तम्' इससे अनुपादेयता लक्षित होती है क्योंकि वचनरूप उक्त अर्थ [प्रियजन के अर्थ में] असम्भव है।

इसी भाँति स्वैरिणी स्त्रियाँ क्रोधित हों अथवा प्रसन्न हों, हँसती हुई हों अथवा रोती हुई, जैसे भी चाहो [सभी रूपों में] वे मन को हरण कर लिया करती हैं।

यहाँ 'ग्रहण' से उपादेयता तथा 'हरण' से उसके परतन्त्र हो जावे की स्थिति लक्षित होती है।

(आशुबोधिनी)

अब द्वितीय उदाहरण देखिये 'प्रिय कभी भी पुनरुक्त नहीं हुआ करता है' 'अवरुन्धज्जई' का अर्थ है 'आलिङ्गन किया जाता है।' शब्द अथवा वाक्य 'पुनरुक्त' हो सकता है किन्तु मानव कभी भी पुनरुक्त नहीं हो सकता है। अतएव उसका बाध होकर लक्ष्यार्थ यह निकलता है। कि—'प्रिय व्यक्ति कभी भी अनुपादेय नहीं हुआ करता है।' इस स्थल पर 'पुनरुक्त' कहने में ऐसा कौन-सा चारुत्व है कि जो 'अनुपादेय' कहने में नहीं आ सकता था। अतएव यहाँ 'अनु-

पादेयता' रूप अर्थ लक्षित होने से अतिव्याप्ति के कारण भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती है।

तृतीय उदाहरण में 'गृहीता' पद से 'उपादेयता' तथा 'हरन्ति' पद द्वारा उनकी आधीनता लक्षणा द्वारा बोधित होती है। वस्तुतः ग्रहण तो किसी वस्तु का किया जाया करता है। महिलायें ग्रहण नहीं की जा सकती हैं। इसी भाँति 'हरण' भी किसी मूर्त द्रव्य का हुआ करता है, हृदय [अमूर्त] का नहीं। अतएव लक्षणा द्वारा उपर्युक्त अर्थ बोधित हो रहे हैं। अतएव यहाँ लक्षणा है। यहाँ भी ध्वनि का कोई अवसर नहीं है, अतएव यहाँ भी अतिव्याप्ति है। इस प्रकार भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती है।

ध्वन्यालोकः

तथा—

अज्जाए पहारो णवलदाए दिण्णो पिएण थणवट्टे।
मिउओ वि दूसहो जाओ हिअए सवत्तीणम्॥
[आर्यायाः प्रहारो नवलतया दत्तः प्रियेण स्तनपृष्ठे।
मृदुकोऽपि दुस्सह इव जातो हृदये सपत्नीनाम्॥]

तथा—

परार्थे यः पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरो
मदीयः सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यभिमतः।
न सम्प्राप्तो वृद्धिं यदि स भृशमक्षेत्रपतितः
किमिक्षोर्दोषोऽसौ न पुनरगुणाया मरुभुवः॥

नयी नवेली होने से कनिष्ठा पत्नी के स्तनों पर दिया हुआ प्रिय [नायक] का मृदु प्रहार भी सपत्नियों के हृदय के लिए दुःसह हो गया।

जो दूसरों के लिए पीड़ा [रस निकालने के लिए यन्त्र में पीड़ित होने] का अनुभव किया करते हैं, जो तोड़ लिये जाने पर भी मधुर ही बना रहा करता है, जिसका विकार [रस] सभी को अच्छा लगा करता है ऐसा ईख [इक्षु] यदि रेतीली अथवा ऊसर भूमि में पड़कर बढ़ न सका तो यह क्या ईख का दोष अथवा अपराध है, गुणरहित मरुभूमि का [दोष] नहीं?

इत्यत्रेक्षुपक्षेऽनुभवतिशब्दः। न चैवंविधः कदाचिदपि ध्वनेर्विषयः।

यहाँ ईख के पक्ष में 'अनुभवति' [अनुभव करता है] इस शब्द में लक्षणा होती है, ध्वनि नहीं। इस प्रकार का प्रयोग कभी भी ध्वनि का विषय नहीं हो सकता ॥ १४ ॥

[लोचनम्]

तथा—अज्जेति । कनिष्ठभार्यायाः स्तनपृष्ठे नवलतया कान्तेनोचितक्रीडायोगेन मृदुकोऽपि प्रहारो दत्तः सपत्नीनां सौभाग्यसूचकं तत्क्रीडासंविभागमप्राप्तानां हृदये दुःसहो जातः, मृदुकत्वादेव । अन्यस्य दत्तो मृदुः प्रहारोऽन्यस्य च सम्पद्यते । दुस्सहश्च मृदुरपीति चित्रम्। दानेनात्र फलवत्त्वं लक्ष्यते ।

उसी प्रकार—भार्या । छोटी भार्या के स्तनपृष्ठ में नवलता के कारण प्रिय के द्वारा उचितक्रीडा के सम्बन्ध से कोमल भी दिया हुआ प्रहार सौभाग्य के सूचक क्रीडा के संविभाग को नहीं पाई हुई सौतों के हृदय में दुःसह हो गया, कोमल होने के कारण ही। दूसरे को दिया हुआ कोमल प्रहार दूसरे को प्राप्त होता है। मृदु होते हुए भी दुःसह है, यह आश्चर्य है। यहाँ [प्रहार के] दान अथवा दिये जाने से फलवत्त्व [सफल होना] लक्षित होता है।

तथा—परार्थेति—। यद्यपि प्रस्तुतमहापुरुषापेक्षयानुभवति शब्दो मुख्य एव, तथाप्यप्रस्तुते इक्षौ प्रशस्यमाने पीडाया अनुभवनेनासम्भवता पीडावत्त्वं लक्ष्यते; तच्च पीड्यमानत्वे पर्यवस्यति ।

नन्वस्त्यत्र प्रयोजनं तत्किमिति न ध्वन्यत इत्याशङ्क्याह—न चैवंविध इति ॥ १४ ॥

उसी प्रकार—दूसरों के लिए—। यद्यपि प्रस्तुत महापुरुष की अपेक्षा 'अनुभवति' [अनुभव करता है] शब्द मुख्य ही है तथापि अप्रस्तुत 'ईख' की प्रशंसा किये जाने पर संभव होते हुए पीड़ा के अनुभव से पीड़ा से युक्त होना लक्षित होता है तथा वह पीड्यमान होने में पर्यवसित होता है।

यहाँ यह शंका उत्पन्न होती है कि यदि यहाँ प्रयोजन है तो वह ध्वनित क्यों नहीं होता है ? इसके समाधान में कहते हैं—इस प्रकार का—॥ १४ ॥

(आशुबोधिनी)

चतुर्थ उदाहरण में—प्रियतम द्वारा अपनी छोटी भार्या के स्तनपृष्ठ पर उचित क्रीडा के प्रसङ्ग में अपनी छोटी स्त्री के नये होवे तथा कोमल होवे का

विचार करते हुए अति कोमल प्रहार किया गया था किन्तु फिर भी जिन सपत्नियों ने सौभाग्यसूचक इस क्रीडासंविभाग को प्राप्त नहीं कर पाया था उनके लिए उक्त कोमल प्रहार भी असह्य हो गया। यहाँ पर कोमल प्रहार तो अन्य पर किया गया तथा उसका प्रभाव किन्हीं अन्यों पर पड़ा। इस दृष्टि से यहाँ पर 'असङ्गति' नामक अलङ्कार है। यह भी बड़े आश्चर्य का विषय है कि प्रहार तो कोमल था, किन्तु वह असह्य हो गया। यह विरोधाभास है। 'दत्तः' यह रूप 'डुदाञ दाने' धातु से बना है। 'स्वस्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वोत्पादानं दानम्' अर्थात् किसी वस्तु पर से अपने अधिकार को हटाकर किसी अन्य के अधिकार को स्थापित कर देना 'दान' कहलाता है। दान का यह अर्थ यहाँ पूर्णतया असङ्गत है तथा प्रतिफलितरूप अर्थ को लक्षणा द्वारा बोधित कराता है। यहाँ भी ध्वनि के अभाव में लक्षणा होने से अतिव्याप्ति है। अतएव भाक्त [लक्षणा] ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती है।

इसी भाँति—पंचम उदाहरण में भी—

'ईख इतने अधिक गुणों से युक्त होने पर भी मरुस्थल में वृद्धि को प्राप्त न हो सका' यह अप्रस्तुत अर्थ है। इससे यह प्रस्तुत अर्थ निकलता है—यदि कोई सज्जन व्यक्ति किसी गलत स्थान पर पहुँचकर अपनी उन्नति न कर सके तो इसमें उस सज्जन व्यक्ति का क्या दोष है? इसमें तो उस स्थान का ही दोष है। इस स्थान पर 'अनुभवति' शब्द लक्षक है। और इस पद का मुख्य अर्थ असङ्गत होने के कारण लक्षणा द्वारा पीड्यमानत्व का ज्ञान कराता है। किन्तु यहाँ व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता नहीं है, अतएव यहाँ ध्वनि भी नहीं है। ध्वनि के अभाव में भी यहाँ भक्ति [लक्षणा] है। अतएव यहाँ पर 'साध्याभाववद्वृत्तित्व' रूप अतिव्याप्ति है जिसके कारण भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती है। अब यहाँ पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब यहाँ पर प्रयोजन की विद्यमानता है तो फिर ध्वनि क्यों स्वीकार नहीं की जा रही है?

इसके उत्तर में कहते हैं—उपर्युक्त विषय में व्यङ्ग्यार्थ को महत्वपूर्ण न होने के कारण इसे ध्वनि कहा जाना संभव नहीं है। अगली १५ वीं कारिका में यह बतलाया जा रहा है कि व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता में भी ध्वनि क्यों नहीं होती है?

ध्वन्यालोकः

यतः—

उक्त्यंतरेणाशक्यं यत् तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत् ॥ १५ ॥

जिस चारुत्व का किसी दूसरी उक्ति द्वारा प्रकाशन नहीं किया जा सकता है उसको प्रकाशित करने वाला व्यञ्जनाव्यापार से युक्त शब्द ही ध्वनि कहलाने का अधिकारी हो सकता है ॥ १५ ॥

अत्र चोदाहृते विषये नोक्त्यन्तराशक्यचारुत्वव्यक्तिहेतुः शब्दः ॥१५॥

और यहाँ ऊपर उद्धृत उदाहरणों में कोई शब्द किसी अन्य शक्ति द्वारा अशक्य चारुत्व की व्यञ्जना का हेतु नहीं है। [अतएव ध्वनि का विषय भी नहीं है।]

[लोचनम्]

यत उक्त्यन्तरेणेति। उक्त्यन्तरेण ध्वन्यतिरिक्तेन स्फुटेन शब्दार्थव्यापार-विशेषेणेत्यर्थः। शब्द इति पञ्चस्वर्थेषु योज्यम्। ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेदिति—ध्वनिशब्देनोच्यत इत्यर्थः। उदाहृत इति। वदतीत्यादौ॥ १५ ॥

क्योंकि—अन्य उक्ति से—। अन्य उक्ति से अर्थात् ध्वनि से अतिरिक्त स्फुट शब्द और अर्थ के व्यापारविशेष के द्वारा। 'शब्द' को पाँचों अर्थों में जोड़ा जाना चाहिए। 'ध्वनि' इस शक्ति का विषय होता है—। अर्थात् 'ध्वनि' शब्द द्वारा कहा जाता है। उदाहृत···। 'वदति' इत्यादि में।

(आशुबोधिनी)

प्रस्तुत कारिका द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि व्यङ्ग्यार्थ की विद्यमानता में भी 'ध्वनि' क्यों नहीं हुआ करती है? साथ ही यह भी बतलाया गया है कि कौन सा शब्द 'ध्वनि' का विषय हो सकता है। 'दूसरी शक्ति के द्वारा' कहने का अभिप्राय यह है कि जिस सौन्दर्य को कोई शब्द मात्र ध्वनि के आधार पर ही अभिव्यक्त कर सके। विशिष्ट प्रकार के वाच्य तथा वाचक के द्वारा वह सौन्दर्य प्रकट न किया जा सकता हो, ऐसा ही शब्द ध्वनि का विषय हुआ करता है। इस स्थल पर 'शब्द' के पाँचों अर्थों को लेना आवश्यक है। 'शब्द्यते' अर्थात् जिसका कथन किया जाय अर्थात् 'अर्थ'। शब्द्यते अनेन' जिसके द्वारा कथन किया जाय अर्थात् 'शब्द'। 'शब्दनं शब्दः' अर्थात् वृत्ति अथवा व्यापार। 'शब्द्यते' जो प्रकट किया जाय अर्थात् व्यङ्ग्य-अर्थ। इन सभी का समुच्चय। इस भाँति ये

पाँचों ही ध्वनि के स्वरूप को धारण किया करते हैं, उसी स्थिति में कि जब किसी अन्य प्रकार से उसके चारुत्व का कथन किया जाना संभव न हो। 'ध्वनि उक्ति का विषय हुआ करता है' का आशय है कि 'ध्वनि' शब्द के द्वारा कथित हुआ करता है। 'उदाहृत:' से अभिप्राय है कि ऊपर उद्धृत उदाहरणों में अर्थात् 'वदति' आदि में।

ध्वन्यालोक:

किञ्च—

रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि।
लावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः ॥ १६ ॥

और भी—

जो 'लावण्य' आदि शब्द अपने विषय [लवणयुक्तत्व अर्थात् नमक से युक्त होना] से भिन्न सौन्दर्य आदि अर्थ में रूढ़ [प्रसिद्ध] है, वे भी प्रयुक्त होने पर ध्वनि के विषय नहीं हुआ करते हैं ॥ १६ ॥

तेषु चोपचरितशब्दवृत्तिरस्तीति। तथाविधे च विषये क्वचित्सम्भवन्नपि ध्वनिव्यवहारः प्रकारान्तरेण प्रवर्तते। न तथाविधशब्दमुखेन।

उन [लावण्य आदि शब्दों] में उपचरित गौणी शब्दवृत्ति तो है [किन्तु ध्वनि नहीं है]। इस भाँति के उदाहरणों में यदि कहीं ध्वनि-व्यवहार संभव भी हो तो वह उस भाँति के [लावण्य, आनुलोम्य, प्रातिकूल्य आदि] शब्द द्वारा नहीं अपितु प्रकारान्तर से हुआ करता है ॥ १६ ॥

[लोचनम्]

एवं यत्र प्रयोजनं सदपि नादरास्पदं तत्र को ध्वननव्यापार इत्युक्त्वा यत्र मूलत एव प्रयोजनं नास्ति, भवति चोपचारस्तत्रापि को ध्वननव्यापार इत्याह—किञ्चेति। लावण्याद्या ये शब्दाः स्वविषयाल्लवणरसयुक्तत्वादेः स्वार्थादन्यत्र हृद्यत्वादौ रूढाः रूढत्वादेव त्रितयसान्निध्यपेक्षणव्यवधानशून्याः। यदाह—

इस भाँति जहाँ प्रयोजन होते हुए होने पर भी आदरास्पद नहीं है वहाँ कौन ध्वननव्यापार होता है? यह कहकर जहाँ मूलतः प्रयोजन होता ही नहीं है किन्तु उपचार होता है वहाँ भी कौन ध्वननव्यापार है? यह कहते हैं—किञ्च और भी। 'लावण्य' आदि जो शब्द 'लवणरस से युक्त होना' आदि अपने विषय-

रूप स्वार्थ से अन्यत्र हृद्यत्व अर्थ आदि में रूढ़ हैं, और रूढ़ होने के कारण ही त्रितय [अर्थात् तीनों मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थयोग तथा प्रयोजन] के सन्निधान की अपेक्षारूप व्यवधान से रहित हैं। जैसा कि कहा है—

(आशुबोधिनी)

अभी तक यह बतलाया जा चुका है कि जहाँ भी लक्षणा में प्रयोजन की अभिव्यक्ति तो होती है किन्तु चारुत्व की दृष्टि से उसकी कोई उपयोगिता न होने के कारण वह अभिव्यक्ति निरर्थक हो जाया करती है। अब आगे यह स्पष्ट किया जा रहा है कि कुछ स्थल ऐसे भी हुआ करते हैं कि जहाँ लक्षणा तो होती है किन्तु प्रयोजन होता ही नहीं। इस भाँति लक्षणा के दो भेद हो जाया करते हैं—(१) रूढ़ा और (२) प्रयोजनवती। इन दोनों में से प्रथम भेद में भक्ति—लक्षणा तो होती है किन्तु प्रयोजनरूप व्यङ्ग्य अथवा ध्वनि का अभाव रहा करता है। द्वितीय भेद प्रयोजनवती बोध लक्षणा में प्रयोजन तो रहा करता है और वह व्यङ्ग्य होता है किन्तु उसका बोध लक्षणा से न होकर व्यञ्जना द्वारा हुआ करता है। अतएव भक्ति [लक्षणा] ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती है। इसी का प्रतिपादन क्रमशः १६ वीं तथा १७ वीं कारिकाओं में किया गया है—

[लोचनम्]

'निरूढा: लक्षणाः काश्चित्सामर्थ्यादभिधानवत् ॥' इति।

ते तस्मिन् स्वविषयादन्यत्र प्रयुक्ता अपि न ध्वनेः पदं भवन्ति, न तत्र ध्वनिव्यवहारः। उपचरिता शब्दस्य वृत्तिर्गौणी; लाक्षणिकी चेत्यर्थः। आदिग्रहणेनानुलोम्यं प्रातिकूल्यं सब्रह्मचारीत्येवमादयः शब्दा लाक्षणिका गृह्यन्ते। लोम्नामनुगतमनुलोमं मर्दनम्। कूलस्य प्रतिपक्षतया स्थितं स्रोतः प्रतिकूलम्। तुल्यगुरुः सब्रह्मचारी इति मुख्यो विषयः। अन्यपुनरुपचरित एव। न चात्र प्रयोजनं किञ्चिदुद्दिश्य लक्षणा प्रवृत्तेति न तद्विषयो ध्वननव्यवहारः।

ननु 'देवडिति लुणाहि पलुत्रम्मिगमिज्यालवणुज्वलं गुमरिफेल्लपरण्य' (?) इत्यादौ लावण्यादिशब्दसन्निधानेऽस्ति प्रतीयमानाभिव्यक्तिः; सत्यम्, सा तु न लावण्यशब्दात्। अपि तु समग्रवाक्यार्थप्रतीत्यनन्तरं ध्वननव्यापारादेव। अत्र हि प्रियतमामुखस्यैव समस्ताशाप्रकाशकत्वं ध्वन्यत इत्यलं बहुना।

तदाह—प्रकारान्तरेणेति । व्यञ्जकत्वेनैव । न तूपचरितलावण्यादिशब्दप्रयोगादित्यर्थः ॥ १६ ॥

'कुछ निरूढ़ लक्षणाएँ प्रयोग की सामर्थ्य से अभिधान के सदृश हुआ करती हैं।' वे [लावण्य आदि प्रयोग में आये हुए शब्द] अपने विषय से अन्यत्र प्रयुक्त होकर भी ध्वनि के विषय में नहीं हुआ करते हैं। उनमें ध्वनि का व्यवहार नहीं हुआ करता है। उपचारिता शब्द-वृत्ति गौणी है अर्थात् लाक्षणिकी। 'आदि' शब्द के ग्रहण किये जाने से 'आनुलोम्य, 'प्रातिकूल्य', 'सब्रह्मचारी' इत्यादि प्रकार के लाक्षणिक शब्द गृहीत होते हैं। लोमों का अनुगत अनुलोम है अर्थात् मर्दन। [कूल (तट) के प्रतिपक्ष होकर स्थित स्रोत 'प्रतिकूल' होता है। तुल्यगुरु सब्रह्मचारी। इस प्रकार मुख्य विषय है। द्वितीय तो उपचरित ही है। यहाँ किसी प्रयोजन को उद्दिष्ट करके लक्षणा प्रवृत्त नहीं है। अतएव तद्विषयक ध्वननव्यापार नहीं है।

[शङ्का—] 'देवडिति' इत्यादि में 'लावण्य' इत्यादि शब्द की सन्निधि में प्रतीयमान की अभिव्यक्ति है? [उत्तर—] ठीक है, किन्तु यह [अभिव्यक्ति] 'लावण्य' शब्द द्वारा नही होती है अपितु सम्पूर्ण वाक्यार्थ की प्रतीति के पश्चात् ध्वननव्यापार से ही होती है। इस स्थल पर प्रियतमा के मुख का ही सम्पूर्ण दिशाओं का प्रकाशकत्व ध्वनित होता है। इस भाँति अधिक कहने की क्या आवश्यकता? अतः कहते हैं :—'प्रकारान्तर से—' अर्थात् व्यञ्जनाव्यापार से ही उपचरित 'लावण्य' आदि शब्द के प्रयोग द्वारा नहीं [ध्वनित होता है।]।

(आशुबोधिनी)

शब्द का अर्थ-बोध कराने में मुख्य व्यापार 'अभिधा' ही है। किन्तु कहीं-कहीं मुख्यार्थ का त्यागकर उससे सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ में भी शब्दों का प्रयोग करना होता है। ऐसे प्रयोगों में कोई न कोई विशिष्ट कारण अवश्य हुआ करता है। ये कारण दो प्रकार के हुआ करते हैं—(१) रूढ़ि और (२) विशेष प्रयोजन। रूढ़ि का अर्थ है प्रसिद्धि। इस रूढ़ि के उदाहरण हैं :—लावण्य, आनुलोम्य, प्रातिकूल्य इत्यादि शब्द। 'लवणस्य भावो लावण्यम्' अर्थात् लवण का भाव अथवा लवण से युक्त होने का ही नाम 'लावण्य' है। यही इसका मुख-अर्थ है। लवण से युक्त वस्तु प्रिय हुआ करती है। इसी समानता के आधार पर इस

शब्द का प्रयोग सौन्दर्य के अर्थ में होने लगा। 'लावण्य' आदि शब्द अपने विषय लवणरसयुक्त आदि का त्यागकर अपने अर्थ से भिन्न 'सौन्दर्य' आदि अन्य अर्थों में रूढ़ि अर्थात् प्रसिद्ध हो गये। चूंकि ये अन्य अर्थों में रूढ़ हो जाते हैं अतएव इनमें लक्षणा की तीनों बातें [अपने अर्थ का बाध, उससे सम्बद्ध अन्य अर्थ का मान लेना तथा रूढ़ि और प्रयोजन में से किसी एक का होना] लागू नहीं हुआ करती हैं। जैसा कि कहा भी है कि—'कुछ निगूढा लक्षणायें प्रयोग की सामर्थ्य से अभिधा के सदृश हो गई हैं।' ये लक्षणायें अपने से भिन्न उस लक्ष्यार्थ में प्रयुक्त अवश्य होती हैं किन्तु फिर भी वे ध्वनि का स्थान नहीं ग्रहण करती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि उनमें 'ध्वनि' का व्यवहार नहीं हुआ करता है।

[इसी भाँति 'लोम्नामनुकूलं' अनुलोममर्दनम्, शरीर के रोमों के अनुकूल मालिश (मर्दन) है। पैर में मालिश करते समय यदि मालिश नीचे से ऊपर की ओर की जाय तों उसे अनुलोम मर्दन न कहा जाकर प्रतिलोममर्दन ही कहा जायगा। अतएव 'अनुलोम' का अर्थ हुआ रोमों के अनुकूल मर्दन। इसी भाँति नदी की धारा कूल अर्थात् किनारे को काट दिया करती है। अतएव कूल [किनारे] के प्रतिपक्ष विरोधीरूप होने के कारण 'प्रतिकूल' कहलाती है। इसीभाँति सहाध्यायी एक गुरु के पास अध्ययन करनेवाले दो ब्रह्मचारियों को 'सब्रह्मचारी' कहा जाता होगा, बाद में इसका प्रयोग समान गुण रखने वाले व्यक्ति के लिए होने लगा। यद्यपि ये सभी अर्थ उन शब्दों के वाच्यार्थ नहीं है, फिर भी बहुल प्रयोग के कारण ये शबद उन अर्थों में रूढ़ हो गये हैं। अतएव ये रूढ़ि लक्षणा के उदाहरण होते हैं। इनमें भक्ति अथवा लक्षणा तो होती है किन्तु व्यङ्ग्य का अभाव होने के कारण व्यङ्ग्यप्राधान्यरूप ध्वनि नहीं।]

यहाँ पर यह शङ्का उत्पन्न होती है कि 'लावण्य' आदि पदों के प्रयोग में भी व्यङ्ग्य-अर्थ की प्रतीति हुआ करती है। जैसे—'देवडितिलुणाहि—' इत्यादि में 'लावण्य' शब्द के होने पर भी प्रतीयमान अर्थ की अभिव्यक्ति होती है।

इस शङ्का का उत्तर यह है कि यह ठीक है कि ऐसे स्थलों पर 'लावण्य' आदि पदों के होने पर भी प्रतीयमान अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु यहाँ प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति होने पर भी यह प्रतीति 'लावण्य' पद के द्वारा नहीं होती है अपितु प्रकारान्तर से ही होती है अर्थात् व्यञ्जनाव्यापार द्वारा ही। इससे यह स्पष्ट हो गया कि रूढ़ा लक्षणा में व्यङ्ग्यार्थ नहीं हुआ करता है।

ध्वन्यालोकः

अपि च—

मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्याऽर्थदर्शनम् ।
यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः ।। १७ ।।

तत्र हि चारुत्वातिशयविशिष्टार्थप्रकाशनलक्षणे प्रयोजने कर्त्तव्ये यदि शब्दस्यामुख्यतया तदा तस्य प्रयोगे दुष्टतैव स्यात् । न चैवम् ।। १७ ।।

और भी—

जिस [शैत्यपावनत्वादि] फल को लक्ष्य में रखकर [गङ्गायां घोषः इत्यादि वाक्यों में] मुख्य [अभिधा] वृत्ति को छोड़कर गुणवृत्ति [लक्षणा] द्वारा अर्थ का बोध कराया जाता है, उस फल का बोधन करने में शब्द बाधितार्थ [स्खलद्-गतिः] नहीं है ।। १७ ।।

उस चारुत्वातिशयविशिष्ट अर्थ के प्रकाशनरूप प्रयोजन के सम्पादन में यदि शब्द गौण [बाधितार्थ] हो तब तो उस शब्द का प्रयोग दूषित ही होगा । परन्तु ऐसा नहीं है ।

[लोचनम्]

एवं यत्र यत्र भक्तिस्तत्र तत्र ध्वनिरिति तावन्नास्ति । तेन यदि ध्वनेर्भक्तिलक्षणं तदा भक्तिसन्निधौ सर्वत्र ध्वनिव्यवहारः स्यादित्यतिव्याप्तिः । अभ्युपगम्यापि ब्रूमः—भवतु यत्र यत्र भक्तिस्तत्र तत्र ध्वनिः । तथापि यद्विषयो लक्षणाव्यापारो न तद्विषयो ध्वननव्यापारः । न च भिन्नविषययोर्धर्मधर्मिभावः, धर्म एव च लक्षणमित्युच्यते । तत्र लक्षणा तावदमुख्यार्थविषयो व्यापारः । ध्वननं च प्रयोजनविषयम् । न च तद्विषयोऽपि द्वितीयो लक्षणाव्यापारो युक्तः, लक्षणासामग्र्यभावादित्यभिप्रायेणाह—अपि चेत्यादि । मुख्यां वृत्तिमभिधाव्यापारं परित्यज्य परिसमाप्य गुणवृत्त्या लक्षणारूपयार्थस्यामुख्यस्य दर्शनम् प्रत्यायना, सा यत्फलं कर्मभूतं प्रयोजनरूपमुद्दिश्य क्रियते, तत्र प्रयोजने तावत् द्वितीयो व्यापारः । न चासौ लक्षणैव; यतः स्खलन्तो बाधकव्यापारेण विधुरीक्रियमाणा गतिरवरोधनशक्तिर्यस्य शब्दस्य तदीयो व्यापारो लक्षणा । न च प्रयोजनमवगमयतः शब्दस्य बाधकयोगः । तथाभावे तत्रापि निमित्तान्तरस्य प्रयोजनान्तरस्य चान्वेषणेनानवस्थानात् । तेनायं लक्षणलक्षणाया न विषय इति भावः ।

इस भाँति जहाँ जहाँ भक्ति है वहाँ वहाँ ध्वनि है, ऐसा नहीं। अतएव ध्वनि का यदि भक्ति लक्षण है तब तो भक्ति के समीप सर्वत्र ध्वनि का व्यवहार हो जाएगा। [पर होता नहीं है।] अतः अतिव्याप्ति [अलक्ष्य में लक्षण का चला जाना] होगी। [ऐसा] स्वीकार [मानकर] करके भी कहते हैं—जहाँ जहाँ भक्ति है, वहाँ वहाँ ध्वनि हो, फिर भी लक्षणाव्यापार जिस विषय का है उस विषय का ध्वननव्यापार नहीं है। भिन्न विषय वाले दो पदार्थों का धर्मधर्मीभाव नहीं हुआ करता है। और धर्म ही 'लक्षण' भी कहा जाता है। उसमें लक्षणा तो मुख्यार्थविषयक व्यापार है और ध्वनन प्रयोजनविषयक व्यापार। उसके विषय में लक्षणाव्यापार को प्रयोजनविषयक मानना उचित नहीं है क्योंकि लक्षणा की [मुख्यार्थबाध आदि] सामग्री का अभाव है। इस अभिप्राय से कहते हैं :—और भी। मुख्यवृत्ति अर्थात् अभिधाव्यापार को छोड़कर अर्थात् समाप्त करके लक्षणारूप में स्थित गौणीवृत्ति के द्वारा अमुख्य अर्थ का प्रत्यायन [बोधन अथवा दर्शन] है। वह जिस फल अथवा कर्मभूत प्रयोजन को उद्देश्य करके किया जाता है उस प्रयोजन में तो [कोई] अन्य व्यापार होता है। वह [व्यापार] लक्षणा नहीं है क्योंकि जिस शब्द की गति अर्थात् अवबोधनशक्ति स्खलित होती हुई अर्थात् बाधकव्यापार से कुण्ठित हो रही हो उसका व्यापार लक्षणा है। किन्तु जो शब्द प्रयोज न का बोध करा रहा है उसका बाधक के साथ कोई योग नहीं है। वैसा होने पर [अर्थात् यदि बाधक को स्वीकार किया जाता है तो] वहाँ भी किसी अन्य निमित्त अथवा किसी अन्य प्रयोजन का अन्वेषण करना होगा। ऐसी स्थिति में अनवस्था होगी। उस स्थिति में [जब कि बाधक योग नहीं है] यह लक्षण-लक्षणा का विषय नहीं है, यही तात्पर्य है। [अभिप्राय यह है कि इससे यह लक्षणा का विषय नहीं हो सकता।]।

दर्शनमिति ण्यन्तो निर्देशः। कर्तव्य इति। अवगमयितव्य इत्यर्थः। अमुख्यतेति। बाधकेन विधुरीकृतेत्यर्थः तस्येति शब्दस्य। दुष्टतैवेति। प्रयोजनावगमस्य सुखसम्पत्तये हि स शब्दः प्रयुज्यते तस्मिन्नमुख्यार्थे। यदि 'सिंहो वटुः' इति शौर्यातिशयेऽप्यवगमयितव्ये स्खलद्गतित्वं शब्दस्य तर्हि तत्प्रतीतिं नैव कुर्यादिति किमर्थं तस्य प्रयोगः। उपचारेण करिष्यतीति चेत्तत्रापि प्रयोजनान्तरमन्वेष्यं तत्राप्युपचार इत्यनवस्था। अथ न तत्र स्खलद्गतित्वं, तर्हि प्रयोजनेऽवगमयितव्ये न लक्षणाख्यो व्यापारः तत्सामग्र्यभावात्। न च

नास्ति व्यापारः । न चासावभिधा, समयस्य तत्राभावात् । यद्व्यापारान्तरमभिधालक्षणातिरिक्तं स ध्वननव्यापारः । न चैवमिति । न च प्रयोगे दुष्टता काचित् । प्रयोजनस्याविघ्नेनैव प्रतीतेः तेनाभिधैव मुख्येऽर्थे बाधकेन प्रबिवित्सुनिरुध्यमाना सती अचरितार्थत्वादन्यत्र प्रसरति । अतएव अमुख्योऽस्यायमर्थं इति व्यवहारः । तथैव चामुख्यतया संकेतग्रहणमपि तत्रास्तीत्यभिधापुच्छभूतैव लक्षणा ॥ १७ ॥

'दर्शन' यह ण्यन्त निर्देश है [अर्थात् दिखाना अथवा बोधन करना] कर्त्तव्य अर्थात् अवगमयितव्य । अमुख्यता—अर्थात् बोधक के द्वारा विधुर [कुण्ठित] हो जाना । तस्य का अर्थ है—उस शब्द के । दुष्टता ही—। सुखपूर्वक अथवा सुविधा के साथ प्रयोजन के अवगमन की निष्पत्ति के लिए उस अमुख्य अर्थ में शब्द का प्रयोग किया जाता है । और यदि 'सिंहो बटुः' यहाँ बोधनीय शौर्यातिशय में भी शब्द का स्खलद्गतित्व [बाधक योग] है तब तो [लक्षक शब्द] उस शौर्यातिशय की प्रतीति को उत्पन्न नहीं करेगा, ऐसी दशा में उसका प्रयोग ही किसलिये होगा ? यदि यह कहें कि 'उपचार से' करेगा तब तो यहाँ भी दूसरा प्रयोजन ढूँढना होगा फिर वहाँ भी उपचार होगा, इस भाँति अनवस्था आ जायेगी । यदि वहाँ पर गति का स्खलन न स्वीकार किया जाय तो प्रयोजन का अवगमन कराने में लक्षणा नाम का व्यापार नहीं होगा क्योंकि उसकी सामग्री वहाँ नहीं है । ऐसा नहीं है कि वहाँ कोई व्यापार ही न हो । फिर यह व्यापार अभिधा नहीं है क्योंकि वहाँ समय [सङ्केत] का अभाव है । लक्षणा तथा अभिधा के अतिरिक्त जो व्यापार है, वह है ध्वननव्यापार । किन्तु ऐसा है नहीं । इस प्रकार के प्रयोग में कोई दुष्टता [दोष] भी नहीं है क्योंकि प्रयोजन की प्रतीति बिना किसी विघ्न के ही हो जाती हैं । अतएव अभिधा ही मुख्य अर्थ में बाधक के कारण बोध की इच्छा रखने वालों के द्वारा रोक दी गई होकर अचरितार्थ होने के कारण अन्यत्र [दूसरे अर्थ में] प्रसरित होती है । अतएव 'इसका यह अमुख्य अर्थ है' यह व्यवहार चलता है । उसी भाँति यहाँ संकेतग्रहण भी अमुख्यरूप में है । इस प्रकार लक्षणा अभिधा की पुच्छभूत ही है ॥ १७ ॥

(आशुबोधिनी)

इससे पहले किये गये विवेचन द्वारा यह स्पष्ट हो गया है कि जहाँ जहाँ

लक्षणा हो वहाँ वहाँ सर्वत्र ध्वनि अवश्य हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। फिर भी कुछ समय के लिए हम यह स्वीकार भी कर लें कि 'जहाँ भी कहीं लक्षणा होती है वहाँ ध्वनि अवश्य होती है।' ऐसी स्थिति में हमें यह कहना ही होगा कि लक्षणा वृत्ति [व्यापार] का जो विषय होता है ध्वननव्यापार का वही विषय होता हो, ऐसा नहीं है। दोनों के विषय पृथक्-पृथक् हैं। लक्षणा का विषय है 'अमुख्य अर्थ—जैसे 'गङ्गायां घोषः' में गङ्गा का 'गङ्गा तट' अमुख्य अर्थ है। तथा ध्वनन अथवा ध्वनि-व्यापार [व्यञ्जनाव्यापार] का विषय है 'लक्षणा का प्रयोजन—' जैसे 'गङ्गायां घोषः' में शैत्यपावनत्व इत्यादि।

जो जिसमें नियमितरूप से रहा करता है वही उसका लक्षण होता है अथवा असाधारण धर्म को ही लक्षण कहा जाता है। जैसे 'गन्धवती पृथिवी' में गन्धवत्त्व नियमितरूप से पृथिवी में रहा करता है अथवा गन्धवत्त्व पृथिवी का असाधारण धर्म है। लक्षण धर्म हुआ करता है और लक्ष्य धर्मी। लक्षणा एवं ध्वनि का लक्षणलक्ष्यभाव अथवा धर्मधर्मीभाव तभी बन सकता है जब कि दोनों का विषय एक हो। हम ऊपर दिखला चुके है कि दोनों के विषय भिन्न हैं। अतएव इन दोनों का लक्ष्यलक्षणभाव अथवा धर्मधर्मीभाव बन ही नहीं सकता है।

अब यहाँ पूर्वपक्षी द्वारा यह कहा जाता है कि हम लक्षणा में दो व्यापार मानकर काम चला लेंगे। प्रथम व्यापार द्वारा तट में लक्षणा होगी तथा द्वितीय लक्षणाव्यापार द्वारा प्रयोजन में लक्षणा हो जाएगी। इस स्थिति में पृथक् से व्यञ्जना अथवा ध्वननव्यापार को मानने की कोई आवश्यकता नहीं होगी।

इसके उत्तर में कहना है कि दो लक्षणाव्यापारों का माना जाना संभव नहीं है क्योंकि द्वितीय बार के लक्षणाव्यापार के समय लक्षणासम्बन्धी सामग्री विद्यमान ही नहीं रहेगी। इसी दृष्टि से सत्रहवीं कारिका लिखी गई है। इसका अभिप्राय यह है शब्द का प्रमुख व्यापार अथवा मुख्यवृत्ति अभिधा ही है। लक्षणा का प्रयोग करते समय उस मुख्यवृत्ति का परित्याग कर दिया जाया करता है तथा गौणी वृत्ति [इसका दूसरा नाम है लक्षणा] द्वारा अर्थ का प्रत्यायन कराया जाया करता है। इस लक्षणा द्वारा जिस अर्थ का प्रत्यायन कराया जाता है वह अर्थ भीमुख्य न होकर अमुख्य [गौण] ही हुआ करता है। जिस फल अथवा

प्रयोजन को लेकर उक्त लक्षणा की जाया करती है उस अथवा प्रयोजन के प्रत्यायन लिए किसी अन्य वृत्ति को मानना परमावश्यक है। यही वृत्तिव्यञ्जना है।

'गङ्गायां घोषः' इस वाक्य में सर्वप्रथम अभिधा वृत्ति द्वारा वाच्यार्थ की उपस्थिति हुआ करती है। उसका बाध होने पर लक्षणा द्वारा 'तट' रूप अर्थ की प्रतीति हुआ करती है। यही लक्ष्यार्थ है। इस लक्ष्यार्थ से पहले मुख्यार्थ का उपस्थित होना और उसका बाध होना—इन दोनों बातों का लक्षणा में होना आवश्यक है। अब यदि शैत्यपावनत्व रूप प्रयोजन को लक्ष्यार्थ मानना है तो उससे पहले उपस्थित तटरूप अर्थ को मुख्यार्थ मानना और फिर उसका 'तात्पर्यानुपपत्ति' अथवा 'अन्वयानुपपत्ति' रूप बाध मानना आवश्यक है। इसी दृष्टि से कारिका में 'स्खलद्गति' पद का प्रयोग किया गया है। किन्तु "शैत्यपावनत्वातिशयबोध' के पहले उपस्थित होने वाला तटरूप अर्थ न तो 'गङ्गा' का मुख्यार्थ ही है और न वह बाधित ही है। क्योंकि उसका घोष के साथ आधाराधेयभावसम्बन्ध मानने में कोई बाधा नहीं है। तथापि 'दुर्जनतोषन्याय' से उसको बाधितार्थ स्वीकार भी कर लिया जाय तो भी उसके पश्चात् उपस्थित होने वाले शैत्यपावनत्व के अतिशय को लक्ष्यार्थ कहना होगा। ऐसी स्थिति में गङ्गा के इस अर्थ में रूढ़ न होने से उस लक्षणा का कोई अन्य प्रयोजन स्वीकार करना होगा। उस दूसरे प्रयोजन को भी लक्ष्यार्थ मान लेने पर उसका भी तीसरा प्रयोजन मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में अनवस्था दोष आ जाएगा जिसके कारण मूल रूप में ही प्रयोजन में लक्षणा का निराकरण हो जाता है।

इस विवेचन से यह सिद्ध हो गया कि प्रयोजन लक्षणा का विषय नही है। यह हम पहले ही बतला चुके हैं कि लक्षणा एवं ध्वननव्यापारों में विषय का भेद हो जाने के कारण धर्मधर्मिभाव सम्बन्ध न बन सकने के कारण 'भक्ति' ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकता है। वाचक शब्द द्वारा बोधित मुख्यार्थ का बाध होने पर ही लक्षणा हुआ करती है। अतएव लक्षणा वाचकाश्रित अथवा अभिधा पुच्छभूता है वह ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती है।

कारिका में 'अर्थदर्शनम्' पद आया है। इसमें दर्शन शब्द दृश्+णिच्+ल्युट्' से बना है। इसका अर्थ होता है :—'दिखलाया जाना'। अर्थ का दिखलाया जाना [देखा जाना नहीं]। कारिका का सारांश यह है कि 'मुख्यवृत्ति को छोड़कर

जिस फल के उद्देश्य से गौणीवृत्ति [लक्षणा] द्वारा अर्थ दिखलाया जाता है उसमें शब्द की गति स्खलित नहीं हुआ करती है। 'अमुख्यता' का अर्थ है बाधक द्वारा कुण्ठित कर देना। 'तस्य' का अर्थ है 'उस शब्द के।'

ध्वन्यालोकः

वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता।
व्यञ्जकत्वैकमूलस्य ध्वनेः स्याल्लक्षणं कथम्॥ १८॥

तस्मादन्यो ध्वनिरन्या च गुणवृत्तिः। अव्याप्तिरप्यस्य लक्षणस्य। न हि ध्वनिप्रभेदो विवक्षितान्यपरवाच्यलक्षणः। अन्ये च बहवः प्रकारा भक्त्या व्याप्यन्ते। तस्माद्भक्तिरलक्षणम्।

वाचकत्व [अर्थात् अभिधाव्यापार] के आश्रय से ही गुणवृत्ति अथवा लक्षणा व्यवस्थित है। फिर व्यञ्जकत्व ही [व्यञ्जनाव्यापार] जिसका एकमात्र मूल अथवा आधार है उस ध्वनि का वह [लक्षणा-भक्ति] लक्षण किस भाँति हो सकती है।

इस कारण ध्वनि पृथक् है और गुणवृत्ति [लक्षणा] पृथक्। इस लक्षण की अव्याप्ति [अपने लक्ष्य में संगत न होना] भी है। क्योंकि विवक्षितान्यपरवाच्य-रूप [अभिधामूल] ध्वनि का अभेद तथा अन्य अनेक [ध्वनि] के प्रकार भक्ति [लक्षणा] से व्याप्त नहीं हैं। अतः भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं है।

[लोचनम्]

उपसंहरति—तस्मादिति। यतोऽभिधापुच्छभूतैव लक्षणा ततो हेतोर्वाचकत्वमभिधाव्यापारमाश्रिता तद्बाधनेनोत्थानात्तत्पुच्छभूतत्वाच्च गुणवृत्तिः गौणलाक्षणिकप्रकार इत्यर्थः। सा कथं ध्वनेर्व्यञ्जनात्मनो लक्षणं स्यात्? भिन्नविषयत्वादिति। एतदुपसंहरति—तस्मादिति।

यतोऽतिव्याप्तिरुक्ता तत्प्रसङ्गेन च भिन्नविषयत्वं तस्मादित्यर्थः। एवम् 'अतिव्याप्तेरव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तथा' इति कारिकागतामतिव्याप्ति व्याख्यायाव्याप्तिं व्याचष्टे—अव्याप्तिरप्यस्येति। अस्य गुणवृत्तिरूपस्येत्यर्थः। यत्र यत्र ध्वनिस्तत्र तत्र यदि भक्तिर्भवेन्न स्यादव्याप्तिः। न चैवम्; अविवक्षित-वाच्येऽस्ति भक्तिः 'सुवर्णपुष्पाम्' इत्यादौ। 'शिखरिणि' इत्यादौ तु सा कथम्। ननु लक्षणा तावद्गौणमपि व्याप्नोति। केवलं शब्दस्तमर्थं लक्षयित्वा तेनैव सह

समानाधिकरण्यं भजते 'सिंहो बटुः' इति। अर्थो वाऽर्थान्तरं लक्षयित्वा स्ववाचकेन तद्वाचकं समानाधिकरणं करोति। शब्दार्थौ वा युगपत्तं लक्षयित्वा अन्याभ्यामेव शब्दार्थाभ्यां मिश्रीभवत इत्येवं लाक्षणिकाद्गौणस्य भेदः। यदाह- 'गौणे शब्दप्रयोगः, न लक्षणायाम्' इति तत्रापि लक्षणास्त्येवेति सर्वत्र सैव व्यापिका। सा च पञ्चविधा। तद्यथा—अभिधेयेन संयोगात्; द्विरेफशब्दस्य हि योऽभिधेयो भ्रमरशब्दः द्वौरेफौ यस्येति कृत्वा तेन भ्रमरशब्देन यस्य संयोगः सम्बन्धः षट्पदलक्षणस्यार्थस्य सोऽर्थो द्विरेफशब्देन लक्ष्यते। अभिधेयसम्बन्धं व्याख्यातरूपं निमित्तीकृत्य। 'गङ्गायां घोषः'। समवायादिति सम्बन्धादित्यर्थः, 'यष्टीः प्रवेशय' इति यथा। वैपरीत्यात् यथा शत्रुमुद्दिश्य कश्चित् ब्रवीति— 'किमिवोपकृतं न तेन मम इति। क्रियायोगादिति कार्यकारणभावादित्यर्थः। यथा—अन्नापहारिणि व्यवहारः प्राणानयं हरति इति। एवमनया लक्षणया पञ्चविधया विश्वमेव व्याप्तम्।

उपसंहार करते हैं इस कारण से—। जिस कारण लक्षणा अभिधा की पुच्छभूता है, उस कारण वाचकत्वरूप अभिधाव्यापार पर आश्रित उसके [अभिधा की] पुच्छभूत होने के कारण गुणवृत्ति अर्थात् गौणलाक्षणिक [नामक] प्रकार है। वह [गुणवृत्ति] व्यञ्जनारूप ध्वनि का लक्षण किस भाँति हो सकती है? क्योंकि दोनों का विषय भिन्न है। इसका उपसंहार कहते हैं :—उस कारण—। अर्थात् जिस कारण अतिव्याप्ति कही गई है उसके प्रसङ्ग से [गुणवृत्ति (लक्षणा) और ध्वनि की] भिन्नविषयता आ जाती है, उस कारण अतिव्याप्ति है। इस प्रकार अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के कारण वह ध्वनि उस [भक्ति] से लक्षित नहीं हो सकती है [अर्थात् 'भक्ति' ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती है।]। इस कारिका में आयी हुई अतिव्याप्ति की व्याख्या कर अब अव्याप्ति की [लक्ष्य में लक्षण की अप्राप्ति] की व्याख्या कर रहे हैं—'अव्याप्ति भी इसका'। इसका अर्थात् गुणवृत्तिरूप [लक्ष्य] की। जहाँ-जहाँ ध्वनि होती है वहाँ-वहाँ यदि भक्ति हो तो अव्याप्ति न हो। किन्तु ऐसा है नहीं। 'सुवर्णपुष्पाम्' इत्यादि में अविवक्षित वाच्य में भक्ति है, 'शिखरिणी' इत्यादि में वह कैसे है? यहाँ यह शङ्का है—लक्षणा तो गौण को भी व्याप्त कर लेती है। केवल [सिंह] आदि शब्द उस 'बटु' आदि अर्थ को लक्षित कराके उसी ['बटु' आदि शब्द] के साथ

समानाधिकरण्य को प्राप्त हो जाया करता है 'सिंहो वटुः' इत्यादि में। अथवा [सिंह आदि] अर्थ उस [वटु आदि] दूसरे अर्थ को लक्षित कराके अपने वाचक के साथ उसके वाचक का समानाधिकरण्य कर देता है। अथवा शब्द और अर्थ दोनों एक ही समय में उस 'वटु' आदि अर्थ को लक्षित कराके दूसरे शब्द और अर्थ के साथ मिल जाया करते हैं। इस प्रकार लाक्षणिक से गौण का भेद है। जैसा कि कहते हैं—'गौण में शब्द में प्रयोग होता है। लक्षणा मे नहीं। उस गौण स्थल में भी लक्षणा है ही। इस भाँति सर्वत्र वही प्राप्त रहने वाली है। वह पाँच प्रकार की है। वह जैसे कि—अभिधेय के साथ संयोग से, 'द्विरेफ' शब्द का जो अभिधेय 'भ्रमर' शब्द है ['दो रेफ हैं जिसके' इसके अनुसार]। उस भ्रमर शब्द के साथ जिसका संयोग अर्थात् सम्बन्ध [वाच्यवाचकभावरूप सम्बन्ध] 'षट्पद' रूप अर्थ का है। वह अर्थ व्याख्या किये गये हुए अभिधेय सम्बन्ध को निमित्त करके द्विरेफ' शब्द द्वारा लक्षित किया जाता है। सामीप्य से जैसे 'गङ्गा में घोष है।' समवाय से अर्थात् नित्य सम्बन्ध से जैसे—'लाठियों को प्रवेश कराओ।' विपरीतता से—जैसे शत्रु को लक्ष्य करके कोई कहे—उसने मेरा क्या उपकार किया है? क्रियायोग से—अर्थात् कार्यकारणभाव से—जैसे—'अन्न को चुराने वाले के प्रति यह व्यवहार करते हैं कि 'यह प्राणों का हरण कर रहा है।' इस भाँति इस पाँच प्रकार की लक्षणा से सम्पूर्ण विश्व ही व्याप्त है।

(आशुबोधिनी)

चौदहवीं कारिका के उत्तरार्ध में यह स्पष्ट कहा गया था कि 'अतिव्याप्ति तथा अव्याप्ति के कारण गुणवृत्ति अथवा लक्षणा ध्वनि को लक्षित नहीं कराती है—['अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया']। इनमें से अतिव्याप्ति [अलक्ष्यवृत्तित्वमतिव्याप्तिः] दोष सम्बन्धी व्याख्या की जा चुकी। अब आगे अव्याप्ति [लक्ष्यैकदेशावृत्तित्वमव्याप्तिः] दोषसम्बन्धी प्रतिपादन करते हैं। ये दोष लक्षण के ही दोष हैं। जो लक्षण लक्ष्य के एकदेश में न रहे उसे अव्याप्ति-दोषयुक्त कहा जा सकता है। भक्ति को ध्वनि का लक्षण मानने में अव्याप्ति दोष भी आता है। इसी को दिखला रहे हैं। ध्वनि के दो भेद बतलाये थे—(१) अविवक्षितवाच्यध्वनि और (२) विवक्षितपरवाच्यध्वनि। यदि भक्ति को ध्वनि का लक्षण माना जाय तो ध्वनि के इन दोनों भेदों में भक्ति का होना अपे-

क्षित है। किन्तु विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि' अभिधामूलकध्वनि है। । इसमें ध्वनि तो रहती है किन्तु भक्ति अथवा लक्षणा नहीं रहती है। अतएव लक्षणा अव्याप्ति-दोष से युक्त है। अविवक्षितवाच्यध्वनि लक्षणामूलकध्वनि हैं। इनमें तो लक्षणा होती है। इसके उदाहरण 'सुवर्णपुष्पां पृथ्वीम्' इत्यादि की व्याख्या पहले की जा चुकी हैं। विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के उदाहरण 'शिखरिणि क्व नु नाम' इत्यादि पद्य में तो लक्षणा हो ही नहीं सकती है। अतएव ध्वनि के एक भाग में लक्षणा के न होने से लक्षण में 'अव्याप्ति' दोष आ जाता है। अतएव भक्ति अथवा लक्षणा ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती हैं।

लक्षणा तो गौणी के क्षेत्र को भी व्याप्त कर लिया करती है। इस विषय में दो मत है :—एक मत मीमांसकों का है और दूसरा आलङ्कारिकों का है। मीमांसक गौणी तथा लक्षणा को पृथक्-पृथक् वृत्तियाँ स्वीकार करते हैं। गौणीवृत्ति में गुणों की समानता के आधार पर एक शब्द का प्रयोग बाधित होकर भिन्न अर्थ में हुआ करता है तथा लक्षणा में गुणों से भिन्न किसी अन्य सम्बन्ध के द्वारा बाधित अर्थ में शब्द का प्रयोग किया जाता है। इन दोनों वृत्तियों में भेद यह है कि गौणीवृत्ति में जिसके लिए बाधित शब्द का प्रयोग किया जाया करता है उसका भी प्रयोग साथ में ही किया जाया करता है किन्तु लक्षणावृत्ति में उस शब्द का प्रयोग नहीं किया जाया करता है :—'गौणे शब्दप्रयोगो न लक्षणायाम्' यथा 'सिंहो वटुः' में शूरविरता आदि गुणों की दृष्टि से 'वटु' को 'सिंह' कहा गया है, साथ ही वटु के साथ सिंह शब्द का प्रयोग भी किया गया है। अतएव इसका नाम है 'गौणीवृत्ति'। इसके विरुद्ध 'गङ्गा में घोष' [आभीरों की बस्ती] में समीप्य सम्बन्ध के कारण 'तट' के अर्थ में 'गङ्गा' शब्द का प्रयोग किया गया है 'तट' का प्रयोग नहीं। अतएव यह लक्षणावृत्ति है। परन्तु आलङ्कारिक इस भेद को स्वीकार नहीं करते हैं। वे कहते हैं कि बाधित-अर्थ में शब्द का प्रयोग लक्षणा वृत्ति का बीज है तथा वह गौणीवृत्ति में भी विद्यमान है। ऐसी स्थिति में इन दोनों वृत्तियों में भेद मानने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि अलङ्कारिकों द्वारा प्रकारान्तर से लक्षणा के सारोपा और साध्यवसाना—ये दो भेद भी स्वीकार किये हैं। सारोपा रूपक अलङ्कार का बीज है। इसमें लक्षक शब्द के साथ ही वाचक शब्द का भी प्रयोग होता है। जैसे—'सिंहो वटुः'। साध्यवसाना रूपकातिशयोक्ति

अलङ्कार का बीज है। इसमें शब्द का प्रयोग नहीं हुआ करता है। यथा—बालक के लिए मात्र सिंह शब्द का प्रयोग। यह गौणी की दृष्टि से हुआ। लक्षणा के अन्य भेदों में भी दोनों दशायें हुआ करती हैं। कार्यकारणभाव सम्बन्ध की दृष्टि से—जैसे—'आयुर्घृतम्' में दोनों ही शब्द प्रयुक्त हैं। यदि घृत का सेवन करने वाले व्यक्ति के लिये यह कह दिया जाय कि यह आयु खा रहा है तो उस स्थिति में यह 'साध्यवसाना' हो जाएगी। ऐसी स्थिति में दोनों ही स्थलों पर दोनों प्रकार की दशायें हो सकती हैं। परिणामस्वरूप आलङ्कारिकों के मत को ही ठीक जा सकता है। गौणीवृत्ति में भी लक्षणा अवश्य होती है। अतः बाधित शब्द के प्रयोग में लक्षणा सभी स्थलों पर व्यापक ही होगी।

सादृश्य सम्बन्ध के अलावा भी वह लक्षणा पाँच प्रकार की होती है :—(१) अभिधेय अर्थात् वाच्यार्थ के साथ संयोग [अर्थात् वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध] सम्बन्ध होने की दशा में—जैसे—'द्विरेफ शब्द'। बहुव्रीहि समास की दृष्टि से अर्थ होता है :—'दो हैं रेफ जिसके'। इसके द्वारा इसका अभिधेय अर्थ सिद्ध होता है—'भ्रमर शब्द'। जैसे—कोई कहे कि 'द्विरेफ उड़ रहा है!' इसका वाच्यार्थ हुआ—'भ्रमर शब्द उड़ रहा है।' किन्तु शब्द का उड़ सकना संभव ही नहीं है। ऐसी दशा में तात्पर्यानुपपत्ति से अभिधेय अर्थ का ज्ञान हो जाया करता है। अर्थात् 'द्विरेफ' शब्द से 'षट्पदरूप लक्ष्यार्थ वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध द्वारा ग्रहण कर लिया जाता है। (२) समीप्य सम्बन्ध द्वारा—जैसे—'गङ्गायां घोषः'। (३) समवाय अर्थात् नित्य सम्बन्ध होने के द्वारा—जैसे 'यष्टीः प्रवेशय' 'अर्थात्' लाठियों को प्रवेश कराओ'। लाठियों का प्रवेश किया जाना संभव ही नहीं है। अतएव इस अर्थ का बाध होकर 'लाठीधारी पुरुषों को प्रवेश कराओ' यह अर्थ ले लिया जाता है। लाठी तथा लाठीधारी दोनों का समवायसम्बन्ध है क्योंकि जबतक लाठीधारीयों के पास लाठी नहीं होगी तब तक उन्हें लाठीधारी कहा जाना संभव नहीं है। (४) वैपरीत्य सम्बन्ध से—जैसे—शत्रु के बारे में कोई कहे कि 'इसने हमारा क्या अपकार नहीं किया?' यहाँ विपरीतसम्बन्ध के कारण 'उपकार' में लक्षणा हो जाती है। (५) क्रियायोग से—अर्थात् कार्य-कारणभाव सम्बन्ध द्वारा। जैसे—अन्न को चुराने वाले के बारे में कोई कहे-'यह हमारे प्राण हर रहा है।' प्राण का कारण अन्न है। अतएव कार्यकारणभाव

सम्बन्ध की दृष्टि से प्राण के अर्थ में अन्न का प्रयोग कर दिया गया है। इस भाँति पाँच भेदों से युक्त लक्षणा से तो समस्त विश्व ही व्याप्त है।

[लोचनम्]

तथाहि—'शिखरिणि' इत्यत्राकस्मिकप्रश्नविशेषादिबाधकानुप्रवेशे सादृश्याल्लक्षणाऽस्त्येव। नन्वत्राङ्गीकृतैव मध्ये लक्षणा, कथं तर्हि उक्त विवक्षितान्यपरेति? तद्भेदोऽत्र मुख्योऽसंलक्ष्यक्रमात्मा विवक्षितः। तद्भेदशब्देन रसभावतदाभासतत्प्रशमभेदास्तदवान्तरभेदाश्च, न च तेषु लक्षणायाः उपपत्तिः। तथाहि—विभावानुभावप्रतिपादके काव्ये मुख्येऽर्थे तावद्बाधकानुप्रवेशोऽप्यसंभाव्य इति को लक्षणावकाशः?

ननु किं बाधया, इयदेव लक्षणास्वरूपम्—'अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते' इति। इह चाभिधेयानां विभावानुभावादीनामविनाभूता रसादय इति लक्ष्यन्ते। विभावानुभावयोः कार्यकारणरूपत्वात्, व्यभिचारिणां च तत्सहकारित्वादिति चेत्—नैवम्, धूमशब्दाद् धूमे प्रतिपन्ने ह्यग्निस्मृतिरपि लक्षणाकृतैव स्यात्, ततोऽग्नेः शीतापनोदस्मृतिरित्यादिरपर्यवसितः शब्दार्थः स्यात्। धूमशब्दस्य स्वार्थविश्रान्तत्वान्न तावति व्यापार इति चेत्, आयातं तर्हि मुख्यार्थबाधो लक्षणाया जीवितमिति। सति तस्मिन् विश्रान्त्यभावात्। न च विभावादिप्रतिपादने बाधकं किञ्चिदस्ति।

जैसा कि—'शिखरिणि'—इस स्थल में आकस्मिक प्रश्नविशेष आदि बाधक योग करने पर [भी] सादृश्य से लक्षणा है ही। यहाँ शङ्का उत्पन्न होती है कि यदि यहाँ, मध्य में लक्षणा मान भी ली जाय तो यह बतलाइये कि कैसे फिर 'विवक्षितान्यपर' ऐसा कहा है [क्योंकि लक्षणा के होने पर वाच्य का विवक्षित होना संभव नहीं है।] उस विवक्षितान्यपरवाच्य का मुख्य भेद असंलक्ष्यक्रमरूप विवक्षित है। 'तद्भेद' शब्द से रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रशम आदि उसके अवान्तर भेद भी हैं, उनमें लक्षणा की उपपत्ति नहीं हुआ करती है। इस भाँति विभाव, अनुभाव का प्रतिपादन करनेवाले काव्य में मुख्य अर्थ में बाधक का योग होना भी सम्भावनीय नहीं। फिर ऐसी स्थिति में लक्षणा का अवसर ही क्या हो सकता है?

[शङ्का] बाधा की क्या आवश्यता? लक्षणा का केवल इतना ही स्वरूप माना जाए—'अभिधेय के साथ अविनाभूत [अर्थात् किसी भी सम्बन्ध से सम्बद्ध

की] प्रतीति अथवा प्रतीति का हेतु 'लक्षणा' है । यहाँ पर रस इत्यादि विभाव-अनुभाव आदि अभिधेयों के अविनाभूत हैं अतः लक्षित होते हैं क्योंकि रस आदि के विभाव, अनुभाव क्रमशः कारण तथा कार्य हैं । और व्यभिचारीभाव उस रस आदि के सहकारी हैं ।

[उपर्युक्त शङ्का का समाधान करते हैं :—] ऐसा नहीं, क्योंकि इस प्रकार की स्थिति में 'धूम' शब्द द्वारा धूम के ज्ञात हो जाने पर अग्नि स्मृति भी लक्षणा द्वारा सम्पादित होने लगेगी । फिर अग्नि के द्वारा शीतापनोदन की स्मृति होने लगेगी । इस भाँति 'धूम' शब्द का अर्थ विश्रान्त [पर्यवसित] नहीं होगा । यदि यह कहे कि 'धूम' शब्द के अपने अर्थ [धूमत्व अथवा धूमविशिष्ट अर्थ] में विश्रान्त हो जाने के कारण अग्नि आदि के अर्थ व्यापार नहीं है तब तो मुख्यार्थ-बाध तो लक्षणा का जीवन है, यह बात आ गई, क्योंकि उस मुख्यार्थबाध के रहने पर ही अपने अर्थ में विश्रान्ति का होना संभव नहीं है । विभाव आदि के प्रतिपादन में कोई बाधक है ही नहीं ।

(आशुबोधिनी)

इससे पूर्व 'विवक्षितान्यपरवाच्य' का उदाहरण दिया जा चुका है—'न जाने तोते के इस शिशु ने कितने दिनों किस पर्वत पर कौन सा तप किया है कि जिसके परिणामस्वरूप इसे तुम्हारे अधर-दशन का सौभाग्य प्राप्त हुआ ।' इस उदाहरण में भी बाध की उपस्थिति होती है—क्योंकि नायक द्वारा अचानक ही यह प्रश्न क्यों कर दिया गया ? यह समझ में नहीं आ रहा है । अतएव अकस्मात् ही विशिष्ट प्रकार के प्रश्न उपस्थित हो जाने से बाधक का अनुप्रवेश हो गया है तथा अधर के चुम्बन में बिम्बफल और नायक की समानता होने से लक्षणा हो ही जाती है । इस बारे में उक्त उदाहरण की व्याख्या में यह लिखा भी जा चुका है ।

अब पूर्वपक्षी कहता है:—ऐसी स्थिति आ जाने पर आप एक अन्य भेद' विवक्षितान्यपरवाच्य को क्यों स्वीकार करते हैं ? उसे लक्षणामूलक अविवक्षित-वाच्य में ही सन्निविष्ट क्यों नहीं कर देते हैं ?

इसके उत्तर में यह कहना है कि विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के दो प्रमुख भेद आगे किए जायेंगे—(१) असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और (२) संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य । इनदोनों में रस इत्यादि तथा उसके भेदों [रस, भाव, रसाभास, भावाभास तथा

भावप्रशम] की ध्वनि को असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि कहते है। तथा वस्तु और अलंकार की ध्वनि को संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि कहते हैं। इसके पन्द्रह भेद होते हैं असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि ही विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि का प्रमुख भेद है इसमें लक्षणा की उपपत्ति नहीं हुआ करती है। अतएव यहाँ लक्षणा का अवसर न होने से 'विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि' में भक्ति [लक्षणा] की अव्याप्ति को ही प्रदर्शित किया गया है।

अब पूर्वपक्षी कहता है कि लक्षणा के मुख्यार्थबाध के समावेश की कोई आवश्यकता ही नहीं है। लक्षणा की इतनी ही परिभाषा मानना चहिए कि—'अभिधेय के साथ अविनाभूत [किसी रूप में सम्बद्ध होने] का ही नाम लक्षणा है। असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि में विभाव-अनुभाव आदि के साथ अविनाभूत रसों की प्रतीति हुआ करती है। अतएव इनको भी लक्षणा में ही सन्निविष्ट किया जा सकता है।

उत्तर में यही कहना है कि लक्षणा की परिभाषा तो पहले से ही बनी हुई चली आ रही है। आपकी इच्छानुसार परिभाषा बनाई नहीं जा सकती है क्योंकि उसमें अनेक दोष आ रहे हैं। वास्तविकता तो यह है कि मुख्यार्थबाध ही तो लक्षणा का जीवन है क्योंकि पर्यवसाना का अभाव हुआ करता है। विभाव आदि के द्वारा रस का प्रतिपादन किये जाने में कोई बाधक होता ही नहीं है। अतएव यहाँ लक्षणा किसी भी दशा में नहीं मानी जा सकती है।

[लोचनम्]

नन्वेवं धूमावगमनानन्तराग्निस्मरणवद्विभावादिप्रतिपत्त्यनन्तरं रत्यादिचित्तवृत्तिप्रतिपत्तिरिति शब्दव्यापार एवात्र नास्ति। इदं तावदयं प्रतीतिस्वरूपज्ञो मीमांसकः प्रष्टव्यः—किमत्र परचित्तवृत्तिमात्रे प्रतिपत्तिरेव रसप्रतिपत्तिरभिमता भवतः? न चैवं भ्रमितव्यम्; एवं हि लोकगतचित्तवृत्त्यनुमानमात्रमिति का रसता? यस्त्वलौकिकचमत्कारात्मा रसास्वादः काव्यगतविभावादीचर्वणा प्राणो नासौ स्मरणानुमानादिसाम्येन खिलीकारपात्रीकर्त्तव्यः। किं तु लौकिकेन कार्यकारणानुमानादिना संस्कृतहृदयो विभावादिकं प्रतिपद्यमान एव न ताटस्थ्येन प्रतिपद्यते, अपि तु हृदयसंवादापरपर्यायसहृदयत्वपरवशीकृततया पूर्णीभविष्यद्रसास्वादाङ्कुरीभावेनानुमानस्मरणादिसरणिमनारुह्यैव तन्मयीभव-

नौचितचर्वणाप्राणतया। न चासौ चर्वणा प्रमाणान्तरतो जाता पूर्वं, येनेदानीं स्मृतिः स्यात्। न चाधुना कुतश्चित्प्रमाणान्तरादुत्पन्ना, अलौकिके प्रत्यक्षाद्यव्यापारात्। अतएवालौकिक एव विभावादिव्यवहारः। यदाह—विभावो विज्ञानार्थः लोके कारणमेवाभिधीयते न विभावः। अनुभावोऽप्यलौकिक एव। 'यदयमनुभावयति वागङ्गसत्त्वकृतोऽभिनयस्तस्मादनुभाव' इति। तच्चित्तवृत्तितन्मयीभवनमेव ह्यनुभवनम्। लोके तु कार्यमेवोच्यते नानुभावः। अत एव परकीया न चित्तवृत्तिर्गम्यत इत्यभिप्रायेण 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इति सूत्रे स्थायिग्रहणं न कृतम्। तत्प्रत्युत शल्यभूतं स्यात्। स्थायिनस्तु रसीभाव औचित्यादुच्यते, तद्विभावानुभावोचितचित्तवृत्तिसंस्कारसुन्दरचर्वणोदयात्। हृदयसंवादोपयोगिलोकचित्तवृत्तिपरिज्ञानावस्थायामुद्यानपुलकादिभिः स्थायिभूतरत्याद्यवगमाच्च। व्यभिचारी तु चित्तवृत्त्यात्मत्वेऽपि मुख्यचित्तवृत्तिपरवश एव चर्व्यत इति विभावानुभावमध्ये गणितः। अतएव रस्यमानताया एषैव निष्पत्तिः, यत्प्रबन्धप्रवृत्तबन्धुसमागमादिकारणोदितहर्षादिलौकिकचित्तवृत्तिन्यग्भावेन चर्वणारूपत्वम्। अतश्चर्वणात्राभिव्यञ्जनमेव, न तु ज्ञापनम्, प्रमाणव्यापारवत्। नाप्युत्पादनम्, हेतुव्यापारवत्।

[शङ्का—] जिस भाँति धूम के ज्ञान के अनन्तर अग्नि का स्मरण होता है उसी भाँति विभाव आदि की प्रतीति के अनन्तर रत्यादि चित्तवृत्ति की प्रतीति भी हुआ करती है, इस भाँति यहाँ शब्द का व्यापार ही नहीं होता है। [समाधान] प्रतीति के स्वरूप को उपर्युक्त रूप में जाननेवाले मीमांसक से यह पूछना चाहिए—क्या यहाँ आपको दूसरे की चित्तवृत्तिमात्र के बारे में जो प्रतीति हुआ करती है वही रस की प्रतीति के रूप में आपको स्वीकृत है ? किन्तु इस भाँति आपको भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। ऐसा होने पर लोकगत चित्तवृत्ति का तो यह अनुमान ही होगा, रसता नहीं। जो कि अलौकिक चमत्काररूप रस का आस्वादन है, जिसका प्राण विभाव आदि की चर्वणा है, उसे स्मरण से उत्पन्न अनुमान के सदृश व्यर्थता का पात्र नहीं किया जाना चाहिए। किन्तु लौकिक कार्य और कारण के अनुमान आदि के द्वारा सुसंस्कृत हृदय वाला व्यक्ति, विभाव आदि को [काव्य अथवा नाट्य के द्वारा] अवगत करता हुआ तटस्थ के रूप में [अर्थात् ये दूसरे के हैं, मेरे नहीं इस भाव के साथ] उसे प्राप्त नहीं किया करता

हैं, अपितु जिसका पर्याय हृदय-संवाद है उस सहृदयत्व के द्वारा परवश हो जाने के कारण आगे चलकर पूर्ण होनेवाले रसास्वाद के अङ्कुरित हो जाने के कारण अनुमान और स्मरण आदि की सरणि पर आरूढ़ हुए बिना ही, तन्मय होने के योग्य चर्वणा को प्राण के रूप में स्वीकार कर [विभावादि को अवगत करता हैं।] वह चर्वणा पहले किसी अन्य प्रमाण से उत्पन्न नही हो चुकी होती है, जिसके कारण इस समय उसको 'स्मृति' कहा गया होता और न इस समय ही किसी अन्य प्रमाण से उत्पन्न हो रही है, क्योंकि आलौकिक वस्तु में प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का व्यवहार नही हुआ करता है [क्योंकि रस प्रतीति के आलौकिक होने के कारण विभावादि का व्यवहार भी अलौकिक ही है।] जैसाकि कहा [भी] है—विभाव विशेष ज्ञान की वस्तु है, उसे लोक में 'कारण' ही कहा जाता है, विभाव नहीं। अनुभाव भी अलौकिक ही होता है, जो कि यह वाणी, अङ्ग और सत्त्व से किये हुए अनुभव को अनुभव-गोचर बनाता है, इसी कारण यह अनुभाव है। उन चित्तवृत्तियों से तन्मय हो जाना ही अनुभवन है। उसे लोक में कार्य ही कहते हैं, अनुभाव नहीं। अतएव परकीया चित्तवृत्ति को [सामाजिक जन] अनुभव नहीं कहते हैं। इसी अभिप्राय से "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" [अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति हुआ करती है।] इस सूत्र में स्थायी का ग्रहण नहीं किया गया। प्रत्युत उसका ग्रहण शल्यभूत [विरुद्ध] हो जाता। स्थायीभाव का रसीभाव [रस के रूप में परिणत हो जाना] औचित्य के कारण कहा जाता है। क्योंकि वह [औचित्य] विभाव, अनुभाव और उचित चित्तवृत्ति के संस्कार से सुन्दर चर्वणा के उदय से हुआ करता है। तथा हृदय-संवाद की उपयोगिनी लोक-चित्तवृत्ति के परिज्ञान की दशा में उद्यान और पुलक आदि के द्वारा स्थायीरूप में विद्यमान रति आदि के अवगम से [औचित्य] हुआ करता है। चित्तवृत्ति रूप होने पर भी व्यभिचारी मुख्य चित्तवृत्ति के आधीन होकर ही चर्वणागोचर हुआ करता है। अतः उसकी गणना विभाव-अनुभाव के मध्य ही की गई है। अतएव रस्यमानता [आस्वादनगोचरता] की यही निष्पत्ति है कि जो समय से आये हुए बन्धुसमागम आदि कारण से उत्पन्न हर्ष आदि लौकिक चित्तवृत्ति को नीचा करके चर्वणा की रूपता को धारण कर लिया करता है। अतः यहाँ चर्वणा का अर्थ अभिव्यंजन ही है, न कि ज्ञापन। [इन्द्रिय आदि] प्रमाणों के व्यापार

की भाँति चर्वणा उत्पादनरूप व्यापार भी नहीं है। [दण्ड, चक्र आदि] हेतु के व्यापार के सदृश भी उत्पादन नहीं हुआ करता है।

(आशुबोधिनी)

कुछ मीमांसक इस रसबोध में शब्दव्यापार की आवश्यकता को स्वीकार नहीं करते हैं। उनका कथन है कि जिस भाँति धुएँ का प्रत्यक्ष कर लेने के उपरान्त अग्नि का स्मरण अथवा अनुमान कर लिया जाता है उसी भाँति विभाव आदि के ज्ञान के पश्चात् रति इत्यादि चित्तवृत्ति का अनुमान अथवा स्मरण भी कर लिया जाया करता है। अतएव जिस भाँति हम अनुमान अथवा स्मरण को शब्द का व्यापार नहीं मानते हैं उसी भाँति रस की अनुभूति में भी कोई व्यापार नहीं हुआ करता है। जब रस की प्रतिपत्ति में कोई व्यापार होता हो नहीं है तो फिर उसके निमित्त व्यञ्जना जैसी वृत्ति अथवा व्यापार की कल्पना किया जाना व्यर्थ ही है। फिर ऐसी स्थिति में भक्ति अथवा लक्षणा की अव्याप्ति दिखलाना तथा उसके आधार पर भक्ति को ध्वनि का लक्षण स्वीकार न करना व्यर्थ ही है।

इसका समाधान यह है कि—तब क्या मीमांसक दूसरे की चित्तवृत्ति के परिज्ञानमात्र को रस मानते हैं? यदि ऐसा है तो यह उनकी दुश्चेष्टामात्र है क्योंकि दूसरे की चित्तवृत्ति तो अनुमान अथवा स्मरण से हुआ करती है और यह पहले से ही सिद्ध है अतएव उनका यह कथन सिद्ध का ही सिद्ध करता है। यह कोई नई बात नहीं। किन्तु रस की अनुभूति तो शब्दव्यापार का विषय है तथा रस अलौकिक भी है। ऐसी स्थिति में रस को अनुमान प्रमाण से सिद्ध करने के लिए दृष्टान्त उपलब्ध ही न होगा। हाँ, दूसरों की चित्तवृत्ति को अनुमान अथवा स्मृति का विषय अवश्य बनाया जा सकता है। किन्तु यह सब लौकिक है। हम तो स्वानुभवगोचर चर्वणात्मा अलौकिक जो आनन्दानुभव है उसको 'रस' कहते हैं। किन्तु यदि मीमांसक दूसरों की चित्तवृत्ति के परिज्ञानमात्र को ही रस मानते हैं तो यह उनका भ्रम ही है। हमारी दृष्टि में तो यह 'रस' है ही नहीं। हम तो सहृदय व्यक्ति के हृदय में अनुभूत होने वाली अलौकिक आनन्द की अनुभूति को 'रस' कहते हैं।

यह कहना सत्य है कि स्थायीभाव ही विभाव आदि से पुष्ट होकर रसरूपता को धारण किया करता है। अन्य व्यक्तियों [नायक आदिको] में जो रति आदि

स्थायीभाव रहा करता है उससे सम्बन्धित विभाव, अनुभाव के अनुकूल जो चित्त की वृत्ति बना करती है, उसके संस्कारों से जब सहृदयों की चित्त की वृत्तियाँ मेल खा जाया करती हैं तब रस के आस्वादन का उदय हुआ करता है। इस भाँति स्थायी चित्तवृत्तियाँ हो रसरूपता को धारण किया करती हैं। चित्तवृत्तियाँ सदैव प्रमुख चित्तवृत्ति 'रति आदि स्थायीभावों के अधीन रहा करती हैं तथा उसे पुष्ट भी किया करती हैं। इस भाँति विभावादि के द्वारा पुष्टता को प्राप्त हुआ स्थायीभाव ही रस कहलाता है। अतएव रस अनुमान का विषय न होने के कारण अनुमेय है ही नहीं। उसको अनुमान द्वारा सिद्ध करने के लिये जो भी हेतु दिए गए हैं अथवा दिए जा सकते हैं वे सभी हेत्वाभासमात्र ही हैं।

अतएव विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के प्रधान भेद रसध्वनि तथा उसके प्रभेद रसाभास, भावाभास आदि ध्वनियों में मुख्यार्थबाध के बिना ही रसादि की प्रतीति हो जाती है, उसमें भक्ति अथवा लक्षणा के प्रवेश का अवसर ही नहीं है। इस भाँति अव्याप्ति नामक दोष के कारण भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती है।

जिस भाँति इन्द्रियों के द्वारा किसी भी पदार्थ के स्वरूप का ज्ञापन हो जाया करता है, उस प्रकार का ज्ञापन 'रस' का कभी नहीं हो सकता है। जैसे दण्ड, चक्र आदि के द्वारा घट इत्यादि का उत्पादन हुआ करता है, उस प्रकार का उत्पादन भी रस का नहीं हो सकता है। 'रस' की तो मात्र अभिव्यक्ति ही हुआ करती है।

[लोचनम्]

ननु यदि नेयं ज्ञप्तिर्न वा निष्पत्तिः तर्हि किमेतत् ? नन्वयमसावलौकिको रसः। ननु विभावादिरत्र किं ज्ञापको हेतुः उत कारकः, न ज्ञापको न कारकः, अपितु चर्वणोपयोगी। ननु क्वैतत् दृष्टमन्यत्र ? यत एव न दृष्टं तत एवालौकिकमित्युक्तम्। नन्वेवं रसोऽप्रमाणं स्यात्। अस्तु किं ततः ? तच्चर्वणात एव प्रीतिव्युत्पत्तिसिद्धेः किमन्यदर्थनीयम् ? नन्वप्रमाणकमेतत्; न, स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। ज्ञानविशेषस्यैव चर्वणात्मत्वादित्यलं बहुना। अतश्च रसोऽयमलौकिकः। येन ललितपदानुप्रासस्यार्थाभिधानानुपयोगिनोऽपि रसं प्रति व्यञ्जकत्वम्, का तत्र लक्षणायाः शङ्कापि ? काव्यात्मकशब्दनिष्पीडनेनैव तच्चर्वणा दृश्यते। दृश्यते हि तदेव काव्यं पुनः पुनः पठंश्चर्व्यमाणश्च सहृदयो लोकः, न तु काव्यस्य तत्र 'उपा-

वायापि ये हेयाः' इति न्यायेन कृतप्रतीतिकस्यानुयोग एवेति शब्दस्यापोह ध्वननव्यापारः । अतएवालक्ष्यक्रमता । यत्तु वाक्यभेदः स्यादिति केनचिदुक्तम्, तदनभिज्ञतया । शास्त्रं हि सकृदुच्चरितं समयबलेनार्थं प्रतिपादयद्युगपद्विरुद्धानेकसमयस्मृत्ययोगात्कथमर्थद्वयं प्रत्यापयेत् अविरुद्धे वा तावानेको वाक्यार्थः स्यात् । क्रमेणापि विरम्यव्यापारायोगः । पुनरुच्चारितेऽपि वाक्ये स एव समयप्रकरणादेस्तादवस्थ्यात् । प्रकरणसमयप्राप्यार्थतिरस्कारेणार्थान्तरप्रत्यायकत्वे नियमाभाव इति तेन 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' इति श्रुतौ 'खादेच्छ्वमांसमित्येष नार्थ इत्यत्र का प्रमे'ति प्रसज्यते । तत्रापि न काचिदियज्ञेत्यनाश्वासता इत्येवं वाक्यभेदो दूषणम । इह तु विभावाद्येव प्रतिपाद्यमानं चर्वणाविषयतोऽन्मुखमिति समयाद्युपयोगाभावः । न च नियुक्तोऽहमत्र करवाणि कृतार्थोऽहमिति शास्त्रीयप्रतीतिसदृशमदः तत्रोत्तरकर्तव्यौन्मुख्येन लौकिकत्वात् । इह तु विभावादिचर्वणाद्भुतपुष्पवत्तत्कालसारैवोदिता न तु पूर्वापरकालानुबन्धिनीति लौकिकादास्वादाद्योगिविषयाच्चान्य एवायं रसास्वादः । अत एव 'शिखरिणि' इत्यादावपि मुख्यार्थबाधादिक्रममनपेक्ष्यैव सहृदया वक्त्रभिप्रायं चाटुप्रीत्यात्मकं संवेदयन्ते । अतएव ग्रन्थकारः सामान्येन विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ भक्तेरभावमभ्यधात् । अस्माभिस्तु दुर्दुरूढं प्रत्याययितुमुक्तम्—भवत्वत्र लक्षणा । अलक्ष्यक्रमे तु कुपितोऽपि किं करिष्यसीति । यदि तु न कुप्यते 'सुवर्णपुष्पाम्' इत्यादावविवक्षितवाच्येऽपि मुख्यार्थबाधादिलक्षणासामग्रीमनपेक्ष्यैव व्यङ्ग्यार्थविश्रान्तिरित्यलं बहुना । उपसंहरति—तस्माद्भक्तिरिति ॥ १८ ॥

शङ्का—यदि यह [रसचर्वणा] न तो ज्ञप्ति है तथा न निष्पत्ति है, तो फिर है क्या ? [समाधान--] रस का न तो ज्ञापन ही होता है और न उत्पादन ही, इसीलिए तो रस अलौकिक है । ऐसी स्थिति में यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि विभाव आदि यहाँ ज्ञापक हेतु हैं अथवा कारक हेतु ? [इसका उत्तर–] वह न तो ज्ञापक हेतु ही है और न कारक ही, अपितु वह चर्वणा का उपयोगी होता है । [अब यह प्रश्न उठता है–] आपने यह कहाँ देखा है ? [उत्तर—] जिस कारण से नहीं देखा, उसी कारण वह अलौकिक है, ऐसा कहा गया । तब तो ऐसा 'रस' अप्रामाणिक ही होगा । [उत्तर--] हो, उससे क्या ? जब उसकी चर्वणा से ही प्रीति और व्युत्पत्ति सिद्ध हो जाती है तो और क्या चाहिये ?

[शङ्का—] [आपके इस—] कथन का कोई प्रमाण नहीं। [समाधान—] ऐसा नहीं है, यह बात तो अपने संवेदन से सिद्ध है क्योंकि चर्वणा ज्ञानविशेषरूप ही है। अब अधिक कहना व्यर्थ है। अतएव यह रस अलौकिक है। जिस कारण अर्थ के अभिधान के उपयोगी न होने वाले ललित एवं परुष अनुप्रास का भी रस के प्रति व्यञ्जकत्व है फिर लक्षणा की शङ्का भी किस भाँति संभव है? काव्यात्मक शब्द के निष्पीडन से ही रस की चर्वणा देखी जाया करती है, क्योंकि सहृदय [व्यक्ति] को बार-बार काव्य पढ़ते हुए तथा चर्वणा करते हुए देखा जाता है, न कि काव्यरूप शब्द का चर्वण करते हुए देखा जाया करता है। इस भाँति वहाँ उपादान करके भी जो त्याज्य हैं', इसन्याय के अनुसार जिसकी प्रतीति की जा चुकी है उसका उपयोग ही नहीं। अतएव शब्द का भी ध्वननव्यापार है। इसी कारण उसकी अलक्ष्यक्रमता है। जो कि वाक्यभेद होगा [तात्पर्य यह है कि एक ही काव्य वाक्य के वाच्य और व्यङ्ग्य दोनों अर्थों के बोधक होने के कारण वाक्यभेद होगा।] ऐसा किसी ने कहा है, वह अनभिज्ञता के कारण ही, क्योंकि शास्त्र एक बार उच्चरित होकर ही समय [संकेत] के बल से अर्थ का प्रतिपादन करता हुआ एक ही काल में विरुद्ध अनेक संकेतों की स्मृति के न होने से किस भाँति दो अर्थों का प्रत्यायन कर सकेगा। अविरुद्ध होने पर उतना एक ही वाक्यार्थ होगा। क्रम से भी एक व्यापार के विरत हो जाने पर व्यापार होना असंभव है। यदि वाक्य का उच्चारण पुन: कीजियेगा तब भी वही समय [संकेत] तथा प्रकरण आदि पूर्ववत् ही बने रहेंगे। प्रकरण तथा संकेत से प्राप्त होने वाले अर्थ को तिरस्कृत करके दूसरे अर्थ के प्रत्यायक [बोधक] होने में कोई नियम नहीं है। इस कारण "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम:" इस वेद के वाक्य में "श्वमांस का भक्षण करे" यह अर्थ नहीं है, यहाँ पर कौन प्रमा है, यह बात प्रसक्त होगी। वहाँ द्वितीय अर्थ में भी कोई इयत्ता नहीं है। इस भाँति [अनिश्चितार्थक होने से वाक्य में बोधकता नहीं—इस भाँति] वाक्यभेद [नामक] दोष ठहरता है। यहाँ [काव्य में] विभाव आदि ही प्रतिपाद्यमान होकर चर्वणा का विषय होने के लिये उन्मुख हैं। ऐसी दशा में संकेत आदि की कोई उपयोगिता नहीं है। "मैं इसमें नियुक्त हूँ", "मैं कर रहा हूँ", 'मैं कर चुका' इस भाँति की शास्त्रीय प्रतीति के सदृश काव्य से उत्पन्न प्रतीति नहीं है क्योंकि

शास्त्रीय प्रतीति के उत्तरकाल में जो करणीय है, उसके प्रति उन्मुखता होने के कारण लौकिकता है। किन्तु यहाँ [काव्य में] जादू से बने हुए फूल की भाँति विभाव आदि की चर्वणा उसी समय ही पूर्णरूप से उदित हो जाया करती है, न कि पूर्वापरकाल की अनुबन्धिनी है, इस भाँति यह रस का आस्वादन लौकिक आस्वादन से तथा योगी के विषय की अपेक्षा अन्य ही है। इसी कारण शिखरिणि० इत्यादि पद्य में भी मुख्यार्थ के बाध आदि की अपेक्षा न करके ही सहृदयजन चाटुप्रीतिरूप वक्ता के अभिप्राय को समझते हैं। इसी से ग्रन्थकार द्वारा सामान्य-रूप से 'विवक्षतान्यपरवाच्य' ध्वनि में भक्ति [लक्षणा] का अभाव बतलाया गया है। हमने तो विरोधियों की नास्तिकता की वाणी के ग्रह से ग्रसित व्यक्ति को समझाने की दृष्टि से कह दिया—'हो यहाँ लक्षणा', किन्तु अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि में तो कुपित होकर भी क्या कर लोगे? यदि क्रोधित नहीं होते हो तो 'सुवर्णपुष्पां०' इत्यादि अविवक्षितवाच्यध्वनि के मुख्यार्थबाध आदि लक्षणा सम्बन्धी सामग्री की अपेक्षा किये बिना ही व्यङ्ग्यार्थ की विश्रांति हो जाती है। अधिक कहना व्यर्थ है। उपसंहार करते हैं—इसलिये भक्ति··· इत्यादि।

(आशुबोधिनी)

[शङ्का—] यदि रस का ज्ञापन अथवा उत्पादन कुछ भी नहीं होता है तो फिर होता क्या है? [उत्तर—] दोनों में से कुछ भी नहीं होता है, यही रस की अलौकिकता है। [प्रश्न—] तो आप यह बतलाइये कि आप विभाव आदि को ज्ञापक हेतु स्वीकार करते हैं अथवा कारक हेतु? [उत्तर—] दोनों में से कुछ भी नहीं, अपितु इसमें चर्वणोपयोगी नूतन प्रकार का ही हेतु होता है। इस प्रकार की बात अन्यत्र कहीं भी नहीं देखी गई है। इसी कारण तो रस को अलौकिक कहा गया है। [प्रश्न—] फिर ऐसी स्थिति में रस को अप्रामाणिक ही कहा जायगा। [उत्तर—] उससे क्या? अप्रामाणिक होने पर भी उसकी रसनीयता सम्बन्धी कार्यकारिता तो विद्यमान रहेगी ही। उसकी चर्वणा के आधार पर हृदय के अभ्यन्तर आस्वादन का जो आविर्भाव हुआ करता है उसी से प्रीति तथा व्युत्पत्ति [आनन्द की अनुभूति के साथ व्युत्पत्ति] स्वयं ही सिद्ध हो जाया करती है। इससे बढ़कर और प्रमाण की क्या आवश्यकता है? [अब यहाँ पुनः प्रश्न होता है—] फिर भी इसमें कोई आवश्यक प्रमाण तो प्राप्त हो नहीं सका।

[उत्तर—] रस का स्वप्रकाशस्वरूप तथा स्वसंवेदनसिद्ध होना ही सबसे बड़ा प्रमाण है। [इस पर पुन: प्रश्न होता है कि] रसनिष्पत्ति के निमित्त जब एक विशिष्ट प्रकार की चर्वणा अभीष्ट हुआ करती है तब उसे स्वसंवेदनसिद्ध किस भाँति कहा जा सकता है ? चर्वणा एक प्रकार का ज्ञानविशेष ही है। अतएव रस के स्वसंवेदनसिद्ध होने में किसी भाँति की कोई कमी नहीं आती है। अब इससे अधिक और कुछ कहने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है। इस विवेचन के द्वारा रस का अलौकिक होना स्पष्ट हो जाता है।

जिनमें अर्थ के कथन तक की आवश्यकता नहीं हुआ करती है ऐसे ललित और परुष अनुप्रास भी रस के अभिव्यंजक हुआ करते हैं फिर ऐसी स्थिति में लक्षणा व्यापार द्वारा रस की अभिव्यक्ति के किये जाने की सम्भावना भी नहीं रह जाती है। वस्तुत: काव्य सम्बन्धी शब्दों के निष्पीडन के द्वारा ही रसचर्वणा हुआ करती है। प्राय: ऐसा देखा जाता है कि सहृदय-जन काव्य का बार-बार अध्ययन कर उसके आस्वादन को प्राप्त किया करते हैं। काव्य के शब्दों अथवा वाच्यार्थों में आस्वादन नहीं हुआ करता है, अपितु अभिव्यज्यमान रस की चर्वणा में ही आस्वाद हुआ करता है।

कुछ लोगों का कहना है कि काव्य को 'वाच्य' और 'व्यङ्ग्य' दो प्रकार के अर्थों का बोधक माना गया है। यदि व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता स्वीकार की जायेगी तो उस स्थिति में वाक्यभेद स्वीकार करना होगा। [इसका उत्तर—] वाक्यार्थ कभी दो हो ही नहीं सकते क्योंकि एक काल में दो वाक्यार्थों का ज्ञान होना संभव ही नहीं है। एक अर्थ के पश्चात् दूसरा अर्थ निकल सकना संभव नहीं है क्योंकि शब्दों की क्रिया रुक-रुककर नहीं हुआ करती है। यदि वाक्य दो बार भी बोला जाय तो प्रकरण, सामग्री इत्यादि तो पूर्ववत् ही बनी रहेगी। अत: अर्थ भी एक ही होगा। इस प्रकार का कोई नियम नहीं है कि प्रकरण तथा संकेत के आधार पर प्राप्त होनेवाले अर्थ का तिरस्कार कर एक नया अन्य अर्थ ले लिया जाय। यदि ऐसा मान लिया जायेगा तो 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम:' इस वेद वाक्य का अर्थ 'कुत्ते के मांस को खाना चाहिये' यह अर्थ भी निकलने लगेगा तथा कोई व्यवस्था ही न रह जायेगी। क्योंकि 'यह अर्थ नहीं है' ऐसा कहने में प्रमाण ही क्या होगा ? साथ ही जो जिस वाक्य का जो अर्थ निकालना चाहेगा, निकालेगा। ऐसी स्थिति में अर्थों की कोई सीमित संख्या भी न रह जायगी तथा

जो वास्तविक अर्थ है उस पर लोगों का विश्वास भी न रह जायगा। इस भाँति 'वाक्यभेद' नामक दोष आ जायगा। अतएव वाक्य के दो प्रकार के अर्थों का निकल सकना संभव ही नहीं है।

वास्तविकता यह है कि काव्य में अभिधा के द्वारा विभाव आदि का प्रतिपादन हुआ करता है और फिर ये विभाव आदि रसचर्वणा की ओर उन्मुख हो जाया करते हैं। अतएव उनमें संकेत, प्रकरण आदि सामग्री की अपेक्षा नहीं हुआ करती है। काव्य में तो विभाव आदि की चर्वणा जादू [इन्द्रजाल] में दिखलाये गये हुए फूल के सदृश वाक्यार्थ ज्ञान के समकाल में ही हुआ करती है। इसमें पूर्वापर का कोई नियम नहीं हुआ करता है। यह सर्वथा अलौकिक स्थिति हुआ करती है। इसी कारण लौकिक आस्वाद तथा योगीविषयक रसास्वाद एक पृथक् वस्तु है। और काव्यगत रसास्वाद पृथक् वस्तु है। अतएव विवक्षितान्यपरवाच्य के 'शिखरिणि···' इत्यादि उदाहरण में वाच्यार्थ के बाध इत्यादि क्रम की अपेक्षा किये बिना ही सहृदयजन चाटुकारिता तथा प्रसन्नतारूप वाक्यार्थ को समझ लिया करते हैं। अतएव विवक्षतान्यपरवाच्य ही क्या, अविवक्षितवाच्यध्वनि, जो लक्षणामूल है, मे भी मुख्यार्थबाध आदि लक्षणासम्बन्धी सामग्री की अपेक्षा न करके ही व्यङ्ग्य अर्थ में विश्रान्ति हो जाया करती है।

अतएव यह कहा जाना कि "भक्ति [लक्षणा] किसी भी प्रकार ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती है" नितान्त उचित ही है॥ १८॥

ध्वन्यालोकः

कस्यचिद् ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम्।

सा पुनर्भक्तिवक्ष्यमाणप्रभेदमध्यादन्यतमस्य भेदस्य यदि नामोपलक्षणतया सम्भाव्येत। यदि च गुणवृत्त्यैव ध्वनिर्लक्ष्यत इत्युच्यते तदभिधाव्यापारेण तदितरोऽलङ्कारवर्गः समग्र एव लक्ष्यत इति प्रत्येकमलङ्काराणां लक्षणकरणवैयर्थ्यप्रसङ्गः।

वह भक्ति [लक्षणा] ध्वनि के किसी विशेष भेद का उपलक्षण हो सकती है।

वह भक्ति आगे चलकर कहे जाने वाले [ध्वनि के] भेदोपभेदों में से किसी एक विशेष भेद के उपलक्षण रूप से सम्भावित हो सके, और यदि गुणवृत्ति से ही ध्वनि लक्षित होता है, यह कहते हैं तो अभिधाव्यापार से ही सम्पूर्ण अलङ्कारवर्ग

भी लक्षित हो सकता है, ऐसी स्थिति में पृथक्-पृथक् अलङ्कारों का लक्षण किया जाना व्यर्थ हो जायगा।

[लोचनम्]

ननु मा भूद् ध्वनिरिति भक्तिरिति चैकं रूपम्। सा च भूद्भक्तिध्वनेर्लक्षणम् उपलक्षणं तु भविष्यति; यत्र ध्वनिर्भवति तत्र भक्तिरप्यस्तीति भवत्युपलक्षितो ध्वनिः। न तावदेतत्सर्वत्रास्ति, इयता च किं परस्य सिद्धम्? किं वा न त्रुटितम्? इति तदाह—कस्यचिदित्यादि। ननु भक्तिस्तावच्चिरन्तनैरुक्ता, तदुपलक्षणमुखेन च ध्वनिमपि समग्रभेदं लक्षयिष्यन्ति ज्ञास्यन्ति च। किं तल्लक्षणेनेत्याशङ्क्याह--यदि चेति। अभिधानाभिधेयभावो ह्यलङ्काराणां व्यापकः; ततश्चाभिधावृत्ते वैयाकरणमीमांसकैर्निरूपिते कुत्रेदानीमलङ्कारकाराणां व्यापारः। तथा हेतुबलात्कार्यं जायत इति तार्किकैरुक्ते किमिदानीमीश्वरप्रभृतीनां कर्तॄणां ज्ञातॄणां वा कृत्यमपूर्वं स्यादिति सर्वो निरारम्भः स्यात्। तदाह -लक्षणकरणवैयर्थ्यप्रसङ्गः इति।

[शङ्का—] ध्वनि और भक्ति ये दोनों एकरूप न हों और भक्ति ध्वनि का लक्षण भी न हो किन्तु उपलक्षण तो हो ही जावेगी। जहाँ ध्वनि है वहाँ भक्ति भी है। इस भाँति ध्वनि भक्ति से उपलक्षित होती है। [इस शङ्का का समाधान करते हुए कहते हैं---] यह उपलक्षण सर्वत्र नहीं है, इतने से [अर्थात् भक्ति के उपलक्षणमात्र हो जाने से] भक्तिवादी का क्या बन गया और हमारा क्या बिगड़ गया? इसी का उत्तर देते हैं—कस्यचित् इत्यादि।

पुनः शङ्का करते हुए कहते हैं—भक्ति तो प्राचीनों के द्वारा कही गई है। उसके उपलक्षण के द्वारा सम्पूर्ण भेदों सहित ध्वनि को भी लक्षित कर लेंगे और जान जायेंगे। अतः उस ध्वनि का लक्षण बनाने की क्या आवश्यकता? ऐसी शङ्का करके कहते हैं—और यदि···। अलङ्कारों अभिधान और अभिधेयभाव व्यापक है, ऐसी स्थिति में वैयाकरण और मीमांसकों के द्वारा अभिधाव्यापार के निरूपित अलङ्कारशास्त्रकारों का व्यापार क्या महत्व रखता है? उसी भाँति हेतु के बल से कार्य होता है' ऐसा तार्किकों के द्वारा कह दिये जाने पर ईश्वर आदि कर्ताओं और ज्ञाताओं का कार्य क्यों अपूर्व होगा? इस भाँति सभी कुछ आरम्भ हो जायेगा। उसे कहते हैं—लक्षण करना व्यर्थ होगा।

(आशुबोधिनी)

भक्ति [लक्षणा] पक्ष को उठाने में तीन प्रकार के विकल्पों की कल्पना की गई थी--(१) भक्ति ध्वनि का स्वरूप हो सकती है, (२) भक्ति ध्वनि का लक्षण बन सकती है, तथा (३)भक्ति ध्वनि का उपलक्षण हो सकती है। इससे पूर्व के विवरण में प्रथम व द्वितीय विकल्पों का निराकरण किया जाचुका है। अब तृतीय पक्ष के निराकरण को करना है। प्रायः ऐसा देखा जाया करता है कि लक्षणकार सम्पूर्ण वर्ग अथवा समूह में से किसी एक का परिचय दे दिया करते हैं उसी को आधार मानकर अवशिष्ट वर्ग अथवा समूह को भी समझ लिया जाया करता है। इसी का नाम 'उपलक्षण' है। उपलक्षणसम्बन्धी विचारकों का कहना है कि ध्वनि के अनेक भेदों में से कोई न कोई एक भेद तो ऐसा अवश्य होगा कि जिसमें लक्षणा की विद्यमानता हो। तब उसी को उपलक्षण मानकर शेष भेदों का उसी में समाक्षर कर लिया जायगा।

प्राचीन आचार्यों द्वारा भक्ति [लक्षणा] का पूर्णरूप से निरूपण किया ही जा चुका है। उसी को उपलक्षण मानकर अनेक भेदोपभेदों से युक्त ध्वनि को लक्षित कर लिया जायगा तथा उसे भली भाँति जान भी लिया जायगा। फिर ऐसी स्थिति में ध्वनि उसके भेदों तथा प्रभेदों का पृथक् से लक्षण आदि करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसी आक्षेप का उत्तर देते हुये कहते हैं—

ध्वन्यालोकः

किञ्च—

लक्षणेऽन्यैः कृते चास्य पक्षसंसिद्धिरेव नः ॥ १९ ॥

कृतेऽपि वा पूर्वमेवान्यैर्ध्वनिलक्षणे पक्षसंसिद्धिरेव नः यस्माद्ध्वनिरस्तीति नः पक्षः। स च प्रागेव संसिद्ध इत्ययत्नसंपन्नसमीहितार्थाः संवृत्ताः स्म। येऽपि सहृदयसंवेद्यमनाख्येयमेव ध्वनेरात्मानमाम्नासिषुस्तेऽपि न परीक्ष्य वादिनः। यत उक्तया नीत्या वक्ष्यमाणया च ध्वनेः सामान्यविशेषलक्षणे प्रतिपादितेऽपि यद्यनाख्येयत्वं तत्सर्वेषामेव वस्तूनां तत्प्रसक्तम्। यदि पुनर्ध्वनेरतिशयोक्त्यानया काव्यान्तरातिशायि तैः स्वरूपमाख्यायते तत्तेऽपि युक्ताभिधायिन एव ॥

और भी—

यदि अन्य आचार्यों ने इस ध्वनि का लक्षण कर दिया है तो इससे तो हमारे पक्ष की ही सिद्धि होती है ॥ १९ ॥

यदि पहले ही अन्य आचार्यों द्वारा ध्वनि का लक्षण कर दिया गया है तो इससे [भी] हमारे पक्ष की सिद्धि है। क्योंकि 'ध्वनि है' यह हमारा पक्ष है तथा वह पहले से ही सिद्ध हो चुका, इस भांति हमारा अभीष्ट कार्य तो बिना किसी प्रयत्न के ही संपन्न हो गया। जिनके द्वारा यह कहा गया है कि ध्वनि सहृदय जनों के हृदय द्वारा संवेद्य है तथा उसके स्वरूप को अनिर्वचनीय कहा है वे भी परीक्षा करके कहने वाले नहीं है क्योंकि जो नीति हम कह चुके हैं अथवा जो आगे चलकर कही जायगी उससे ध्वनि के सामान्य तथा विशेषलक्षण के प्रतिपादित हो जाने पर भी यदि उसका अनिर्वचनीयत्व है तब तो वह [अनिर्वचनीयत्व] सम्पूर्ण वस्तुओं के बारे में प्राप्त है। यदि वे लोग पुनः इस अतिशयोक्ति के द्वारा ध्वनि का कोई अन्य काव्यों से बढ़कर स्वरूप कहते हैं तो वे भी ठीक ही कहते हैं।

इति श्रीराजानकानन्दवर्धनाचार्यविरचिते ध्वन्यालोके

प्रथम उद्योतः ॥

•

[लोचनम्]

मा भूद्वाऽपूर्वोन्मीलनं पूर्वोन्मीलितमेवास्माभिः सम्यङ्निरूपितम्, तथापि को दोष इत्यभिप्रायेणाह—किं चेत्यादि। प्रागेवेति अस्मत्प्रयत्नादितिशेषः। एवं त्रिप्रकारमभाववादं, भक्त्यन्तरभूततां च निराकुर्वता अलक्षणीयत्वमेतन्मध्येनिराकृतमेव। अतएव मूलकारिका साक्षात्तन्निराकरणार्था न श्रूयते। वृत्तिकृत्तु निराकृतमपि प्रमेयशय्यापूरणाय कण्ठेन तत्पक्षमनूद्य निराकरोति—येऽपीत्यादिना। उक्तया नीत्या 'यत्रार्थः शब्दो वा' इति सामान्यलक्षणं प्रतिपादितम्। वक्ष्यमाणया तु नीत्या विशेषलक्षणं भविष्यति 'अर्थान्तरे सङ्क्रमितम्' इत्यादिना। तत्र प्रथमोद्योते ध्वनेः सामान्यलक्षणमेव कारिकाकारेण कृतम्। द्वितीयोद्योते कारिकाकारोऽवान्तरविभागं विशेषलक्षणं च विदधदनुवाद्यमुखेन मूलविभागं द्विविधं सूचितवान्। तदाशयानुसारेण तु वृत्तिकृदत्रैवो-

द्योते मूलविभागमवोचत् —'स च द्विविधः' इति । सर्वेषामिति । लौकिकानां शास्त्रीयाणां चेत्यर्थः । अतिशयोक्त्येति । यथा 'तान्यक्षराणि हृदये किमपि स्फुरन्ति, इतिवदतिशयोक्त्यानाख्येयतोक्ता सारूपतां प्रतिपादयितुमिति दर्शितमिति शिवम् ।। १९ ।।

किं लोचनं विनालोको भाति चन्द्रिकयापि हि ।
तेनाभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात् ।।
यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात् ।
स्वात्मायतनविश्रान्तां तां वन्दे प्रतिभां शिवाम् ।।

इति महामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तोन्मीलिते सहृदयालोकलोचने
ध्वनिसङ्केतो नाम प्रथम उद्योतः ।।



अथवा अपूर्व वस्तु का उन्मीलन न हो, जो पहले से ही उन्मीलित है उसको ही हमने ठीकरूप में निरूपित कर दिया है, तब भी क्या दोष है ? इस अभिप्राय से कहते हैं—और भी—। इत्यादि । पहले—भी । अर्थात् हमारे प्रयत्न से [अर्थात् हमारे प्रयत्न से पहले] इस भाँति तीन प्रकार के अभाववाद को और ध्वनि के भक्ति में अन्तर्भूत हो जाने का निराकरण करते हुए उस [ध्वनि] के अलक्षणीयत्व का भी इसमें निराकरण कर ही दिया । अतएव मूलकारिका साक्षात्‌रूप से अलक्षणीयत्व के निराकरण से सम्बन्धित नहीं सुनाई देती है । किन्तु वृत्तिकार स्वतः निराकृत उस पक्ष को प्रमेय के सन्निवेश विशेष की पूर्ति के निमित्त कण्ठ से अनुवाद कर निराकरण करते हैं—जिन लोगों ने—इत्यादि द्वारा । उक्त नीति के अनुसार "यत्रार्थः शब्दो वा" इस सामान्य लक्षण का प्रतिपादन कर दिया । आगे चलकर कहीं जाने वाली नीति के अनुसार 'अर्थान्तरे संक्रमितम्' इत्यादि के द्वारा विशेषलक्षण हो जायेगा । प्रथम उद्योत में ध्वन्यालोककार [कारिकाकार] ने ध्वनि का सामान्य लक्षण ही किया है । द्वितीय उद्योत में कारिकाकार अवान्तर विभाग तथा विशेष लक्षण को करते हुये अनुवाद द्वारा मूल का दो प्रकार का विभाग सूचित किया है । उनके आशय के अनुसार वृत्तिकार ने इसी उद्योत में मूल-विभाग को कहा है—"स च द्विविधः" [वह दो

प्रकार का है। यहाँ सभी का—अर्थात् लौकिकों का और शास्त्रीयों का। अतिशयोक्ति द्वारा। जैसे—'तान्यक्षराणि हृदये किमपि स्फुरन्ति' [वे अक्षर हृदय में कुछ स्फुरित हो रहे हैं।] इसके समान अतिशयोक्ति के द्वारा सार-रूपता के प्रतिपादन के लिए अनाख्येयता [अनिर्वचनीयता] कही गई है, यह दिखलाया गया। 'शिवम्' [यह सबकल्याणकारक हो]।

क्या लोचन के बिना लोक [संसार] चन्द्रिका से भी उद्भासित अथवा शोभित हुआ करता है [व्यङ्ग्यार्थ यह है कि—क्या 'लोचन' नामक व्याख्या के बिना आलोक—ध्वन्यालोक—'चन्द्रिका' व्याख्या से स्फुरित होता है ?] इसी कारण आचार्य अभिनवगुप्त ने यहाँ 'लोचन' का उन्मीलन किया है।

जिसकी उन्मीलन-शक्ति के द्वारा हो क्षणभर में समस्त विश्व उन्मीलित हो जाया करता है। उस अपने आत्मारूपी आयतन में स्थित उस शिवा [कल्याण-कारिणी] प्रतिभा की मैं वन्दना करता हूँ।

महामाहेश्वराचार्यवर्य अभिनवगुप्त द्वारा उन्मीलित सहृदयालोकलोचन में 'ध्वनिसङ्केत' नामक प्रथम उद्योत समाप्त हुआ।

(आशुबोधिनी)

सभी प्रकार के अलङ्कारों में अभिधेयभाव व्यापकरूप से विद्यमान रहा करता है। अभिधा नामक वृत्ति का वैयाकरणों तथा मीमांसकों के द्वारा पूर्ण निरूपण किया जा चुका है। उसके द्वारा सम्पूर्ण अलङ्कार स्वयं ही लक्षित हो जावेंगे। अतः पृथक् पृथक् अलङ्कारों के लक्षण करना [अर्थात् भामह आदि आलङ्कारिकों का प्रयास तथा सम्पूर्ण साहित्यशास्त्र ही व्यर्थ हो जाएगा। इसी भाँति तार्किकों द्वारा यह कह दिये जाने पर कि कारण के द्वारा कार्य की उत्पत्ति हुआ करती है, फिर ईश्वर इत्यादि का निरूपण करना इत्यादि सब व्यर्थ ही हो जाएगा।

कहने का अभिप्राय यह है कि किसी सामान्य बात का कथन कर दिये जाने के पश्चात् उसके विशेषरूप से प्रतिपादन किये जाने की आवश्यकता हुआ ही करती है। अतएव लक्षणा को उपलक्षण रूप में स्वीकार कर लेने पर भी ध्वनि का पूर्ण विस्तार तथा उसका निरूपण व्यर्थ नहीं होगा।

अथवा यह भी कहा जा सकता है कि ध्वनि का निरूपण किया जाना कोई

नवीन बात नहीं है। पुराने आचार्यों द्वारा जिस [ध्वनि] का उन्मीलन किया जा चुका है, उसीका एक उत्तम रूप में निरूपण हमारे द्वारा भी कर दिया गया है। ऐसा स्वीकार कर लेने में कोई दोष तो है नहीं। इसी दृष्टि से उन्नीसवीं कारिका का उत्तरार्द्ध लिखा गया है।

अब यदि प्रतिपक्षी यह कहते हैं कि ध्वनि का निरूपण तो हमारे द्वारा लिखने से पहले ही किया जा चुका है अर्थात् ध्वनिकार से पहले ही अन्य आचार्यों के द्वारा लक्षणा का प्रतिपादन किया जा चुका था। लक्षणा की उपलक्षणपरक व्याख्या किये जाने से ध्वनि का लक्षण तो स्वतः ही हो जाता है। अतएव ध्वनिकार द्वारा ध्वनि का प्रतिपादन किया जाना कोई नवीन वस्तु नहीं है।

प्रतिपक्षियों द्वारा इस प्रकार का कथन किये जाने से ध्वनिकार का कुछ भी नहीं बिगड़ता है।

ध्वनि सम्बन्धी प्रस्तावना में प्रतिपक्षियों के पाँचों मतों का उल्लेख किया जा चुका है। अभाववाद सम्बन्धी तीन विकल्प, भक्ति में ध्वनि के अन्तर्भाव सम्बन्धी पक्ष तथा अलक्षणीयतावादी पक्ष। इनमें से इस प्रथम उद्योत में अभाववादी तथा भक्तिवादी दोनों ही पक्षों का अतिविस्तारपूर्वक खण्डन किया जा चुका है। खण्डन के इसी प्रसङ्ग में 'यत्रार्थः शब्दो वा' [कारिका सं० १३] द्वारा ध्वनि का सामान्य लक्षण करके अलक्षणीयतावाद का भी निराकरण तो स्वयं ही हो गया है। अतएव इसी बात को ध्यान में रखते हुए ध्वनिकार द्वारा अलक्षणीयतावाद के खण्डन के लिए पृथक् से किसी कारिका की रचना नहीं की गई होगी; किन्तु वृत्तिकार द्वारा इस विषय को पूर्ण करने की दृष्टि से 'येऽपि' से लेकर 'युक्ताभिधायिनः' तक के विवरण में अलक्षणीयतावाद का खण्डन कर ही दिया गया है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में ध्वनि का सामान्यलक्षण भी दिखला दिया गया और विशेष लक्षण भी। तब ऐसी स्थिति में अलक्षणीयतावाद का खण्डन तो स्वयं ही हो जाता है। ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में अनिर्वचनीय पक्ष की विशिष्ट प्रकार की मीमांसा विस्तार के साथ की गई है [पाठक उसे वहीं देख लेने का कष्ट करें।]।

अन्त में लोचनकार लिखते हैं :—

क्या लोचन के न होने पर चन्द्रिका द्वारा भी आलोक की शोभा का होना संभव है? अर्थात् नहीं। इसी कारण आचार्य अभिनवगुप्त ने लोचनोन्मीलन किया है।

अभिप्राय यह है कि यदि चन्द्रचन्द्रिका छिटकी हुई हो और चारों ओर प्रकाश फैल रहा हो तो जिस व्यक्ति के नेत्र नहीं है वह चन्द्रिका के प्रकाश का आनन्द प्राप्त कर सकेगा क्या ? अर्थात् नहीं प्राप्त कर सकेगा।

इसी भाँति 'लोचन' नामक व्याख्या से पूर्व 'चन्द्रिका' नाम की ध्वन्यालोक की एक व्याख्या लिखी जा चुकी थी किन्तु वह व्याख्या इतनी अपूर्ण तथा अस्पष्ट थी कि पाठक उसके द्वारा ग्रन्थ को भलीभाँति नहीं समझ सकता था। अतएव आचार्य अभिनवगुप्त ने लोचन नामक व्याख्या का प्रणयन कर पाठकों के नेत्रों को खोलने का पूर्ण प्रयास किया है।

इत्युत्तरप्रदेशस्थ 'मैनपुरी' मण्डलान्तर्गत 'महावतपुर [भोगाँव]
ग्रामनिवासिनः श्रीमतो दयानन्दमहोदयस्य श्रीमत्याः
सुखदेव्याश्च तनुजनुषा
वृन्दावनस्थगुरुकुलविश्वविद्यालयाधीतविद्येन
पी-एच० डी० इत्युपाधिधारिणा
आचार्य सुरेन्द्रदेवशास्त्रिणा
विरचितायां 'आशुबोधिनी' इत्याख्यायां हिन्दीव्याख्यायां
प्रथम उद्योतः समाप्तः ॥

प्रथम परिशिष्ट

ध्वन्यालोक [प्रथम उद्योत] की कारिकार्द्धसूची

द्वितीय परिशिष्ट

ध्वन्यालोक की उदाहरणादि सूची

